श्य

संरक्षण तथा प्रसार।

विवेचन।

अनुसंधान।

और कला का पर्यालोचन।

पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित है।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृत शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पाडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६९
संवत् २०२१
अंक ३

वार्षिक मू० १०·००
इस अंक का ५·००

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

विषयसूची

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६९] कार्तिक, संवत् २०२१ [अंक ३

अर्जुन का विषादयोग—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डा० कन्हैयालाल सहल

रवि बाबू ने अपने व्यक्तित्व (पर्सनालिटी) नामक व्याख्यानसंग्रह में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी सबसे बड़ी आशा ही यह है कि संसार में दुःख का अस्तित्व है। बच्चे को माता में पूर्ण विश्वास रहता है, इसीलिये तो वह चिल्लाता है। यदि ऐसा न हो तो उसकी वाणी मूक हो जायगी। इसी प्रकार मनुष्य की अपूर्णता का अर्थ ही यह है कि पूर्णता में उसकी श्रद्धा है। इस दुःख से प्रेरित होकर ही तो मनुष्य उपासना द्वारा अपने ही हृद्देश में प्रच्छन्न असीम परमात्मा के द्वार खटखटाता है जिससे उसकी गहन अंतर्वृत्ति का उद्‌घाटन होता है और बिना तर्क वितर्क के वह आदर्श की सचाई में विश्वास करने लगता है।

बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्यों[1] में से दुःख को प्रथम आर्य सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन के चतुर्व्यूहात्मक मोक्षशास्त्र[2] में भी हेय अर्थात् दुःख पहला व्यूह माना गया है।

१ : चार आर्य सत्य : (१) दुःख, (२) दुःखहेतु, (३) दुःखनिरोध, (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति [मार्ग]।

२ : सांख्य के चतुर्व्यूह : (१) त्रिविध दुःख, (२) हान, दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति, (३) हेय हेतु, अविद्या, (४) हानोपाय, तत्वज्ञान।

एक दृष्टि से देखा जाय तो दुःख विभु का वरदान है क्योंकि दुःख में चित्त की कठोरता दूर होती है, अहं विगलित होता है, हृदय में करुणा जाग्रत होती है, पाप से डर पैदा होता है और मनुष्य ईश्वरोन्मुख होने लगता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के शब्दों में भली भाँति तपाए जाने पर लोहा भी मृदुता धारण कर लेता है, प्राणधारियों का तो कहना ही क्या है !'

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।

रहस्यवादी निर्गुण संतों तथा कवियों ने भी दुःख की महिमा का गान किया है। कबीर कहते हैं कि जब मैं सुख की खोज कर रहा था, तभी दुःख से मेरा साक्षात्कार हो गया। मैंने सुख से विदा लेते हुए कहा कि हे सुख ! अब तुम अपने घर जाओ = अब तो हम जानें और हमारा दुःख :

कबीर सुख कौं जाइ था, आगैं आया दुक्ख।
जाहि सुक्ख घरि आपणैं, हम जाणौं अरु दुक्ख॥

कबीर की दृष्टि में सुखिया संसार तो खाने और सोने में मस्त रहता है, कबीरदास जैसा 'दुखिया' ही जाग्रत रहता है और दुःख सहता है।[३] सुख में परमात्मा के दर्शन नहीं होते, दुखी व्यक्ति अपने आँसुओं द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[४]

जायसी भी दिव्य लोक की प्राप्ति में दुःख की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं :

एहि रे पंथ सो पहुँचै, सहै जो दुक्ख वियोग।

किंतु मीरा की निम्नलिखित उक्ति को हम परमार्थता अथवा गंभीरता के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते :

जो मैं ऐसा जानती, प्रीत करै दुःख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करे ना कोय॥

कोई भी सच्चा प्रेमी दुःख के भय से प्रेम करना नहीं छोड़ता। कबीर के शब्दों में वह भली भाँति जानता है कि प्रेम का घर खाला का घर नहीं होता, इसमें तो वही प्रवेश कर सकता है जो अपना सिर काटकर पृथ्वी पर रख देता

३ : सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

४ : हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हाँसें ही हरि मिलै, तो नहीं दुहागनि कोइ॥

है।[1] इस संबंध में तो टेनिसन की वह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है जहाँ कहा गया है :

इट इज बेटर टु हैव लव्ड ऐंड लॉस्ट
दैन नेवर टु हैव लव्ड ऐट ऑल

वस्तुतः, जैसा जायसी कहते हैं, दुःख में जो प्रेम का माधुर्य है, उसी के कारण प्रेमी को सुख और विश्राम की प्राप्ति होती है :

दुख भीतर जो प्रेम मधु जामा।
सुख पाइअ मन होइ बिसरामा॥

हिंदी के छायावादी कवि भी दुःख के गौरव का गान करने में किसी से पीछे नहीं रहे हैं। श्री सुमित्रानंदन पंत दुःख के बिना सुख को निःसार समझते हैं; बिना आँसू के जीवन, उनकी दृष्टि में भार है। दुनिया में दीनता और दुर्बलता के कारण ही क्षमा, दया और प्यार दिखलाई पड़ते हैं :

बिना दुःख के सुख है निःसार
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार
इसी से क्षमा, दया औ प्यार।†

जो व्यक्ति सदा सुखी रहता है, वह दूसरों के दुःखों की ओर ध्यान नहीं देता। 'आँसू' के कवि के शब्दों में :

बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ
अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएँ?

खाली न सुनहली संध्या मानिक मदिरा से जिनकी
वे कब सुननेवाले हैं, दुख की घड़ियाँ भी दिन की।

श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य तो प्रायः वेदना और दुःख से ही मुखरित है। कवयित्री की दृष्टि में दुःख जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक

१ : कबीर यहि घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुँइ धरै, सो पैसे एहि माहिं॥

† दुःख इस मानव आत्मा का रे, नित का मधुमय भोजन
दुःख के तम को खा खाकर, भरती प्रकाश से वह मन। —पंत।

सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है। उनके 'करुणामय' को तम के परदों में आना अच्छा लगता है, इसलिये वे नभ की तारावली को क्षण भर बुझ जाने के लिये कहती हैं :

करुणामय को भाता है, तम के परदों में आना।
हे नभ की दीपावलियो ! तुम क्षण भर को बुझ जाना।

प्रसिद्ध है कि कुंती से जब वर माँगने के लिये कहा गया तो उसने भगवान् से दुःख का ही वर माँगा था क्योंकि, कबीर के शब्दों में, दुःख के समय ही मनुष्य भगवान् को याद करता है :

सुख के माथे सिल पड़ो, नाम हृदय तें जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय॥[1]

यही कारण है कि साधक तथा भक्त दुःख को अभिशाप न समझकर भगवान् का वरदान समझते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख हुआ है, जिनमें 'आर्त' की गणना सर्वप्रथम की गई है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भगवत्स्मरण में भले ही कुछ देर कर दें, किंतु आर्त के लिये विलंब असह्य हो उठता है।

जब गजेंद्र के प्राण संकट में पड़ गए और ग्राह से अपने छुटकारे का कोई उपाय उसे न सूझा तो उसने भगवान् की शरण लेते हुए कहा :

भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि। ८।२।३३

अर्थात् कालरूपी सर्प से भयभीत तथा शरणागत की जो रक्षा करता है एवं जिसके भय से काल चारों ओर भगा करता है, मैं उसी परमेश्वर की शरण लेता हूँ।

गजेंद्र की पुकार पर जब भगवान् उसके स्थान पर पहुँचे तो गजेंद्र ने कमलसहित सूँड को ऊपर उठाकर आर्त स्वर में पुकारकर कहा :

उत्क्षिप्य सांबुजकरं गिरमाहकृच्छ्रा,
नारायणाऽखिलगुरो भगवन्नमस्ते।

१. डेंजर पास्ट, गॉड इज फॉरगॉटेन।

हे नारायण हे सकल जगत् के गुरु भगवन् ! आपको मेरा नमस्कार है।

जब भगवान् ने उस पीड़ित गजराज को देखकर यह समझा कि गरुड़ यथासमय उस तक नहीं पहुँच सकेगा तो गरुड़ से उतरकर वे तत्काल ही उसके पास पहुँचे और उसका उद्धार किया।

श्रीमद्भगवद्गीता जैसे विश्वविश्रुत ग्रंथ का प्रारंभ जो अर्जुन के विषाद से होता है, वह सर्वथा उचित है, क्योंकि विषाद अथवा दुःख ही ऐसी तीव्रानुभूति है जिसके द्वारा आत्मजागृति तथा आत्मोपलब्धि होती है। गीता के प्रथम अध्याय को केवल अर्जुनविषाद न कहकर 'विषादयोग' की संज्ञा दी गई है। 'योग' शब्द के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं :

'अध्याय का अंत निराशा और दुःख में होता है और इसे भी 'योग' कहा गया है, क्योंकि आत्मा का यह अंधकार भी आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रगति के लिये एक आवश्यक सोपान है। हममें से अधिकांश लोग प्रश्नों का सामना किए बिना ही सारा जीवन बिता देते हैं। कभी बिरले संकट के क्षणों में ही, जब हमारी महत्वाकांक्षाएँ ढेर हुई हमारे पैरों के पास पड़ी होती हैं, जब हमें पश्चात्ताप तथा व्यथा के साथ अनुभव होता है कि हमने अपने जीवन की क्या दुर्दशा कर डाली है, हम चिल्ला उठते हैं : 'हम यहाँ किसलिए हैं? और हमें यहाँ से कहाँ जाना है?' 'मेरे परमात्मा, मेरे परमात्मा, तूने मुझे क्यों त्याग दिया है?' द्रौपदी चिल्ला उठती है : 'न पति मेरे हैं, न पुत्र, न संबंधी, न भाई, न पिता मेरे हैं और हे कृष्ण, तुम भी मेरे नहीं हो।'

नैव मे पतयः सन्ति, न पुत्रा न च बान्धवाः।
न भ्रातरो न च पिता, नैव त्वं मधुसूदन॥

अर्जुन महान् आत्मिक तनाव में से गुजर रहा है। जब वह अपने आपको सामाजिक दायित्व से पृथक् कर लेता है और पूछता है कि उसे समाज द्वारा उससे प्रत्याशित कर्तव्यों को क्यों पूरा करना चाहिए, तो वह अपने सामाजिकीकृत आत्मा को पीछे कर देता है और अपने आपको व्यष्टि, एकाकी और सबसे पृथक् रूप में पूरी तरह अनुभव करता है। वह संसार के संमुख भयावनी अवस्था में पटक दिए गए एक अजनबी व्यक्ति के समान खड़ा होता है। यह नई स्वतंत्रता चिंता, एकाकीपन, संदेह और असुरक्षा की गंभीर अनुभूति उत्पन्न कर देती है। यदि उसे सफलतापूर्वक काम करना हो, तो उसे इन अनुभूतियों पर विजय पानी ही होगी।'[1]

१. श्री विराज एम० ए० द्वारा अनूदित।

अपने ही बंधु बांधवों को युद्ध में समुपस्थित देखकर अर्जुन जैसे प्रसिद्ध योद्धा के हाथ से गांडीव धनुष छूट गया और उसका मस्तिष्क चक्कर खाने लगा। प्रश्न यह है कि क्या अर्जुन कौरवों की विशाल वाहिनी को देखकर भयभीत हो गया था? अर्जुन जैसे धनुर्धारी के संबंध में यह शंका नहीं की जा सकती। वस्तुस्थिति यह है कि अर्जुन अपने संबंधियों को मारना नहीं चाहता। अपने ही चचा, भाई, भतीजों आदि की हत्या वह कैसे कर डाले? उसने इस बात को साफ स्वीकार भी किया है 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ?' यदि अर्जुन को किसी अन्य शत्रु से मुकाबला करने के लिये भेजा जाता तो वह अवश्य बड़े हर्षपूर्वक युद्ध करने के लिये चला जाता, उसपर रणोन्माद छा जाता, हर्ष से उसकी छाती फूल जाती। तब वह युद्ध की बुराइयों का उपदेश भी किसी को नहीं देता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गीता के प्रथम अध्याय में जितने थोड़े शब्दों में युद्ध की अधिक से अधिक हानियाँ दिखलाई गई हैं, वे शायद ही इस रूप में अन्यत्र वर्णित हुई हों। वस्तुतः हमारा हृदय जो चाहता है, उसी का समर्थन मोहवश हम करने लगते हैं। हृदय की अदम्य इच्छा के सामने बुद्धि का कुछ वश नहीं चलता, वह भी हाँ में हाँ मिलाने लगती है। मनोविज्ञान की भाषा में यह 'युक्तीकरण (राशनलाइजेशन) के नाम से प्रसिद्ध है। कामायनी के यशस्वी कवि श्री जयशंकरप्रसाद ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है :

बन जाता सिद्धांत प्रथम फिर, पुष्टि हुआ करती है
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले सदा भरा करती है।
मन जब निश्चित सा कर लेता, कोई मत है अपना
बुद्धि दैव बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।

आसक्ति के कारण निर्णय दूषित हो जाता है, जैसा निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है :

१ : एक न्यायाधीश थे जिन्होंने एकाधिक बार फाँसी की सजा सुनाई थी। एक दिन उनका लड़का ही ऐसा अपराध कर बैठा जिसकी सजा सिवाय फाँसी के और कुछ नहीं हो सकती थी। किंतु न्यायाधीश सोचने लगे, यह फाँसी कोई अच्छी चीज नहीं, इससे न समाज का भला होता है, न अपराधी का। फाँसी के बदले किसी दूसरी सजा का आविर्भाव किया जाना चाहिए। न्यायाधीश की युक्तियाँ चाहे युक्त हों, किंतु उनके चित्त के मोहाविष्ट हो जाने के कारण उनकी युक्तियाँ आसक्ति और पूर्वग्रह से दूषित हो गई थीं।

इस प्रसंग में अंग्रेजी की एक कहावत भी उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है :

देन क्वोद प्लाउडेन, द डिसिजन इज चेंज्ड।'

प्लाउडन नाम के एक न्यायाधीश थे जिन्होंने पहले तो अनासक्ति और तटस्थता के कारण उचित निर्णय दिया था, किंतु जब उन्हें पता चला कि उनका यह निर्णय स्वकीय हितों के विरोध में है तो वे चट बोल उठे : तब तो निर्णय भी बदल गया। रवींद्र की एक कथा में भी जब यह पता चला कि अपराधी राजकुमार है तो दंड की घोषणा वापस ले ली गई।

एक भोजपुरी लोककथा के अनुसार पाँच सात लड़कों ने मिलकर एक गदहे को मार डाला। पंडित जी के पास लोग न्याय के लिये पहुँचे। पंडित जी ने कहा कि गदहे की हत्या के कारण लड़कों को अवश्य कड़ा दंड मिलना चाहिए। किंतु किसी ने कहा कि पंडित जी महाराज ! गदहे की इस हत्या में आपका लड़का संतोष भी शामिल है। इतना सुनना था कि सिर खुजलाते हुए पंडित जी बोल उठे :

पाँच सात लरिका एक संतोष
गदहा मरिले कौना ना दोष।

अच्छा, पाँच सात लड़कों ने मिलकर गदहे की हत्या की है और उनमें एक संतोष भी था तब तो गदहे के मार डालने में कोई दोष नहीं रहा।

२ : संस्कृत विश्वपरिषद् में संमिलित होने के लिये हम लोग बनारस गए थे। एक स्टेशन पर मैंने देखा, गाड़ी आने में विशेष देर नहीं थी। यात्री पंक्तिबद्ध खड़े थे और प्रतिक्षण खिड़की खुलने की आवाज की प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी देर बाद खिड़की खुली, किंतु टिकट बाबू अपने एक मित्र से बातचीत करने में सलग्न था। मित्र को वह बतला रहा था कि मेरी पत्नी की बहिन बहुत अच्छा गाती है, रेडियोवालों की ओर से भी उसे निमंत्रण मिलते हैं और उसकी सुमधुर आवाज का तो क्या कहना। एक यात्री धीरे धीरे गुर्राया। लगा कहने : इस स्टेशन मास्टर को गोली से उड़ा दिया जाए तो कितना अच्छा रहे। यह नहीं देखता, गाड़ी आनेवाली है, यात्री जाड़े से ठिठुर रहे हैं और इसे अपनी पत्नी की बहिन और रेडियो की पड़ी है। जहन्नुम में जाए यह बहिन और उसका रेडियो।

एक क्षण के लिये आप कल्पना कीजिए, संयोग से यदि यही टिकट बाबू अपनी वृद्धा माता को लेकर यात्रा के लिये निकले और उसको भी हड्डियों तक को को कँपा देनेवाले शीत में पंक्तिबद्ध खड़े होकर प्रतीक्षा करनी पड़े और वह किसी टिकट बाबू को इसी प्रकार की घरेलू बातों में रस लेता हुआ देखे तो उसी सामान्य मुसाफिर की सी प्रतिक्रिया क्या उसके मन में नहीं उत्पन्न होगी ?

३ : एक बार एक सज्जन, जो मुझसे बिल्कुल अपरिचित थे, सपत्नीक मेरे यहाँ आए। कहने लगे : देखिए, 'इनको' पढ़ाने में मैंने क्या नहीं किया, ट्यूशनों की व्यवस्था की, घर का काम छुड़ाया, किंतु अब नौका मँझधार में है। आप ही इस नौका को पार लगा सकते हैं। फिर कुछ ठहरकर बोले : स्त्रीशिक्षा का तो हमारे देश में वैसे भी अभाव है, आप जैसे विद्वान् यदि सहारा नहीं लगाएँगे तो कैसे पार पड़ेगा?

वे चाहते थे कि मैं उन्हीं की उपस्थिति में उक्त महिला की उत्तर-पुस्तक निकालकर उन्हें मुक्तहस्त होकर अंक दे दूँ।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'स्व' की भावना से अभिभूत होने के कारण हम उचित निर्णय नहीं कर पाते। अर्जुन के तर्कों का भी मूल स्वर यही है : 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ?' अपने ही लोगों को मौत के घाट उतारकर हम कैसे सुखी होंगे?

अर्जुन के मन में विषाद ने कैसे घर किया, इसपर थोड़ा विचार कीजिए। जब कौरवों की ओर से शंख बजाए गए और युद्धारंभ की सूचना दी गई, तब श्वेत घोड़ोंवाले बड़े रथ में विराजमान कृष्ण और अर्जुन ने अपने दिव्य शंख बजाए। अर्जुन ने अपना देवदत्त शंख बजाया जो उसे खांडवदाह के समय अग्नि से प्राप्त हुआ था। कपिध्वज अर्जुन ने शस्त्रप्रहार प्रारंभ होने के समय अपना धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि हे अच्युत, इन दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ खड़ा कर दीजिए जिसमें मैं युद्धार्थ खड़े हुए लोगों को देख लूँ। दुष्ट बुद्धिवाले दुर्योधन का हित चाहनेवाले जो इस युद्ध में आए हैं, मैं देख रहा हूँ, उन सबसे युद्ध होगा ही।

जब भगवान् ने दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा कर दिया तो अर्जुन को वहाँ सब अपने ही बांधव दिखलाई पड़े। उसका युद्धोत्साह जाता रहा, वह कृपा से आविष्ट हो गया और विषादयुक्त होकर भगवान से कहने लगा अपने स्वजनों को युद्ध में खड़ा देखकर मेरे शरीर के अवयव टूट से रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, शरीर काँपने लगा है, सब रोम खड़े हो गए हैं, गांडीव हाथ से छूटा पड़ता है, सब शरीर की त्वचा मानो जल रही है। मैं तो खड़ा भी नहीं रह सकता। मेरा मन चक्कर सा खा रहा है। मुझे चारों ओर बुरे-बुरे शकुन दिखलाई पड़ रहे हैं। युद्ध में अपने लोगों को मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता। बड़े खेद की बात है कि केवल राजसुख के लोभ से हम इतना बड़ा पाप करने को उद्यत हो गए, केवल राज्य से थोड़ा सुख प्राप्त करने के लोभ से हम अपने बांधवों को मारने के लिये तैयार हो गए।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः॥

अर्जुन जिस दया के वशीभूत होकर युद्ध से पराङ्मुख हो रहा है, वह दया वास्तव में सच्ची दया नहीं है। इस दया के मूल में स्वार्थवृत्ति है जिसके कारण वह ऐसा कार्य करने से हिचकता है जिसमें उसे अपने ही लोगों को चोट पहुँचानी होगी। वह आत्मदया की भावुकतापूर्ण मनोवृत्ति के कारण पीछे हटना चाहता है। यह दया उसके आध्यात्मिक विकास या सत्वगुण की प्रधानता का परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना अथवा तमोगुण की उपज है। जिस दया के वशीभूत होकर वह अपने नियत कर्तव्य का त्याग करना चाहता है, वह त्याग तामसिक ढंग का त्याग है :

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ १८।७

अर्थात् नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। मोह से यदि उसका परित्याग कर दिया जाय तो यह त्याग तामस कहा जायगा। अर्जुन के हृदय में जो दया और अहिंसा की भावना जगी है, उसका कारण यह नहीं है कि वह आध्यात्मिक विकास की उस स्थिति तक पहुँच गया है जहाँ करुणा और मानवी प्रेम व्यक्तित्व का सहज अंग बन जाता है। यह वस्तुतः मोह का परिणाम है जिसके कारण राजस प्रवृत्तिवाला अर्जुन 'तामस त्याग और वैराग्य' की ओर उन्मुख हो रहा है।

उक्त मिथ्या आत्मदया के साथ साथ अर्जुन विषाद के वशीभूत हो रहा है जो एक अप्रिय 'संवेग' है। आशा, हर्ष, प्रेम, साहस, हास आदि प्रिय संवेग हैं तथा क्रोध, भय घृणा, चिंता, निराशा, विषाद आदि अप्रिय संवेगों के अंतर्गत आते हैं। अप्रिय संवेगों का हमारे शरीर और मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये एक अप्रिय संवेग क्रोध को लीजिए। डा० एल० पी० वर्मा के मतानुसार क्रोध का निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है :

(१) पाचन क्रिया रुक जाती है।
(२) अँतड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं।
(३) हृदय की गति तीव्र होकर ८० से १८० तक हो जाती है।
(४) रक्तचाप, जो साधारणतया १२० रहता है, २३० हो जाता है।
(५) कभी कभी अत्यधिक क्रोध से मस्तिष्क की रक्तकोशिकाएँ फट जाती हैं। हृदय की छोटी सी रक्तकोशिका, जिसे 'कोरोनरी आर्टरी' कहते हैं, और भी छोटी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप क्रोधी व्यक्ति कभी कभी अपनी जान से भी हाथ धो बैठता है। जान हंटर नामक एक चिकित्सक के लिये कहा जाता है

कि उसे खराब कोरोनरी आर्टरी के साथ साथ क्रोधी स्वभाव भी मिला था। एक दिन एक विद्यार्थी ने कुछ बेतुके सवाल उससे पूछे जिससे वह क्रोध से अभिभूत हो गया और उसकी इहलीला समाप्त हो गई।

जब हनुमान ने लंका जला दी तो उन्हें बड़ी चिंता हुई कि क्रोध के कारण मुझसे बड़ा अनर्थ हो गया। लंका जब भस्मीभूत हो गई है तो जानकी भी अवश्य जल गई होंगी। मैं स्वामिघातक हूँ, अब मेरे जीवित रहने से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। वे पुरुष श्रेष्ठ हैं जो उठे हुए क्रोध को बुद्धिबल से रोक लेते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिये क्रोध बड़ा घातक है।

क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥५।५५।४
वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥५।५५।५

क्रुद्ध मनुष्य कौन सा पाप नहीं कर डालता? हो सकता है, क्रुद्ध व्यक्ति गुरुओं की भी हत्या कर दे? क्रुद्ध पुरुष अपनी कठोर वाणी से साधुओं की भी निंदा करने लगता है। कुपित होने पर उसके लिये वाच्यावाच्य का विचार नहीं रह जाता, क्रुद्ध के लिये न कहीं कुछ अकार्य है और न कहीं कुछ अवाच्य।

क्रोध की ही भाँति एक दूसरा अप्रिय संवेग है विषाद जिसका गीता के प्रथम अध्याय में चित्रण हुआ है। विषाद के शारीरिक प्रभावों की दृष्टि से अर्जुन की निम्नलिखित उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

पारिभाषिक शब्दावली का आश्रय लेकर कहें तो कह सकते हैं कि अंगों का ढीला पड़ना, मुँह का सूखना, शरीर का काँपना, रोंगटों का खड़ा होना, हाथ से गांडीव धनुष का फिसलना और खड़ा न रह सकना, ये सब 'विषाद' नामक संवेग के 'अनुभाव' हैं। अर्जुन का यह कथन भी कि मुझे बुरे बुरे शकुन दिखलाई पड़ रहे हैं, उसके हृदयदौर्बल्य का द्योतक है :

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

यद्यपि पुष्पिका में गीता के प्रथम अध्याय को 'विषादयोग' का नाम दिया गया है, तथापि इस विषाद के साथ साथ वह भय भी मिला हुआ है जो स्वजनबधजन्य विचारमात्र से उद्भूत हुआ है। अर्जुन का यह भय कौरवों की विशाल सेना को देखकर उत्पन्न नहीं हुआ है। आयुर्वेद के विद्वानों का कहना है कि भय और शोक के लक्षणों का पूर्ण चित्रण ऊपर के श्लोकों में हुआ है।

राजस्थान के प्रसिद्ध कवि बाँकीदास ने कहा है कि शूरवीर न तो जन्मपत्र देखता है और न शकुन अपशकुन का ही विचार करता है[1]। निश्चय ही अर्जुन भी यदि स्वजनों को छोड़कर अन्य शत्रुओं से युद्ध करने के लिये जाता तो अपशकुनों की बात नहीं करता। किंतु आज तो वह यह समझता है कि इससे बड़ा अपशकुन और क्या होगा कि स्वजन ही उससे लड़ने के लिये रणभूमि में एकत्र हुए हैं। और तो और, भीष्म तथा द्रोणाचार्य से बाण लेकर वह कैसे युद्ध करे ? वे तो पूजा के योग्य हैं, युद्ध में लड़ने के योग्य नहीं हैं। गुरुओं की हत्या की अपेक्षा तो भीख माँगना अच्छा है। गीताकार ने अर्जुन की आत्मदया, उसके भय, उसके विषाद और उसकी दुविधा का मार्मिक चित्रण किया है। अर्जुन के मुख से 'भ्रमतीव च मे मनः' कहलवाकर गीताकार ने उक्त विषाद के मानसिक प्रभाव का सूत्ररूप में पूर्ण चित्रण कर दिया है। अर्जुन का मन क्यों चक्कर खा रहा है, इसका प्रमुख कारण यह है कि वह ऐसे तनाव की स्थिति में से गुजर रहा है कि अपना कर्तव्य निश्चित नहीं कर पाता, वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। उसकी दृष्टि में इस किंकर्तव्यविमूढ़ता का कारण है उसके स्वभाव का कार्पण्य अथवा दीनता के दोष से उपहत होना। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'अर्जुन केवल निराशा, चिंता या संशय से ही प्रेरित नहीं है अपितु वह निश्चय के लिये तीव्र इच्छा से भी प्रेरित है। अपनी अविवेकशीलता को अनुभव करना व्यक्ति के विकास की ओर आगे बढ़ना है। अपूर्णता की सजग अनुभूति इस बात की द्योतक है कि आत्मा सचेत है और जब तक वह सचेत है, वह सुधर सकती है, जैसे जीवित शरीर किसी जगह चोट खा जाने या कट जाने पर फिर स्वस्थ हो सकता है। मानव प्राणी पश्चात्ताप के संकटकाल में से गुजरकर उन्नतर दशा की ओर बढ़ता है।

जिज्ञासुओं का यह सामान्य अनुभव है कि वे जब प्रकाश की देहली पर खड़े होते हैं, तब भी संशयों और कठिनाइयों से ग्रस्त रहते हैं। जब प्रकाश किसी

१. सूर न पूछें टीपणी, सकुन न देखे सूर।
मरणां नूं मंगळ गिणै, समर चढे अद नूर॥

आत्मा में चमकना शुरू होता है तो वह उसके प्रतिरोध के लिये अंधकार को भी बढ़ावा देता है। अर्जुन के सामने बाह्य और आंतरिक कठिनाइयाँ, उदाहरण के लिये संबंधियों और मित्रों का प्रतिरोध, संशय और भय, वासनाएँ और इच्छाएँ विद्यमान हैं। इन सबको वेदी पर बलि कर देना होगा और ज्ञान की आग में भस्म कर देना होगा। अंधकार के साथ संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक व्यक्ति का संपूर्ण अपनापन प्रकाश से न भर उठे। दीनता के बोझ से दबा हुआ, क्या सही है और क्या गलत, इस विषय में दुविधा में पड़ा हुआ अर्जुन अपने गुरु से, अपने अंदर विद्यमान भगवान् से प्रकाश और पथप्रदर्शन प्राप्त करना चाहता है। जब किसी का संसार नष्ट हो रहा हो, तब वह केवल अंतर्मुख होकर भगवान् की असीम दया के रूप में ज्ञान की खोज कर सकता है।

अर्जुन किसी अधिविद्या की माँग नहीं करता क्योंकि वह ज्ञान का अन्वेषक नहीं है। वह तो कर्मशील मनुष्य है, इसलिये वह कर्म का विधान जानना चाहता है। वह अपना कर्तव्य जानना चाहता है। वह जानना चाहता है कि उसे इस कठिनाई के अवसर पर क्या करना है। 'स्वामी, तुम मुझसे क्या करने की अपेक्षा करते हो ?'

अर्जुन की भाँति साधक को अपनी दुर्बलता और अज्ञान का अनुभव करना होगा और फिर भी उसे परमात्मा की इच्छा के अनुसार कार्य करने, और वह इच्छा क्या है, उसे खोज निकालने के लिये कटिबद्ध होना होगा।[1]

अर्जुन के आंतरिक संघर्ष का विश्लेषण करने के लिये हमें उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर विचार करना होगा। उसके चेतन मस्तिष्क में रह रहकर यह विचार उठता है कि अपने ही व्यक्तियों को वह मौत के घाट कैसे उतार दे ? ऐसा करने से वह बड़े भारी पाप का भागी होगा। किंतु उसके अवचेतन मन में यह विचार भी आता होगा कि दुर्योधन आदि कौरव बड़े अन्यायी हैं और भविष्य में कभी भी वे नीतिपूर्वक शासन करने की इच्छा नहीं करेंगे।

फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार हमारी संपूर्ण चेतना के दस अंशों में से नौ अंश अचेतन हैं तथा शेष अंश अर्धचेतन। अर्जुन के अचेतन मन में योद्धा-सुलभ उन संस्कारों का पुंज एकत्रित है जिनके वशीभूत होकर वह अब तक अनेक युद्ध कर चुका है। किंतु इस समय क्षत्रियोचित उन सभी संस्कारों को वह भूला हुआ है। जिस वैराग्य की अर्जुन बात करता है, वह उसकी प्रकृति अथवा स्वभाव नहीं

१. श्री विराज एम० ए० द्वारा अनूदित।

है। यह वैराग्यभावना मोह से उद्भूत है और तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र है। अर्जुन की चेतना के गहनतम स्तरों से उसका कोई संबंध नहीं है। अर्जुन वह बनना चाहता है जो वह स्वयं नहीं है। वह स्वधर्म को छोड़कर परधर्म अपनाने की बात करता है। आगे चलकर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है :

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

अर्थात् ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुरूप चेष्टा करता है। सभी प्राणी प्रकृति की ओर जाते हैं। यहाँ निग्रह से क्या होगा? बुद्ध ने जो 'महाभिनिष्क्रमण' किया, संसार छोड़कर जिस वैराग्य का आश्रय लिया, वह उनकी प्रकृति के अनुरूप था। इसलिये गीता भी इस तरह के वैराग्य का निरोध नहीं करेगी। किंतु अर्जुन जिस संन्यास का आश्रय लेना चाहता है, वह उसका स्वभाव अथवा स्वधर्म नहीं है। जिस काम की हमें आदत है, जो हमारा स्वभाव है, उसे पूरा करने में हमारे मन पर कोई बोझ नहीं पड़ता, उसे हम अनायास कर डालते हैं, किंतु जो हमारी प्रकृति नहीं है, उसे अपनाने में मस्तिष्क पर भार पड़ता है और उस अवस्था में मानसिक तनाव उत्पन्न होना अवश्यंभावी है।

फ्रायडवादियों के मतानुसार मानसिक तनाव का कारण है सुखसिद्धांत। (प्लेजर प्रिंसिपुल) और आदर्श अहं (सुपर इगो) का संघर्ष। संसार में प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करना चाहता है किंतु कभी कभी जब उसका आदर्श अहं बीच में आकर बाधा डालता है तो तनाव पैदा हुए बिना नहीं रहता। यह हम नहीं कह सकते कि अर्जुन की राज्यसुख भोगने की वासना अथवा इच्छा का नाश हो चुका है, राज्यसुख भोगना वह चाहता है किंतु उसका आदर्श अहं अथवा उसका अंतःकरण बीच में बाधक सिद्ध होता है। उसका अंतःकरण इस बात की गवाही नहीं देता कि अपने ही लोगों की हत्या कर वह राज्यसुख भोगे। यही कारण है कि अर्जुन बड़ी उलझन में पड़ गया है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि वह क्या करे?

मनुष्य किस प्रयोजन को लेकर कर्म में प्रवृत्त होता है, इस संबंध में दार्शनिकों ने अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। उनमें से एक है सुखवाद का सिद्धांत (हिडोनिज्म)। यदि मनुष्य केवल व्यक्तिगत सुख को दृष्टि में रखकर कोई कार्य करता है तो स्वार्थ की प्रधानता के कारण इस प्रकार के कर्म को प्रशंस्य नहीं माना जाता। इसलिये कुछ दार्शनिक व्यक्तिगत सुखवाद (इगोइस्टिक हिडोनिज्म) के स्थान पर सार्वजनीन सुखवाद (युनिवर्सलिस्टिक हिडोनिज्म) का

समर्थन करते हैं। गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन भी कर्म के प्रयोजन को दृष्टि में रखकर कहता है कि अपने ही आदमियों की हत्या कर हम सुखी कैसे होंगे? राज्यसुख के लोभ से स्वजनों का वध करने के लिये जो हम उद्यत हो गए हैं यह तो बहुत बड़ा पाप है।[1]

अर्जुन की उक्तियों से स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि व्यक्तिगत सुख की ही ओर है, समष्टि के सुख की ओर नहीं। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि जो युद्ध में उसकी सहायता के लिये एकत्र हुए हैं, उनका क्या होगा, यदि वह युद्ध से पराङ्मुख हो जायगा। वह इस ओर से भी उदासीन है कि उसके युद्ध से विरत होने पर दुर्योधन आदि द्वारा अत्याचार किए जाने पर प्रजा की क्या हालत होगी। अत्याचारी शासक के राज्य में जनता कैसे सुखी रह सकती है? निश्चय ही जिस भावना से प्रेरित होकर अर्जुन युद्ध से मुख मोड़ रहा है, वह भावना दूषित है।

कर्म के प्रयोजन के संबंध में सुप्रसिद्ध दार्शनिक कांट का कहना है कि कर्तव्य केवल कर्तव्य की दृष्टि से किया जाना चाहिए। समष्टि के सुख को लक्ष्य में रखकर जो भी कार्य किया जायगा, उसके संबंध में भी 'गारंटी' क्या है कि समष्टि को सुख मिल ही जायगा? कर्मफल के नियामक केवल हम ही नहीं होते, अन्य बाह्य शक्तियाँ भी कर्म-फल-निष्पत्ति में योग देती हैं। अतः कर्म का प्रयोजन न व्यक्तिगत सुखवाद होना चाहिए, न समष्टिगत सुखवाद। केवल कर्तव्य को दृष्टि में रखकर अनासक्त भाव से कर्म किया जाना चाहिए। कर्तव्यभावना में किए गए कर्म का फल कर्तव्यभावना ही है, कर्तव्यभावना के अतिरिक्त और किसी फल की आशा नहीं रखनी चाहिए। वस्तुतः कर्म की अनासक्त प्रक्रिया ही उसका फल है, उसका पुरस्कार है।

कुछ विचारकों का कहना है कि किसी भी कर्म के शुभाशुभ निर्णय के संबंध में कर्ता की बुद्धि (इंटेंशन) ही एकमात्र कसौटी होनी चाहिए। किंतु बुद्धि को कसौटी स्वीकार कर लेने पर भी हम कर्तव्य से बाह्य किसी दूसरी वस्तु को कसौटी के रूप में ग्रहण कर रहे हैं; कर्म का प्रयोजन वस्तुतः कर्तव्यभावना के अतिरिक्त और किसी बाह्य वस्तु को नहीं मानना चाहिए।

युद्ध न करने के संबंध में अर्जुन का जो दृष्टिकोण है वह व्यक्तिगत सुखवाद से ऊपर नहीं उठता, इसलिये किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

१. स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

यदि मन में बुराई और भलाई का संघर्ष हो तथा यह निश्चित रूप से मालूम हो कि यह बुराई है तो निर्णय पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती। किंतु कठिनाई वहाँ उपस्थित होती है जहाँ संघर्ष 'सचाई' और 'भलाई' अथवा 'औचित्य' और 'सुख' के बीच हो। अर्जुन का संघर्ष 'औचित्य' तथा 'सुख' का संघर्ष है। इसीलिये वह उचित निर्णय के अभाव में किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है।

यदि उचित काम करने से अपना तथा दूसरों का भला होता है तो कोई नैतिक समस्या उत्पन्न नहीं होती और आसानी से निर्णय किया जा सकता है। किंतु नैतिक समस्या वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ 'औचित्य' और भलाई' में परस्पर विरोध होता है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि दो देशों में युद्ध के परिणाम-स्वरूप संधि होती है किंतु संधि की एक शर्त के रूप में शत्रु एक निरापराध व्यक्ति की जान लेना चाहता है, अन्यथा वह निर्बल राष्ट्र को तहस नहस कर देगा। ऐसी स्थिति में एक निरापराध व्यक्ति की जान बचाई जाय अथवा समूचे राष्ट्र को नष्ट होने से बचाया जाय? औचित्य की दृष्टि से निरापराध व्यक्ति की रक्षा राष्ट्र का कर्तव्य है, किंतु राष्ट्र के सुख की दृष्टि से निरापराध व्यक्ति की बलि कर देना आवश्यक है। राजस्थान के इतिहास में प्रसिद्ध है कि हमीर ने एक व्यक्ति की रक्षा के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी।

सामान्यतः यह देखा जाता है कि मनुष्य भलाई के लिये औचित्य का बलिदान करने को तैयार हो जाता है, न कि औचित्य के लिये भलाई का। अर्जुन भी यही करता हुआ दिखलाई पड़ता है। अंतर केवल यही है कि अर्जुन भलाई को उचित भी ठहरा रहा है। किंतु, जैसा ऊपर कहा गया है, यदि भलाई और औचित्य में कोई संघर्ष न हो तो विकट नैतिक समस्या का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि युद्ध न करना उचित है और उससे भला भी होता है तो फिर समस्या है हो कहाँ? किंतु वस्तुतः अर्जुन के साथ बड़ी भारी उलझन है। युद्ध के लिये जब दोनों सेनाएँ लड़ाई के मैदान में जुटी हुई हैं, अर्जुन का आत्मदयावश युद्ध से पराङ्मुख होना बड़ा अनुचित कार्य होगा, और जैसा आगे चलकर कृष्ण ने समझाया, ऐसा करने से वह अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य का पालन नहीं कर सकेगा, उसकी अपकीर्ति होगी और उसे पाप लगेगा। लोग यह समझेंगे कि डरकर अर्जुन युद्ध से भाग गया, शत्रु अनेक प्रकार से उसकी निंदा करेंगे। और सच तो यह है कि प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये अपयश मरण से भी बढ़कर है। इस प्रकार कृष्ण ने अर्जुन को जो मार्ग दिखलाया, वही उचित मार्ग था।

किंतु कर्म और अकर्म का निर्णय करना, जैसा गीताकार ने कहा है, वास्तव में बड़ा कठिन कार्य है।[१] 'भलाई' किसी कार्य का प्रयोजन हो अथवा 'औचित्य', इस संबंध में दो अतिवादी दृष्टिकोणों का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। पहला दृष्टिकोण जी० ई० मूर का है जिसके मतानुसार ऐसे किसी कार्य का जान बूझकर समर्थन नहीं किया जा सकता जिसके कारण किसी वैकल्पिक कार्य की अपेक्षा कुल मिलाकर दुनिया की हालत और भी खराब हो जाय।[१] दूसरा दृष्टिकोण कांट का है जिसके अनुसार कुछ कर्तव्य ऐसे होते हैं जिनका पालन करना हर हालत में उचित है चाहे उसके परिणामस्वरूप दुनिया की दशा और भी बिगड़ जाय अथवा दुनिया का खात्मा ही हो जाय।[२]

हिंदुस्तान का, भारत और पाकिस्तान, इन दो भागों में बाँटा जाना यद्यपि उचित नहीं था तथापि भलाई की दृष्टि से राष्ट्र ने औचित्य को तिलांजलि दे दी थी। दूसरी स्थिति आक्रांता चीन और भारत के सीमा संबंधी विवाद के उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। भारत अपने स्वाभिमान को तिलांजलि देकर, औचित्य की सर्वथा अवहेलना कर, केवल 'भलाई' को लक्ष्य में रखकर चीन से कोई अपमानजनक संधि नहीं कर सकता, चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। और फिर इस प्रकार की अपमानजनक संधि से लोगों का भी अंततः भला ही होगा, यह भी कैसे मान लिया जाय?[३] न्यूयार्क विश्वविद्यालय के अध्यक्ष सिडनी हुक के निम्नलिखित विचार यहाँ उल्लेखनीय हैं :

"बुद्धिस्ट सेंट आन् एनी अदर हू, आउट आव रेस्पेक्ट फॉर द राइट टु लाइफ आव मैन आर बीस्ट रिफ्यूजेज, इवेन टु यूज फोर्स, रिफ्यूजेज इवेन टु किल, इवेन हेन दिस इज द ओनली मेथड, ऐज इट समटाइम्स इज, दैट विल सेव मल्टीट्यूड्स फ्राम सफरिंग ऐंड डेथ, मेक्स हिम सेल्फ रेसपासिबुल फार

१. द फर्स्ट इज जी० ई० मूर्स व्यू दैट इट इज सेल्फ-एविडेंट दैट इट कैन नेवर बी राइट नोइंगली टु एप्रूव ऐन ऐक्शन दैट वुड मेक दि वर्ल्ड ऐज ए होल वर्स दैन सम आल्टरनेटिव ऐक्शन।

२. द सेकेंड इज कांट्स व्यू दैट देयर आर सम ड्यूटीज दैट इट वुड आलवेज बी राइट टु परफॉर्म, इवेन इफ द कांसिक्वेंसेज आव द ऐक्शन रिजल्टेड इन ए वर्स वर्ल्ड आर इन नो वर्ल्ड ऐट आल।—प्रैग्मैटिज्म ऐंड द ट्रैजिक सेंस आव लाइफ (दि अमेरिकन रिव्यू, अप्रैल, १९६१, पृ० ३७)।

३. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

द ग्रेटर ईविल, आल द मोर सो बिकाज ही क्लेम्स टु बी ऐक्टिंग आउट आव कंपैशन। ही कैननाट एवायड गिल्ट ह्वेदर वी रिगार्ड हिम ऐज मोर दैन मैन आर लेस दैन मैन। नो मोर दैन वी, डज ही एस्केप टु ट्रैजिक डिसिजन।''

कभी कभी ऐसी परिस्थिति आती है जब औचित्य की रक्षा के लिये युद्ध, हत्या और बलप्रयोग के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह जाता। उस समय भी यदि कोई बौद्ध संत युद्ध और बध का दयावश समर्थन न करे तो परिणामस्वरूप जो अपेक्षाकृत अधिक अनिष्ट अथवा बुराई संभव है, उसका सारा दायित्व उसी संत पर होगा। ऐसी स्थिति में दया दिखलाना अपराध होगा जिससे वह बौद्ध संत मुक्त नहीं हो सकेगा, चाहे हम उसे मानव से वह अधिक मानें या मानव से कम। इस प्रकार के दुःखात्मक निर्णय के दायित्व से वह बच नहीं सकता। यहाँ यह स्मरणीय है कि महात्मा गांधी जैसे अहिंसावादी संत ने भी काश्मीर में सेना भेजने की अनुमति दे दी थी।

कृष्ण ने कौरवों को समझाने का पूरा प्रयत्न किया किंतु जब दुर्योधन 'सूच्यग्र भूमि' देने के लिये भी तैयार नहीं हुआ तो कृष्ण के पास युद्ध के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया था। किंतु कौरवों और पाडवो दोनों की सेनाएँ जब लड़ाई के मैदान में एकत्रित हुईं, अर्जुन मोह और मिथ्या दया के वशीभूत हो गया। महाराज हरिश्चंद्र के जीवन में भी एक बार कुछ ऐसी ही विकट समस्या उपस्थित हुई थी। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या जब उसे दाह संस्कार के लिये श्मशान भूमि में ले गई तो हरिश्चंद्र ने उससे मृत्युकर की माँग की। किंतु उसके पास कर देने के लिये कुछ था ही नहीं। उसने गहरी साँस लेते हुए कहा—हाय! आज चक्रवर्ती सम्राट् की महारानी के पास मृत्युकर चुकाने के लिये भी कुछ नहीं! इसपर हरिश्चंद्र शैव्या को पहचान गए। और शैव्या ने जब हरिश्चंद्र को पहचाना तो कहने लगी, 'महाराज! आपकी यह हालत!' हरिश्चंद्र बोल उठे, 'देवि! मुझे महाराज' शब्द से संबोधित न करो, आज तो मैं डोम सरदार का सेवक मात्र हूँ।'

हरिश्चंद्र यदि शैव्या पर दया दिखलाकर उससे मृत्युकर वसूल न करते, उसे यह समझकर छोड़ देते कि देखनेवाला कौन है, तो निश्चय ही वे अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते। दूसरी बात यह कि अपनी पत्नी के प्रति दया दिखलाना तो अपने ही प्रति दया दिखलाना होता। हरिश्चंद्र जागरूक थे और वे अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हुए। उन्होंने शैव्या से कहा, 'यदि तुम्हारे पास मृत्युकर के रूप में देने के लिये कुछ भी नहीं है तो तुम अपनी साड़ी का आँचल फाड़कर दे दो।' यह देखकर देवताओं ने आसमान से पुष्प बरसाए। आज भी हम हरिश्चंद्र और

शैव्या के उस पुराकालीन उपाख्यान का स्मरण कर भावमुमनों की वृष्टि किया करते हैं। हरिश्चंद्र के सत्य और कर्तव्यभाव ने महात्मा गांधी पर भी अपनी गहरी छाप छोड़ी थी।

स्पष्ट है कि हरिश्चंद्र का निर्णय सही निर्णय था। उन्होंने आत्मदया की कमजोरी नहीं दिखलाई, वे ममता के वशीभूत नहीं हुए और उन्होंने कठोरता से अपने कर्तव्य का पालन किया। दूसरों से कर वसूल किया जाय और अपने संबंधियों को यों ही छोड़ दिया जाय, यह कौन सा न्याय है? दूसरे अनुचित कार्य करते हों, अत्याचार और अन्याय का आश्रय लेते हों तो उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाय किंतु अपने ही बंधु बांधव जब अत्याचार करें तो उनके प्रति दया दिखलाकर उन्हें छोड़ दिया जाय! क्या यह उचित होगा? धर्मशास्त्रों में तो कहा गया है कि यदि कोई आततायी सामने आ रहा हो तो बिना विचारे उसका वध कर डालना चाहिए :

'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।'

अर्जुन जानता है कि दुर्योधन आदि कौरव आततायी हैं किंतु ममता, मोह तथा आत्मदया के वशीभूत होकर वह कहता है :

'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।'

अर्थात् इन आततायियों को मारने पर भी हमें पाप ही लगेगा।

कर्तव्यपालन करते समय जब कोई मनुष्य 'स्व' और 'पर' के आधार पर निर्णय करने लगता है तो उसकी विवेकबुद्धि जाती रहती है और उसका निर्णय दूषित हो जाता है। इसी स्व और परविषयक भेदबुद्धि के वशीभूत होने के कारण अर्जुन कहने लगा कि अपने ही आदमियों को मौत के घाट उतार देने की अपेक्षा संन्यासी का जीवन व्यतीत करते हुए भिक्षा माँगना अच्छा है, तीनों लोकों का राज्य मुझे मिलता हो तो भी स्वजनवध जैसा जघन्य कार्य करने के लिये मैं तैयार नहीं। किंतु अर्जुन की इस त्यागभावना का यदि विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह कितना खोखला और निस्सार भाव है। त्याग तो उस वस्तु का किया जाता है जो किसी के पास हो। त्रैलोक्य का राज्य तो दूर रहा, उसके पास इस लोक का ही राज्य कहाँ है जिसका त्याग वह कर सके। बल्कि उसे तो यह भी संदेह है कि युद्ध होने पर हम जीतेंगे या प्रतिपक्षी विजयी होंगे :

'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।'

जिसे अपनी विजय तक का पूरा भरोसा नहीं, वह कौन से राज्य का त्याग कर सकेगा? वास्तव में जिसका त्याग वह कर रहा है, वह है मात्र कर्तव्य का त्याग।

अब यह कहने में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि अर्जुन बड़े विषाद और मानसिक तनाव की स्थिति में है। इस मानसिक तनाव को स्थिति में से जब तक कोई व्यक्ति निकल नहीं जाता, तब तक उसका मन बड़ी बेचैनी का अनुभव करता है। गंभीर मनोविज्ञान (डेप्थ साइकालाजी) के विशेषज्ञ डा० इरा प्रोगाफ के शब्दों में 'जीवन के किसी मोड़ पर जब तक विकट संघर्ष की स्थिति नहीं आती, तब तक मनुष्य स्वभाव (सेल्फहुड की सड़क की ओर उन्मुख नहीं होता। आध्यात्मिक विकाससुख की प्रक्रिया यही है, किंतु इस प्रक्रिया में मानस की गहराइयों में ऐसी हलचल उत्पन्न होती है जिससे कोई ऐसी बहुमूल्य वस्तु प्रादुर्भूत होती है जो अन्यथा संभव नहीं है। किंतु बहुधा तनाव हमारे विकास में सहायता पहुँचाने की अपेक्षा हमारे नाश का भी कारण बन सकता है, जैसा आज के युग में हो रहा है।' इसीलिये गुरु की आवश्यकता होती है। वास्तव में उच्च आत्मा ही गुरु की संज्ञा है। आत्मबीज तो हममें से प्रत्येक में है। गुरु के द्वारा उसका प्रस्फुटन और विकास होता है। बीज का पुष्पित होना वांछनीय है।'[1]

मानसिक तनाव की स्थिति में से गुजरते हुए अर्जुन को कृष्ण जैसा पथ-प्रदर्शक मिल गया। बड़े बेचैन होकर अर्जुन ने कृष्ण से पूछा, जो मेरे लिये श्रेयस्कर हो, उसे निश्चित रूप में आप मुझे बतलाएँ।' इसपर कृष्ण ने जो गीता का उपदेश दिया, उससे अर्जुन का मोह दूर हुआ और वह स्वस्थ बना।

युद्धविजय के उपरांत अर्जुन ने एक दिन श्रीकृष्ण से कहा कि आपने मुझे पहले जो उपदेश दिया था भ्रष्टचित्त होने के कारण मैं उसे भूल गया हूँ और वही उपदेश आपसे फिर सुनना चाहता हूँ —

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥ ६ ॥

(अश्वमेध पर्व, अध्याय १६)

१. ऐट एनी प्वाइंट क्राइसिस इज द रोड टु सेल्फहुड। ग्रोथ इज रेयरली ए हैप्पी प्रोसेस बट इन द प्रोसेस, द डेप्थ्स आव द साइक गेट स्टर्ड ऐंड समथिंग कम्स आउट, समथिंग वैल्युएबुल, ह्विच वी कुड नाट अदरवाइज हैव बार यूज बट टेंशन वेरी आफेन इंस्टेड आव हेल्पिंग आवर डेवलपमेंट, हेल्प्स आवर ओन डिस्ट्रक्शन सच ऐज इज हैपेनिंग टुडे हेंस, गुरु इज नेसेसरी टु इज गो अदर दैन हायर सेल्फ। द सीड इज देयर इन एवरीबडी बट द फ्लावरिंग आव द सीड इज मोस्ट इंपार्टेंट ह्विच इज पासिबुल थ्रू द स्पिरिच्युअल गाइड।
—डा० इरा प्रोगाफ, साइकोलाजिस्ट आव द डेप्थ.

इसपर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आड़े हाथों लेते हुए कहा था कि हे अर्जुन ! तुमने अपनी नासमझी के कारण उस उपदेश को जो याद नहीं रखा, यह बात मुझे बिल्कुल पसंद नहीं आई। उन बातों का पूरा पूरा स्मरण अब संभव नहीं :

अबुद्धया नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥ १० ॥ (वही)

हे पांडुनंदन ! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी मेधाशक्ति बहुत मंद जान पड़ती है। हे धनंजय ! मैं अब उस उपदेश को ज्यों का त्यों नहीं कह सकता :

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पांडवः।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥ ११ ॥ (वही)

इस प्रकार अर्जुन को फटकार बताकर श्रीकृष्ण ने अनेक आख्यानों की सहायता से फिर उपदेश दिया जो 'अनुगीता' के नाम से प्रसिद्ध है। 'अनुगीता' के अंत में भी अनासक्ति योग की प्रशंसा तथा ममता का खंडन किया गया है :

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ ६ ॥
(अश्वमेध पर्व, अध्याय ५०)

जो विद्वान् समत्वयोग में स्थित हो श्रद्धा के साथ कर्तव्यकर्मों का अनुष्ठान करते हैं और उनके फल में आसक्त नहीं होते, वे धीर और उत्तम दृष्टिवाले माने गए हैं। 'मम' की भावना को मृत्यु ठहराते हुए आगे कहा गया है :

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्मशाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥२६॥
(अश्वमेध पर्व, अध्याय ५१)

दो अक्षरों का पद 'मम' मृत्युरूप है और तीन अक्षरों का पद 'न मम' यह मेरा नहीं है यह भाव शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति करानेवाला है।

वस्तुतः जब तक ममत्व बुद्धि बनी रहती है, तब तक आसक्ति दूर नहीं होती और सच्चा स्वास्थ्यलाभ भी तभी होता है जब हम ममत्व और आसक्ति से ऊपर उठ जाते हैं।

*

समुद्रगुप्त : मेहरौली-स्तंभ-अभिलेख का नरेश

ले० श्रीराम गोयल

देहली से नौ मील दक्षिण की ओर मेहरौली नामक स्थान पर सुप्रथित कुतुबमीनार के निकट रायपिथौरा के प्राचीन दुर्ग में स्थित लौहस्तंभ पर एक लेख उत्कीर्ण है, जो पिछले सवा सौ वर्षों से भारतीय विद्याविशारदों के लिये घोर वादविवाद का विषय बना हुआ है। इसमें एक शासक के एकाधिराज्य स्थापित करने और सुदूरस्थ स्थानों पर विजय प्राप्त करने का विवरण दिया गया है। प्रारंभ में यह अभिलेख देहली - लौह - स्तंभ - अभिलेख नाम से प्रसिद्ध था। कालांतर में फ्लीट ने इसे *'मेहरौली - लौह - स्तंभ अभिलेख' नाम दिया,* क्योंकि उनके विचार से मेहरौली नाम 'मिहिरपुरी' का विकृत रूप है और 'मिहिरपुरी' नाम हूणराज मिहिरकुल का स्मरण दिलाता है।[1]

'चंद्र' के अभिज्ञान की समस्या

वैमत्य का कारण — मेहरौली अभिलेख को सर्वप्रथम जेम्स प्रिंसेप ने १८३४ ई० में लेफ्टिनेंट विलियम इलियट द्वारा लिखित प्रतिलिपि से तैयार किए गए लिथोग्राफ की सहायता से प्रकाशित किया। उन्होंने इसमें उल्लिखित नरेश का नाम 'धाव' पढ़ा।[2] १८७१ ई० में भाऊदा जी ने इसका संशोधित पाठ सानुवाद प्रकाशित कराया। इसमें उन्होंने राजा का नाम 'चंद्र' पढ़ा। इस पाठ को फ्लीट ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ में मान्यता प्रदान की।[3] तब से भारतीय - विद्या - विशारद प्रायः निर्विवाद रूप से उस अभिलेख में उल्लिखित नरेश को 'चंद्र' नामधारी मानते रहे हैं। परंतु उसके अभिज्ञान के प्रश्न पर उनमें भारी वैमत्य है। भारतीय इतिहास में चंद्रगुप्त मौर्य से लेकर गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय

१. कॉर्पस, ३, पृ० १३९।
२. जे० ए० एस० बी०, ३, (१८३४), पृ० ४९४।
३. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १०, पृ० ६३।
४. फ्लीट, कार्पस, ३, पृ० १३९-४२।

विक्रमादित्य तक जितने 'चंद्र' नामधारी राजा हुए हैं उनमें प्रायः प्रत्येक को मेहरौली अभिलेख का 'चंद्र' सिद्ध करने की चेष्टा किसी न किसी विद्वान् ने की है। परंतु समस्या का सही समाधान ढूँढ़ने में किसी को सफलता नहीं मिली है। इस असफलता का कारण इस गुत्थी को गलत सिरे की ओर से सुलझाने की चेष्टा करना रहा है। बहुधा इस समस्या पर विचार करनेवाले पंडित भाऊदा जी और फ्लीट के इस सुझाव को निर्विवाद सत्य मानकर चले हैं कि इस प्रशस्ति में उल्लिखित नरेश का नाम 'चंद्र' था। तत्पश्चात् उन्होंने यह खोजने की चेष्टा की है कि 'चंद्र' नामधारी वह कौन सा भारतीय नरेश हो सकता है जिसको उन सफलताओं का श्रेय प्रदान किया जा सके, जिनका उल्लेख मेहरौली प्रशस्ति में हुआ है। परंतु जैसा कि खुद फ्लीट ने ध्यान दिलाया है[४] और एलन ने स्वीकृत किया है[५], मेहरौली अभिलेख की जिस पंक्ति में इस राजा का नाम दिया गया है, उसका अन्वय दूसरे प्रकार से करने पर यह भाव निकलता है कि वस्तुतः 'चंद्र' उसका व्यक्तिगत नाम नहीं था, वरन् उसके मुख की शोभा चंद्रमा के समान होने के कारण वह 'चंद्र' नाम से भी विख्यात था। इससे संकेत मिलता है कि उसका वास्तविक नाम कुछ और रहा होगा। इसलिये हमारा सुझाव है कि मेहरौली के 'चंद्र' का तादात्म्य स्थापित करने के लिये हमें पहले उसकी सफलताओं का अध्ययन करना चाहिए और तब यह विचार करना चाहिए कि किस भारतीय नरेश को उन सफलताओं को प्राप्त करने का श्रेय निस्संकोच दिया जा सकता है।

'चंद्र' के विषय में ज्ञात सुनिश्चित तथ्य

अभिलेख में प्रदत्त तथ्य – मेहरौली अभिलेख के अनुसार 'चंद्र' ने :

(१) बंग में संगठित रूप से आक्रमण करने के लिये उद्यत शत्रुओं को परास्त किया,

(२) सिंधु के सात मुखों (सप्तमुखानिसिंधोः) को पार करके वाह्लिकों पर विजय प्राप्त की,

(३) अपनी कीर्ति से दक्षिण जलनिधि को सुवासित किया,

(४) अपनी भुजाओं के बल से (स्वभुजार्जितम्) पृथिवी पर एकाधिराज्य' स्थापित किया और उसका चिरकाल तक (सुचिरम्) उपभोग किया तथा

१. वही, पृ० १४१; फु० नो० २।
२. ऐलन, कैटेलॉग, भू०, पृ० ३७।

(५) विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज (लौहस्तंभ) स्थापित किया।

कुछ व्युत्पादित तथ्य—इसके अतिरिक्त इस अभिलेख से कुछ अन्य तथ्य भी अप्रत्यक्षतः ज्ञात होते हैं। उदाहरणार्थ इससे मालूम होता है कि जिस समय यह उत्कीर्ण किया गया, 'चंद्र' संसार त्यागकर अपने दिव्य कर्मों से स्वर्ग में निवास कर रहा था लेकिन पृथिवी पर उसकी कीर्ति वर्तमान होने के कारण जीवित मालूम होता था। दूसरे शब्दों में मेहरौली अभिलेख उसका मरणोत्तर अभिलेख है। जैसा कि गोवर्धनराव शर्मा ने साग्रह कहा है, वाह्लीक और वंग में चंद्र के द्वारा शत्रुओं को पराजित किए जाने से यह संकेत मिलता है कि इन अभियानों के समय पंजाब, देहली उत्तर प्रदेश और बिहार इत्यादि उत्तर भारतीय प्रदेशों में शांति थी। दूसरे शब्दों में ये मध्यवर्ती प्रदेश इन युद्धों के लड़े जाने के पूर्व उसके साम्राज्य के अंग बन चुके थे। अतः मेहरौली अभिलेख में उल्लिखित इन युद्धों को उसके साम्राज्य का सीमायुद्ध मानना चाहिए।[१] श्री शर्मा का यह सुझाव निस्संदेह अत्यंत समीचीन है। परंतु अभाग्यवश उन्होंने अपने तर्क से एक अन्य आवश्यक निष्कर्ष न निकालकर उसे अधूरा छोड़ दिया है। मेहरौली - स्तंभ - लेख 'चंद्र' को 'स्वभुजार्जित एकाधिकाराज्य' स्थापित करने का श्रेय प्रदान करता है। उसका आशय केवल यही हो सकता है कि वंग और वाह्लिक प्रदेशों में प्राप्त विजयों के अतिरिक्त इस मध्यवर्ती साम्राज्य की स्थापना का महनीय कार्य भी उसने खुद ही किया था। अभाग्यवश इस तथ्य पर श्री शर्मा तथा अन्य विद्वानों ने इतना ध्यान नहीं दिया है जितना देना चाहिए था।

मेहरौली अभिलेख के अंतःसाक्ष्य के अतिरिक्त इसकी लिपि से भी इसमें उल्लिखित शासक की तिथि और उससे उसके अभिज्ञान की सहायता मिलती है। यद्यपि प्रारंभ में भाऊदा जी ने इस अभिलेख की लिपि को गुप्तोत्तरयुगीन माना था तथापि आजकल अधिकांश विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि पुरालिपिशास्त्र के आधार पर इसे प्रारंभिक गुप्तयुग में रखना चाहिए। प्रिंसेप ने इसे तीसरी या चौथी शताब्दी ई० की माना है और फ्लीट ने लोहे की कठोरता के कारण अक्षरों में उत्पन्न होनेवाले काठिन्य को छूट देते हुए, इसके अक्षरों को समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के अक्षरों के सदृश स्वीकृत किया है। इस मत का समर्थन मेहरौली स्तंभ की कला की समीक्षा करने से भी होता है। श्री फर्ग्युसन ने मेहरौली-स्तंभ के शीर्ष पर द्रष्टव्य फारसी प्रभाव के आधार पर इसकी तिथि चतुर्थ शताब्दी ई० का

१. आई० एच० क्यू० २१।

उत्तरार्ध घोषित की है। इससे स्पष्ट है कि 'चंद्र' निश्चित रूप से कोई प्रारंभिक गुप्त सम्राट अथवा उनके कुछ पहले शासन करनेवाला नरेश था।

कुछ विवादास्पद शब्दों की विवेचना

'वंग' शब्द का अर्थ — चंद्र के विषय में प्रदत्त उपर्युक्त तथ्यों में कुछ का अर्थ पूर्णतः असंदिग्ध नहीं है। उदाहरणार्थ 'वंगेषु' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। या तो यहाँ इससे बंगाल के निवासियों की ओर सामान्य संकेत किया गया है अथवा आधुनिक बंगाल के एक विशिष्ट प्रदेश की ओर। जो विद्वान् यह कहते हैं कि वंग की विजय सर्वप्रथम चंद्रगुप्त द्वितीय ने की थी और उसी ने इसे जीतकर पुंड्रवर्धन भुक्ति के रूप में परिणत किया था वे स्पष्टतः इसका प्रथम अर्थ ग्रहण करते हैं क्योंकि पुंड्रवर्धनभुक्ति में आधुनिक बंगाल का उत्तरी भाग सम्मिलित था जब कि बंगाल के एक विशिष्ट प्रदेश के नाम के रूप में वंग से तात्पर्य संभवतः दक्षिणी बंगाल में गंगा के मुहानेवाले प्रदेश से होता था। रघुवंश में इसी प्रदेश को वंग कहा गया है।[1] इसके पूर्व में हुगली, पश्चिम में ब्रह्मपुत्र, उत्तर में वारेंद्र (पुंड्रवर्धन) तथा दक्षिण में बंगाल की खाड़ी माने गए हैं। हरिकेल और समतट इसमें संमिलित थे या नहीं, कहना कठिन है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प[2] में वंग, हरिकेल और समतट का एक साथ उल्लेख हुआ है। १२वीं शताब्दी ई० के गुजराती लेखक हेमचंद्र और जयमंगला के लेखक यशोधर[3] ने हरिकेल और वंग को एक बताया है। इत्सिंग[4] के अनुसार हरिकेल पूर्वी भारत[5] की पूर्वी सीमा था। अन्य साक्ष्य से भी हरिकेल का समुद्र तटवर्ती होना सिद्ध होता है। इससे लगता है कि इसमें समतट (दक्षिण पूर्वी बंगाल) भी संमिलित था। उस अवस्था में यह निष्कर्ष निकलेगा कि लगभग संपूर्ण दक्षिणी और दक्षिण पूर्वी बंगाल को सामान्यतः वंग नाम से पुकारा जाता था। इस निष्कर्ष का समर्थन १३वीं शताब्दी ई० के नरेश विश्वरूपसेन के मदनपाड ताम्रपत्र अभिलेख से भी होता है जिसमें फरीदपुर जिले में स्थित कोटालिपाडा को वंग में स्थित बताया गया है।[6]

१. रघुवंश, ४।३६।
२. पॉल, अ० हि० बं०, १, पृ० ३४।
३. मजूमदार र० च०, हि० बं०, १, पृ० १२।
४. मजूमदार, वही।
५. वही, पृ० १७।
६. डी० आर० भंडारकर वॉल्यूम, पृ० ३५६, फु० नो० २।

'सप्तमुखानिसिन्धोः' का अर्थ — 'सप्तमुखानिसिन्धोः' पद का तात्पर्य क्या है, इसके विषय में भी विद्वानों ने विभिन्न मत रखे हैं। एस० के० आयंगर,[1] राधागोविंद बसाक[2], सुधाकर चट्टोपाध्याय[3] तथा अन्य अनेक विद्वानों ने इसको 'सिंधु नदी का मुहाना' अर्थ में ग्रहण किया है। डॉ० दि० चं० सरकार ने पूरी प्रशस्ति के वर्णन को रूढ़ अर्थ में लिया है। उनका कहना है कि मेहरौली अभिलेख में 'चंद्र' की दिग्विजय का वर्णन साहित्य और अभिलेखों में मिलनेवाली दिग्विजय के परंपरागत वर्णन से सादृश्य रखता है। भारत में प्राचीन काल से ही चक्रवर्ती क्षेत्र की कल्पना थी जिसके उत्तर में हिमालय, दक्षिण में मलय या महेंद्र पर्वत अथवा दक्षिण पयोधि, पूर्व उदयाचल अथवा लौहित्य नदी और पश्चिम में पश्चिम पयोधि अथवा मंदार पर्वत माने जाते थे। यशोधर्मन की दिग्विजय का विवरण इस प्रकार के परिपाटीबद्ध वर्णन का अच्छा उदाहरण है। मेहरौली - स्तंभ-लेख में उल्लिखित वाह्लीक प्रदेश, दक्षिण जलनिधि, वंग और 'सप्तमुखानिसिन्धोः' भी इसी प्रकार 'चंद्र' की दिग्विजय की उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी सीमा माने जा सकते हैं। स्पष्टतः डॉ० सरकार उपर्युक्त विद्वानों के समान 'सप्तमुखानिसिन्धोः' का अर्थ 'सिंधु नदी का मुहाना' मानते हैं।[4]

परंतु, जैसा डॉ० र० च० मजूमदार ने ध्यान दिलाया है, 'सप्तमुखानिसिन्धोः' से 'सिंधु का मुहाना' अर्थ ग्रहण करना नितांत भ्रामक है।[5] एक तो संस्कृत में नदी के मुख से तात्पर्य मुहाने से न होकर 'उद्गम स्थान' से होता है। इसलिये यहाँ पर इस पद का वही अर्थ मानना अधिक समीचीन होगा जो 'सप्तसिंधु' पद से ग्रहण किया जाता है। दूसरे शब्दों में प्रशस्तिकार के अनुसार 'चंद्र' ने 'सप्तसिंधु' (संभवतः पंजाब की पाँच नदियाँ और काबुल तथा कुनार) को पार किया था। 'सप्तमुखानिसिन्धोः' का यह अर्थ अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्राचीन काल में अगर सिंधु और उसके अतिरिक्त छः नदियों को संमिलित रूप से सप्तसिंधु कहा जा सकता था तो सिंधु के सप्तमुखों का उल्लेख भी हो सकता था। दूसरे, 'सप्तमुखानिसिंधोः' पद से 'सिंधु' का मुहाना अर्थ ग्रहण करना निश्चयतः असंगत है क्योंकि इस अर्थ को स्वीकृत करने से यह बताना

१. आयंगर, एस० के०, रा० इ० सा० इ० हि० क०, १, पृ० १६८।
२. बसाक, हि० नॉ० ई० इ०, पृ० १४।
३. चट्टोपाध्याय, एस०, अ० हि० ना० इ० पृ० १७०।
४. पी० वी० काणे कमेमरेशन वॉल्यूम (१९४१), पृ० ४९१।
५. जे० आर० ए० एस० बी० (एल०), ३, पृ० १७६ और आगे।

असंभव हो जाता है कि 'चंद्र' 'सप्तामुखानिसिंधोः' को पार करके बाह्लिक प्रदेश अर्थात् बैक्ट्रिया या बल्ख किस प्रकार पहुँच सकता था। डॉ० सरकार खुद बाह्लिल प्रदेश का तादात्म्य बैक्ट्रिया से स्थापित करते हैं परंतु इसके साथ चक्रवर्ती क्षेत्र की कल्पना को 'मेहरौली - अभिलेख के वर्णन से संबद्ध करने का प्रयास भी करते हैं जिससे बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उनके दोनों सुझावों से केवल एक निष्कर्ष निकालना संभव है, और वह यह कि 'चंद्र' सिंधु के मुहाने को पार करके बैक्ट्रिया पहुँचा। परंतु स्पष्टतः ऐसा अनुमान करना उत्तर - पश्चिमी भारत के भूगोल से अपरिचय दिखाना मात्र होगा। वस्तुतः मेहरौली अभिलेख के वर्णन का चक्रवर्ती क्षेत्र की कल्पना से कोई संबंध नहीं है; क्योंकि न तो साहित्य में किसी स्थल पर वंग को ऐसे क्षेत्र की पूर्वी सीमा माना गया है और न बाह्लिक प्रदेश को उत्तरी सीमा। मेहरौली प्रशस्ति का वर्णन निश्चयतः तथ्यात्मक है और 'चंद्र' की विशिष्ट विजयों का विवरण प्रदान करता है।

'बाह्लिक' शब्द का अर्थ—बहुत से विद्वानों से इस समस्या को सुलझाने के लिये यह सुझाव रखा है कि 'चंद्र' ने जिन बाह्लिको को पराजित किया था वे हिंदुकुश के पार वंतु की घाटी मे नहीं वरन् पंजाब में विपाशा (व्यास) के तटवर्ती प्रदेश मे निवास करते थे। इस मत का विशेष रूप से प्रतिपादन डा० डी० आर० भंडारकर[1], डॉ० एस० के० आयंगर[2] और राधागोविंद बसाक[3] ने किया है। उनके मत का आधार मुख्यतः रामायण में प्रदत्त एक श्लोक है जिसमें विष्णुपद, विपाशा और शाल्मली को परस्पर निकटवर्ती और बाह्लिक देश में स्थित बताया गया है।[4] एलन के विचार से भी बाह्लिक शब्द चौथी शताब्दी ई० तक पहलव और यवन शब्दों के समान भारत में विदेशी आक्रमणकारियों के लिये प्रयुक्त होनेवाला सामान्य शब्द हो गया था। इसलिये उन्हें भी मेहरौली के बाह्लिकों को भारत का निवासी मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[5]

१ ज० आं० हि० रि० सो०, १०, पृ० ८१।
२. आयंगर, वही।
३. बसाक, वही।
४. वयुर्मध्येन बाह्लिकान् सुदामानम् च पर्वतम्।
विष्णोः पदम् प्रेक्षमाणाविपाशाम् चापि शाल्मलीम्॥
—रामा० २।६८।१८-१९।
५. एलन, वही, पृ० ३९।

परंतु 'वाह्लिके' शब्द की यह व्याख्या अत्यंत भ्रामक तर्कों पर आधारित है। एक तो मेहरौली स्तंभ अभिलेख की इस स्पष्ट उक्ति के विरुद्ध, कि 'चंद्र' ने सिंधु के सात मुखों को पार करके वाह्लिकों को पराजित किया, यह मानना कि उसके द्वारा पराजित वाह्लिक बल्ख या बैक्ट्रिया के निवासी न होकर पंजाब के निवासी थे, खुद अभिलेख के साक्ष्य के विरुद्ध जाना है, क्योंकि निश्चयत: विपाशा तक पहुँचने के लिये चंद्र' को 'सप्तमुखानिसिंधोः' अर्थात् 'सप्तसिंधु' को पार करने की आवश्यकता नहीं थी। दूसरे, जैसा डॉ॰ सरकार ने प्रदर्शित किया है, रामायण का उपर्युक्त पाठ संभवतः अशुद्ध है।[1] महाभारत और पुराणों में अनेक स्थलों पर पंचनद-अथवा पंजाब को 'वाहीक' देश कहा गया है। महाभारत में कर्णपर्व में शल्य द्वारा शासित राज्य को पंचनद और वाहीक तथा वहाँ के रहनेवालों को मद्रक, आर्तिक और आरट्ट कहा गया है। दूसरे शब्दों में मद्रक आर्तिक और आरट्ट संमिलित रूप से वाहीक नाम से पुकारे गए गए हैं। लेकिन महाभारत के इसी पर्व में एक स्थल पर केवल विपाशा प्रदेश के निवासियों को 'वही' और 'हीक' नामक पिशाचों की संतान होने के कारण 'वाहीक' कहा गया है।[2] स्पष्ट है कि मूलतः केवल विपाशा के तटवर्ती प्रदेश के निवासी वाहीक कहलाते थे। कालांतर में यह नाम पंजाब की सब जातियों के लिये प्रयुक्त होने लगा। विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रामायण में उक्त श्लोक में उल्लिखित 'वाह्लिकान्' पाठ अशुद्ध है। वास्तव में यहाँ रामायण के लेखक का तात्पर्य 'वाह्लिकान' से नहीं वरन् उस जाति से है जिसे महाभारत में 'वाहिकान्' कहा गया है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि रामायण के एक मात्र श्लोक के आधार पर (जिसका 'वाह्लिकान्' पाठ संभवतः अशुद्ध है) मेहरौली के वाह्लिकों को पंजाब का निवासी मानना भूल होगी। वाह्लिक शब्द का अर्थ निर्विवाद रूप से बल्ख अथवा बैक्ट्रिया मानना चाहिए। बैक्ट्रिया को पहलवी भाषा में बाख्त अथवा बह्ल कहते थे। इसी से संस्कृत का 'वाह्लिक' शब्द निकला है, जबकि 'वाहीक' शब्द की व्युत्पत्ति खुद महाभारत में वही' और 'हीक' पिशाचों के नामों से बताई गई।

कुछ विद्वानों ने आग्रह किया है कि मेहरौली प्रशस्ति में उल्लिखित वाह्लिक प्रदेश विपाशा का तटवर्ती प्रदेश ही होना चाहिए क्योंकि रामायण के उक्त श्लोक

1. सरकार, दि॰ च॰, वही।
2. वहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ।
तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः ॥
—महा॰ कर्ण॰, ४४।१०।

में वहाँ पर विष्णुपद की स्थिति का निर्देश भी है जिसका उल्लेख मेहरौली अभिलेख में किया गया है। परंतु स्मरणीय है कि विष्णुपद पर्वत वाह्लिक प्रदेश में था ऐसा कोई संकेत अभिलेख नहीं देता। इसलिये इन दोनों को अलग अलग स्थान पर स्थित मानने में कोई दोष नहीं है। उदाहरण के लिये डॉ० जायसवाल ने विष्णुपद को हरिद्वार के समीप अवस्थित माना है जबकि वाह्लिक का तादात्म्य बैक्ट्रिया से स्थापित किया है।

दक्षिण में प्राप्त सफलता की प्रकृति :—'चंद्र' की दक्षिण में प्राप्त सफलता का वर्णन अस्पष्ट होने के कारण इसमें कुछ भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हो गई हैं। और विद्वानों को यह अवसर मिल गया है कि वे इसकी व्याख्या मनमाने ढंग से कर लें। परतु अभिलेख की तथ्यात्यमक भाषा को देखते हुए यह स्वीकृत करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि 'चंद्र' ने दक्षिणापथ में अवश्य ही कोई विशेष महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की थी। हमारे विचार से किसी राजा के लिये इस प्रकार की सफलता प्रकृत्या राजनीतिक और सैनिक ही हो सकती है। कम से कम 'चंद्र' ने दक्षिण भारतीय राजाओं के पास अपने दूत भेजने और व्यापारिक तथा वैवाहिक संबंध स्थापित करने से कोई महत्तर कार्य अवश्य किया होगा। क्योंकि यह मानना कि केवल वैवाहिक और व्यापारिक संबंध स्थापित करके वंग से लेकर वाह्लिक प्रदेश तक विजय प्राप्त करनेवाले नरेश के विषय में अभिलेख में यह दावा किया जाएगा कि दक्षिण जलनिधि उसकी कीर्ति से सुवासित हो रहा था, नितांत हास्यास्पद और 'चंद्र' की महत्ता को जान बूझकर कम करना होगा।

प्रचलित मतों की समीक्षा

क्या 'चंद्र' प्राक्-गुप्तयुगीन नरेश था ?—'चंद्र' के अभिज्ञान की समस्या सुलझाने के लिये अभी तक जितने सुझाव आए हैं उनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में हम उन विद्वानों के सुझावों को रख सकते हैं, जिन्होंने उसे प्राक् गुप्तयुगीन नरेश माना है और दूसरे में उनके सुझावों को जो उसे गुप्तवंशीय नरेश मानते हैं। पहले वर्ग के विद्वानों में सर्वश्री एच० सी० सेठ[1], रमेशचंद्र मजूमदार[2], हरप्रसाद शास्त्री[3] तथा हेमचंद्र रायचौधरी[4] उल्लेखनीय हैं।

१. जे० आई० एच, १६।
२. जे० आर० ए० एस० बी० (एल), ३, पृ० १७९।
३. इ० आई, १२०।
४. पो० हि० ए० इ० पृ० ४८१।

इन्होंने 'चंद्र' को क्रमशः चंद्रगुप्त मौर्य, कनिष्क प्रथम, पुष्करण का स्वामी चंद्रवर्मन् तथा 'चंद्रांश और सदाचंद्र नामक नागराजाओं में से कोई एक' माना है। परंतु इनमें कोई भी सुझाव ऐसा नहीं है जिसको स्वीकृत करने से मेहरौली अभिलेख के उपर्युक्त तथ्यों की संतोषजनक मीमांसा की जा सके। इनमें पहले दो मत विशुद्ध पुरालिपिशास्त्रीय दृष्टि से अस्वीकृत किए जा सकते हैं और शेष दो समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति के कारण। इस अभिलेख से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के द्वारा साम्राज्य स्थापन के समय उत्तरी भारत अनेक लघुराज्यों में विभाजित था, जिनको पराजित किए बिना मालवा अथवा उत्तर प्रदेश के किसी राजा के लिये पंजाब से लेकर बंगाल तक विस्तृत राज्य स्थापित करना असंभव था। खुद समुद्रगुप्त को भी यही करना पड़ा था। इसलिये, और ऐसी ही अन्य अनेक कठिनाइयों के कारण, इन मतों में श्रद्धा रखनेवाले विद्वानों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है।[1]

चंद्रगुप्त प्रथम विषयक मत—गुप्त वंशीय राजाओं में 'चंद्र' का तादात्म्य प्रायः चंद्रगुप्त प्रथम अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय से स्थापित किया जाता है। इनमें चंद्रगुप्त प्रथम के मुख्य समर्थक रहे हैं एस० के० आयंगर[2] तथा राधागोविंद बसाक। लेकिन यह सुझाव भी ऐसी मान्यताओं पर आधृत है जिनका प्रमाण केवल उनकी कल्पना शक्ति है। उदाहरणार्थ इन विद्वानों का चंद्रगुप्त प्रथम को एकाधिराज्य की स्थापना का श्रेय देना नितांत निराधार प्रयास है। पुराणों में प्रदत्त गुप्त साम्राज्य का विवरण; जिसमें इसके अंतर्गत केवल गंगा के तटवर्ती प्रदेश, प्रयाग, मगध और साकेत रखे गए हैं, संभवतः चंद्रगुप्त प्रथम के साम्राज्य की सीमाओं का ही विवरण है।[4] दूसरे, प्रयाग प्रशस्ति से समुद्रगुप्त की दिग्विजय के समय की उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था का जो चित्र उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अगर चंद्रगुप्त प्रथम ने समस्त मध्यदेशीय साम्राज्य स्थापित करने और 'सप्तमुखानिसिंधोः' को पार करके बाह्लिक प्रदेश को जीतने का चेष्टा की होती तो उसे प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित उन सब राजाओं और गणतंत्रों का विरोध सहना पड़ता जिनका दमन बाद में समुद्रगुप्त ने किया। दूसरे शब्दों में, प्रयाग प्रशस्ति का साक्ष्य इस अभिमत के पूर्णतः प्रतिकूल है। डॉ० आयंगर और बसाक महोदय का बाह्लिकों को पूर्वी पंजाब में रखने का प्रयास भी, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, सर्वथा निष्फल माना जाना चाहिए। क्योंकि अगर

१. विस्तृत आलोचना के लिये द्र०, आई० एच० क्यू०, ११।

२. आयंगर, वही।

३. बसाक, वही।

४. विष्णु पुराण, विल्सन का अनुवाद, पृ० ४७०।

तर्क के हेतु स्वयं मेहरौली अभिलेख के साक्ष्य के विरुद्ध यह मान भी लिया जाय कि 'चंद्र' द्वारा पराजित वाह्लिक 'सप्तमुखानिसिन्धो' : के पार नहीं वरन् पूर्वी पंजाब में थे, तब भी यह विश्वास दिलाने के लिये युक्तियों का पूर्णत: अभाव है कि चंद्रगुप्त प्रथम के पास इतनी शक्ति और साधन थे कि वह बंगाल और वाह्लिक में विजय प्राप्त कर पाता। ध्यातव्य है कि यहाँ हम किसी तीर्थयात्रा के विषय में यह जानने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं कि उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये कोई मार्ग उपलब्ध था अथवा नहीं, वरन् एक महान् सम्राट् की दिग्विजय का अध्ययन कर रहे हैं। 'चंद्र' के अभिज्ञान की समस्या को हल करते समय हमें मेहरौली अभिलेख के संपूर्ण वातावरण को भी ध्यान में रखना चाहिए। मेहरौली अभिलेख निश्चित रूप से पाठक के मन में एक ऐसे शक्तिशाली नरेश का चित्र उत्पन्न करता है जिसने समस्त उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थपित किया था, दक्षिण भारत में अतुल कार्ति अर्जित की थी और जिसके पास बंग में युद्ध के लिये संनद्ध शत्रुओं का अनायास दमन करने और सप्तसिंधु को पारकर वाह्लिकों पर विजय प्राप्त करने योग्य शक्ति थी। चंद्रगुप्त प्रथम के पास न इतनी शक्ति थी और न साधन। उसने दक्षिण भारत में किसी प्रकार की सफलता प्राप्त की थी यह भी अभी तक अनुमान मात्र है। साहित्यिक, मौद्रिक अथवा आभिलेखिक, किसी प्रकार साक्ष्य से भी उसके दक्षिणापथ के साथ संबंध पर प्रकाश नहीं पड़ता। उसके लिये प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् वाकाटकों का दमन करना और तत्पश्चात् पश्चिमी भारत में शक क्षत्रपों को पराजित करना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव बातें थीं। उसके तथा वाकाटक साम्राज्य और क्षत्रप राज्य के मध्य स्वतंत्र गणतंत्रों की एक शृंखला थी जिसे तोड़े बिना उसके लिये वहाँ तक पहुँचना असंभव था। अतः हम केवल डॉ॰ आयंगर और श्री बसाक के अनुमान के बल पर उसे उन सफलताओं का श्रेय नहीं दे सकते जिनको प्राप्त करना उसकी शक्ति के परे था।

चंद्रगुप्त द्वितीय विषयक मत

चंद्रगुप्त द्वितीय के समर्थकों के आग्रह — सर्वश्री का॰ प्र॰ जायसवाल,[१] दंडेकर[२] मुखर्जी[३], गंगाप्रसाद मेहता[४], दिनेशचंद्र सरकार[५], सु॰ चट्टोपाध्याय[६], मो॰ रा॰

१. जायसवाल, का॰ प्र॰, हिस्टरी ऑव इंडिया, पृ॰ १२७।
२. दंडेकर, हि॰ गु॰, पृ॰ ८६-७।
३. मुखर्जी, रा॰ कु॰, गु॰ ए॰ पृ॰ ६१-३।
४. मेहता, गं॰ प्र॰, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, पृ॰ २३-८।
५. सरकार, दि॰ च॰, स॰ इं॰।
६. चट्टोपाध्याय, एस॰, वही, पृ॰ १६६-७०।

शर्मा[1] तथा आर० सी० कर[2] इत्यादि विद्वानों ने 'चंद्र' का तादात्म्य चंद्रगुप्त द्वितीय के साथ स्थापित किया है। हार्नले ने भी पुरालिपिशास्त्र के आधार पर उसके अभिलेख का समय लग० ४१० ई० माना था। यह मत आजकल सर्वाधिक श्रद्धेय माना जाता है। इन विद्वानों के तर्कों को समवेत इस प्रकार रखा जा सकता है :

(१) विशाखदत्त के 'देवीचंद्रगुप्तम्' नाटक से चंद्रगुप्त द्वितीय के जीवन पर जो नया प्रकाश मिला है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह एक साहसी और निर्भीक व्यक्ति था। उसकी पश्चिमी भारत में शकों पर विजय तथा उसके साहसांक और विक्रमादित्य विरुद भी उसके युद्धप्रिय शासक होने के साक्षी हैं। हो सकता है, समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त को निर्बल जानकर 'देवपुत्रषाहिषाहानुषाहि' ने समुद्रगुप्त से खोई पराजय का प्रतिशोध लेने के लिये आक्रमण किया हो और उसकी 'कन्योपायनदान' नीति का बदला लेने के लिये गुप्तसम्राज्ञी को माँगा हो। हो सकता है, चंद्रगुप्त द्वितीय ने उसी समय इस कंटक को दूर करने की प्रतिज्ञा की हो और सिंहासन पर अधिकार करते ही अपनी प्रतिज्ञा पूरा करने के लिये वाह्लिकों पर आक्रमण कर दिया हो। जायसवाल, दि० च० सरकार और गो० रा० शर्मा ने चंद्रगुप्त द्वितीय द्वारा पराजित वाह्लिकों को बल्ख का निवासी माना है और गंगाप्रसाद मेहता, सु० चट्टोपाध्याय और आर० सी० कर ने उन्हें सिंधु के मुहाने के पार बलूचिस्तान अथवा पूर्वी पंजाब का।

(२) जहाँ तक बंगाल की विजय का संबंध है, श्री शर्मा के अनुसार यह संभव है कि जिस समय पश्चिम से विदेशी आक्रमण हो रहे थे और रामगुप्त अपने को असहाय अनुभव कर रहा था, समतट और डवाक के शासकों ने, जिन्हें समुद्रगुप्त ने जीता था, विद्रोह कर दिया हो और चंद्रगुप्त को उनका दमन करने के लिये युद्ध करना पड़ा हो। मेहरौली अभिलेख से स्पष्ट है कि यह युद्ध 'चंद्र' ने अपनी इच्छा से प्रारंभ नहीं किया था वरन् विरोधी राजाओं के संघ का दमन करने के लिये लड़ा था। चंद्रगुप्त द्वितीय ने इन राज्यों को दबाकर अपने साम्राज्य का प्रांत, पुंड्रवर्धन भुक्ति बना डाला। श्री आर० सी० कर का कहना है कि ये प्रदेश निश्चित रूप से कुमारगुप्त प्रथम के साम्राज्य में संमिलित थे, परंतु

१. आई० एच० क्यू०, २१।

२. आई० एच० क्यू०, २१, पृ० १८७ और आगे।

समुद्रगुप्त ने उनको जीता था, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिये इन्हें जीतने का श्रेय चंद्रगुप्त द्वितीय को देना सर्वथा न्यायसंगत होगा।

(३) चंद्रगुप्त द्वितीय का दक्षिण के साथ घनिष्ठ संबंध था इसे सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि उसने दक्षिण के वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह किया था। रुद्रसेन की मृत्यु हो जाने पर प्रभावती गुप्ता अपने अल्पवयस्क पुत्रों की संरक्षिका बनी। उस समय चंद्रगुप्त द्वितीय को वाकाटक राजनीति को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त हुआ। सतारा से प्राप्त ११११ गुप्त सिक्के, जिनमें अधिकांश चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त के हैं, इस प्रदेश में गुप्तप्रभाव के साक्षी हैं। भोज, राजशेखर और क्षेमेंद्र के अनुसार विक्रमादित्य ने 'कुंतलेश्वर' के पास कालिदास को अपना दूत बनाकर भेजा था। अनेक पंडित यह स्वीकृत करते हैं कि विक्रमादित्य चंद्रगुप्त द्वितीय ही हो सकता है। तालगुंड अभिलेख से पता चलता है कि पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में, अथवा इसके आसपास कुंतल के कदंब शासक काकुत्स्थवर्मन ने किसी गुप्त नृप के साथ अपनी राजकुमारी का विवाह किया था। अब यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि यह विवाह संधि चंद्रगुप्त द्वितीय के साथ की गई थी। इन सब साक्ष्यों पर समवेत रूप से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय का दक्षिण भारत से अत्यंत घनिष्ठ संबंध था।

(४) चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपने भाई की हत्या करके राज्य प्राप्त किया था और इसके लिये अपने जीवन को संकट में डाला था, इसलिये वह मेहरौली अभिलेख में यह दावा कर सकता था कि उसने अपनी भुजाओं की शक्ति से पृथ्वी पर एकाधिराज्य स्थापित किया।

(५) चंद्रगुप्त द्वितीय ने कम से कम ३३ वर्ष राज्य किया था। अतः वह मेहरौली अभिलेख की 'सुचिरम्' राज्य करने की शर्त भी पूरी करता है।

(६) चंद्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य में समस्त मध्यदेशीय प्रदेश था। अतः वंग और वाह्लिक प्रदेश में लड़े जानेवाले युद्ध उसके साम्राज्य के सीमांत युद्ध हो सकते थे। शक्ति और साधनों की दृष्टि से भी वह इन युद्धों को लड़ने में समर्थ था।

(७) चंद्रगुप्त द्वितीय को उसके अपने कुछ अभिलेखों में और उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में 'परमभागवत' कहा गया है। 'परमभागवत' निश्चित रूप से वैष्णव विरुद है और 'परमवैष्णव' का पर्यायवाची है। इससे चंद्रगुप्त की वैष्णव धर्म के प्रति अभिरुचि स्पष्ट हो जाती है।

(८) मेहरौली अभिलेख की लिपि को अब प्रायः निर्विवाद रूप से ४०० ई० के आस पास की स्वीकृत किया जाता है। महान् पुरालिपिशास्त्री हौर्नले ने इसका समय ४१० ई० माना है। यह तथ्य चंद्रगुप्त द्वितीय और मेहरौली के 'चंद्र' के तादात्म्य विषयक मत के साथ संगति रखता है।

(९) भाषा और शैली की दृष्टि से भी मेहरौली अभिलेख का यह समय प्रतीत होता है। पं० क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय का अनुमान है कि संभवतः मेहरौली अभिलेख का रचयिता चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के उदयगिरि गुहा अभिलेख का लेखक वीरसेन साब था क्योंकि दोनों अभिलेखों की शैली में असाधारण सादृश्य है।

चंद्रगुप्त द्वितीय विषयक मत की आलोचना — उपर्युक्त सभी मतों में यह मत आजकल सर्वाधिक तर्कपूर्ण और श्रद्धेय माना जाता है। परंतु इसके समर्थकों द्वारा प्रदत्त युक्तियों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तुतः अन्य सभी मतों की अपेक्षा यह मत कल्पना पर अधिक निर्भर है, ठोस तथ्यों पर कम। इस मत के समर्थन में जितने तर्क दिए गए हैं उनमें अधिकांश 'यह संभव है', और 'यह हो सकता है' पद से प्रारंभ होते हैं। दूसरे शब्दों में, मेहरौली के 'चंद्र' ने जो सफलताएँ प्राप्त कीं उनका श्रेय चंद्रगुप्त द्वितीय को देने के लिये हमें अनुमान और कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है।

उदाहरण के लिये 'चंद्र' की वाह्लिक विजय को ही लीजिए। चंद्रगुप्त ने इस प्रदेश को जीता था, इसका कोई प्रमाण चंद्रगुप्त के समर्थक नहीं खोज पाए हैं। चंद्रगुप्त का स्त्रीवेश में जाकर शकराज को मारना, उसका अपने भाई की हत्या करना और साहसांक तथा विक्रमादित्य विरुद धारण करना इस बात को सिद्ध करना तो दूर रहा, इसका संकेत तक नहीं देते कि उसने 'सप्तमुखानिसिन्धोः' को पार करके वाह्लिकों को पराजित किया था। यह विचार भी केवल कल्पना-प्रसूत है कि जब रामगुप्त के शासनकाल में 'देवपुत्र षाहिषानुषाहि' ने आक्रमण किया तभी चंद्रगुप्त द्वितीय ने वाह्लिकों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया था। संभवतः इस सुझाव के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि रामगुप्त पर आक्रमण करनेवाला राजा शक था, 'देवपुत्रषाहिषाहानुषाहि' नहीं। चंद्रगुप्त का पश्चिमी भारत के शकों को उन्मूलित करना स्पष्टतः सर्वथा पृथक् घटना है, क्योंकि कल्पना की किसी उड़ान से भी पश्चिमी भारत के शकों का संबंध वल्ख से स्थापित नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार बंगाल में चंद्रगुप्त द्वितीय के द्वारा विद्रोह का दमन किया जाना भी इन विद्वानों की उन्मुक्त कल्पना और 'यह संभव है' तथा 'यह हो सकता है'

शैली के तर्कों का नमूना है। किसी भी साक्ष्य से हमें यह संकेत नहीं मिलता कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समय बंगाल में विद्रोह हुआ था और समतट तथा डवाक के शासकों ने संबद्ध होकर उसपर आक्रमण किया था, जिसका प्रतिरोध उसे करना पड़ा।

'चंद्र' और चंद्रगुप्त द्वितीय के तादात्म्य का समर्थन करनेवाले विद्वानों की शेष युक्तियाँ या तो इस प्रसंग में असंगत अथवा पूर्णतः निस्सार हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय का दक्षिण से संबंध स्थापित करने के हेतु जो तर्क दिए गए हैं वे इस दृष्टि से उदाहरणीय हैं। कुमारगुप्त की सतारा से प्राप्त मुद्राएँ, चाहे वे सहस्रों की संख्या में क्यों न हों, चंद्रगुप्त द्वितीय की कीर्ति का कारण नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार यह भी नितांत अस्पष्ट है कि किस प्रकार कुंतलेश्वर के दरबार में राजदूत भेजने और कदंब तथा वाकाटकों के साथ विवाह संबंध स्थापित करने से दक्षिण जलनिधि चंद्रगुप्त की कीर्ति से सुवासित हो सकता था। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है कि कदंबनरेश का काकुस्थवर्मन के साथ विवाह-संधि करनेवाला गुप्तनरेश चंद्रगुप्त द्वितीय ही था। यह असंभव नहीं है कि कदंबनरेश का काकुस्थवर्मन के साथ संधि करनेवाला और कालिदास को कुंतलेश्वर की राजसभा में भेजनेवाला व्यक्ति खुद समुद्रगुप्त रहा हो।

चंद्रगुप्त द्वितीय को केवल अपनी भुजाओं से 'एकाधिराज्य' स्थापित करने का श्रेय देने के लिये भी उसके समर्थक विद्वानों ने इसी प्रकार असंगत साक्ष्य को कल्पना की सहायता से संगत बनाने की चेष्टा की है। यह सर्वथा स्वीकार्य है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के अधिकार में समस्त मध्यदेशीय प्रदेश था और बंगाल तथा वाह्लिक में लड़े जानेवाले युद्ध उसके साम्राज्य के सीमांत युद्ध हो सकते थे। परंतु यह आग्रह करना कि उसने यह साम्राज्य अपनी भुजाओं की शक्ति से स्थापित किया था समुद्रगुप्त के साथ अन्याय करना है। क्योंकि जिस साम्राज्य को चंद्रगुप्त द्वितीय ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया उसके वास्तविक निर्माता समुद्रगुप्त ने तो अपने भाई को मारकर इसको अधिकृत किया था। उसके लिये अपने अग्रज की हत्या करना उचित था अथवा नहीं, यह प्रश्न इस प्रसंग में निस्सार है। यहाँ पर केवल इतना निवेदन किया जा सकता है कि भाई को मारकर सम्राट् बन जाने से किसी को यह दावा करने का अधिकार नहीं मिल जाता कि उसने पृथ्वी पर अपनी भुजाओं के बल से एकाधिकार स्थापित किया था।

जहाँ तक मेहरौली अभिलेख की लिपि, भाषा और शैली का संबंध है, इनसे केवल इतना निष्कर्ष निकलता है कि संभवतः इस अभिलेख को चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में उत्कीर्ण किया गया था। परंतु हम देख चुके हैं कि मेहरौली अभिलेख मरणोत्तर अभिलेख है। इसलिये इस निष्कर्ष से यह संकेत

मिलता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय, जिसके शासनकाल में संभवतः इस अभिलेख को को उत्कीर्ण किया गया, इस अभिलेख में उल्लिखित नरेश नहीं हो सकता। इसमें उल्लिखित नरेश वस्तुतः उसका पिता समुद्रगुप्त रहा होगा जिसकी कीर्ति से दक्षिण जलनिधि चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भी सुवासित हो रहा था।

समुद्रगुप्त और 'चंद्र' की अभिन्नता

मेहरौली और प्रयाग अभिलेखों की तुलना – समुद्रगुप्त की दिग्विजय का सर्वाधिक विश्वसनीय और विस्तृत विवरण हमें उसकी प्रयाग प्रशस्ति में मिलता है। यदि इस प्रशस्ति में प्रदत्त तथ्यों की मेहरौली अभिलेख में चंद्र के विषय में प्रदत्त तथ्यों के साथ तुलना की जाय तो दोनों में सादृश्य ही दृष्टिगोचर नहीं होगा वरन् ऐसा लगेगा मानों प्रयाग अभिलेख में जिन तथ्यों का विस्तारशः वर्णन किया गया है, मेहरौली अभिलेख में उसको संक्षिप्त करके लिख दिया गया है।

समुद्रगुप्त द्वारा 'एकाधिराज' की स्थापना — मेहरौली अभिलेख में कहा गया है 'चंद्र' ने अपनी भुजाओं के बल से 'एकाधिराज्य' स्थापित किया था। जैसा कि ऐलेन महोदय ने आनुषंगिक रूप से कहा है कि यह कथन चंद्रगुप्त प्रथम से अधिक चंद्रगुप्त द्वितीय पर और चंद्रगुप्त द्वितीय से अधिक समुद्रगुप्त पर लागू होता है।[1] प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नौ राजाओं का उन्मूलन करके और कितने ही गणतंत्रों को पराजित करके तथा सीमांत राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश करके उत्तरी भारत में अपनी सत्ता स्थापित की थी। इसलिये हरिषेण ने उसे 'धरणिबंध' कहा है। वस्तुतः अगर निष्पक्ष होकर देखा जाय तो संपूर्ण गुप्त इतिहास में ही नहीं वरन् चंद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् राजपूत युग के प्रारंभ तक समुद्रगुप्त ही एकमात्र भारतीय नरेश है जो 'स्वाभुजार्जित एकाधिराज्य' स्थापित करने का दावा कर सकता है।

वंग और वाह्लिक युद्ध उसके साम्राज्य के सीमांत युद्ध — अपनी दिग्विजय के कारण समुद्रगुप्त संपूर्ण मध्यदेश का स्वामी हो गया था। इसलिये बंगाल और वाह्लिक में लड़े जानेवाले युद्ध उसके साम्राज्य के सीमांतयुद्ध हो सकते थे। इसके अतिरिक्त उसके पास इन अभियानों को सफलतापूर्वक करने योग्य शक्ति और साधन दोनों ही थे। इस संबंध

1. एलन, कैटेलॉग', भू० पृ० १७।

में उसकी स्थिति निश्चय ही चंद्रगुप्त प्रथम से उत्तम और चंद्रगुप्त द्वितीय के समान थी।

समुद्रगुप्त और वाह्लिक प्रदेश — जहाँ तक 'सप्तमुखानिसिंधोः' को पार करके वाह्लिकों पर विजय प्राप्त करने का प्रश्न है, समुद्रगुप्त को यह श्रेय निस्संकोच दिया जा सकता है। स्मरणीय है कि चंद्रगुप्त द्वितीय की उत्तर-पश्चिमी भारत में सामरिक गतिविधि के विषय में कोई भी बात कहने के लिये हमें कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि किसी भी साक्ष्य से उसकी इस प्रदेश में सैनिक सफलता प्राप्त करने का संकेत नहीं मिलता। परंतु समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में यह स्पष्टतः कहा गया है कि उसने दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि' को अपने अधीन करने में सफलता प्राप्त की थी। जैसा सर्वज्ञात है, 'देवपुत्र' विरुद कुषाण सम्राटों का था और कुषाण निश्चित रूप से चतुर्थ शताब्दी ई० के मध्य तक बैक्ट्रिया पर आधिपत्य जमाए हुए थे। मार्टिन[1] ने यह सिद्ध किया है और अल्तेकर[2] तथा सुधाकर चट्टोपाध्याय[3] इत्यादि विद्वानों ने स्वीकृत किया है कि चौथी शताब्दी ई० के मध्य अर्थात् समुद्रगुप्त के शासनकाल में बैक्ट्रिया और अन्य उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में घोर उथल पुथल हुई थी जिसके कारण कुषाणों को बैक्ट्रिया छोड़ना पड़ा और सासानी सम्राट् को बारंबार इन प्रदेशों में सेनाएँ लेकर आना पड़ा। इसलिये हमारा यह अनुमान अग्राह्य नहीं माना जाना चाहिये कि समुद्रगुप्त को भी किसी समय अपने नवोदित साम्राज्य की सुरक्षा के लिये 'सप्तमुखानिसिंधोः' को पार कर बैक्ट्रिया तक जाना पड़ा होगा। उसकी पंजाब से प्राप्त कुषाण शैली की मुद्रा[4] इसका अतिरिक्त प्रमाण है। इन तथ्यों के आधार पर कम से कम यह स्वीकृत करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि समुद्रगुप्त का वाह्लिक से घनिष्ठ संबंध संकेतित है उतना चंद्रगुप्त प्रथम अथवा द्वितीय का नहीं।

समुद्रगुप्त की वंगविजय -- यही बात बंगाल के बारे में कही जा सकती है। चंद्रगुप्त द्वितीय के संबंध में कल्पना करनी पड़ती है कि उसके समय में बंगाल में विद्रोह हुआ होगा जिसका उसने दमन किया होगा। परंतु समुद्रगुप्त के

१. मार्टिन, एम० एफ० सी०, न्यूमिस्मैटिक सप्लिमेंट, ४७, पृ० ११-५०।
२. अल्तेकर, ए० एस०, वाकाटक गुप्त एज, पृ० २७।
३. चट्टोपाध्याय, एस०, वही, पृ० ११०।
४. अल्तेकर, क्वायनेज, पृ० ५२।

विषय में प्रयाग प्रशस्ति में स्पष्टतः कहा गया है कि समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), डवाक (मध्य आसाम में नवगाँव प्रदेश) और कामरूप (गोहाटी प्रदेश) उसके साम्राज्य के प्रत्यंत राज्य थे। कनिंघम ने समतट को हुगली से ब्रह्मपुत्र तक विस्तृत गंगा के मुहानेवाला प्रदेश माना है।[1] उनके मत को एस० एन० मजूमदार[2] तथा एच० सी० रे[3] ने स्वीकृत किया है। परंतु युआनच्वांग के विवरण से स्पष्ट है कि समतट तत्कालीन युग में आधुनिक दक्षिणपूर्वी बंगाल को कहते थे। उसने समतट को कामरूप के दक्षिण में समुद्र का तटवर्तीय प्रदेश बताया है।[4] सर्व श्री र० च० मजूमदार[5], रायचौधरी[6] और आर० सी० कर[7] प्रभृति विद्वानों ने इस साक्ष्य को स्वीकृत किया है और तत्कालीन समतट की राजधानी पूर्वी पाकिस्तान के तिपेरा जिले में कामिल्ल के समीप स्थित बड़कान्त (प्राचीन कर्मांत) मानी है। महीपाल के शासनकाल के तीसरे वर्ष के बघौरा - मूर्ति - अभिलेख से ज्ञात होता है कि आधुनिक तिपेरा का कुछ भाग समतट में संमिलित था।[8] अगर, जैसा तर्कसहित दिखाया जा चुका है, बंग में आधुनिक दक्षिण-पूर्वी बंगाल भी संमिलित था, तो समुद्रगुप्त का समतट को अपने अधीन करना ही उसकी बंग-विजय का अकाट्य प्रमाण माना जा सकता है। डवाक के विषय में अपेक्षया अधिक मतभेद है। एन० के० भट्टशाली और बरुआ[9] ने इसे मध्य आसाम में नवगाँव जिले में स्थित डबोक माना है। उस अवस्था में डवाक आधुनिक यमुना, कापिली और कोलांग नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश रहा होगा। कामरूप स्पष्टतः आधुनिक असम का एक भाग था। डॉ० दि० च० सरकार के अनुसार इसमें गोहाटी प्रदेश संमिलित था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित साम्राज्य पूर्व में दक्षिण-पूर्वी बंगाल से लेकर मध्य असम तक विस्तृत था क्योंकि

१. कनिंघम, एंशेंट ज्योग्रफी ऑव इंडिया।
२. वही।
३. रे, एच० सी०, डायनैस्टिक हिस्टरी ऑव नॉर्थ इंडिया, १, पृ० २१४।
४. मजूमदार र० च०, हि० बं०, १ पृ० १७।
५. वही।
६. रायचौधरी, वही, पृ० ५४३।
७. आई० एच० क्यू०, २६, पृ० १८३।
८. मजूमदार, र० च०, वही।
९. बरुआ, के० एल०, अर्ली हिस्टरी ऑव कामरूप, पृ० ४२।

ऐसा हुए बिना उपर्युक्त राज्य उसके साम्राज्य के प्रत्यंत राज्य नहीं हो सकते थे। इस तथ्य के प्रकाश में चंद्रगुप्त द्वितीय को मेहरौली का चंद्र माननेवाले कुछ विद्वानों का यह आग्रह कि बंगाल पर गुप्त आधिपत्य का सर्वप्रथम संकेत कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के ११३ गुप्त संवत् के बनैदह (राजाशाही जिला) और १२४ और १२८ गुप्त संवत् के दामोदरपुर (दीनाजपुर जिला) ताम्रपत्र अभिलेखों से मिलता है, इसलिये इस प्रदेश को समुद्रगुप्त ने नहीं, चंद्रगुप्त द्वितीय ने विजय किया होगा, बड़ा विचित्र जान पड़ता है। क्योंकि कल्पना की किसी उड़ान से भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि दक्षिण-पूर्वी बंगाल, नवगाँव और गोहाटी प्रदेश समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमा पर थे परंतु शेष बंगाल स्वतंत्र था। उल्टे स्वयं बनैदह और दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख अप्रत्यक्ष रूप से हमारे मंतव्य का समर्थन करते हैं क्योंकि इनसे स्पष्ट है कि जिस समय ये निर्मित किए गए, उस समय तक गुप्त साम्राज्य बंगाल में अपनी जड़ें जमा चुका था। इससे संकेत मिलता है कि बंगाल की विजय इन अभिलेखों की तिथि के बहुत पहले की गई होगी।

बंगाल की विजय समुद्रगुप्त ने की थी, यह अत्यंत सुपुष्ट धारणा है। एक तो समतट और डुवाक का समुद्रगुप्त के सम्राज्य में संमिलित होना परंतु किसी भी साक्ष्य से यह संकेत न मिलना कि शेष बंगाल को उसके पिता चंद्रगुप्त प्रथम ने जीता था, यह सिद्ध करता है कि इस प्रदेश को जीतने का श्रेय समुद्रगुप्त को दिया जाना चाहिए। दूसरे, समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त में जिन राजाओं को उन्मूलित किया था उनमें एक का नाम चंद्रवर्मन् था। अब यह प्रायः निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जाता है कि यह चंद्रवर्मन बंगाल में प्राप्त सुसुनिया अभिलेख में उल्लिखित चंद्रवर्मन् ही है। अगर यह चंद्रवर्मन् घुग्रहाती अभिलेख में उल्लिखित चंद्रवर्मनकोट को निर्माता भी था तो इसे फरीदपुर प्रदेश का भी स्वामी भी मानना होगा। संभवतः इसी के द्वारा संगठित संघ को समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। जो कुछ भी रहा हो, उपर्युक्त विवेचन से इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि समुद्रगुप्त के द्वारा बंगाल में विरोधी राजाओं को परास्त किए जाने के पक्ष में अनेक प्रमाण प्राप्य हैं जबकि चंद्रगुप्त प्रथम और द्वितीय को यह श्रेय प्रदान करने का प्रयास निराधारप्रायः है।

समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय — मेहरौली अभिलेख में 'चंद्र' के विषय में एक सूचना यह दी गई है कि इसके लिखे जाने के समय भी दक्षिण जलनिधि उसकी कीर्ति से सुवासित हो रहा था। जैसा कि ऐलेन महोदय ने कहा है, यह कथन हमें अनायास समुद्रगुप्त का स्मरण करा देता है। हमारे विचार से यह तथ्य सबको मान्य होगा कि प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ विजय का

विवरण पढ़कर इस बात में कोई संदेह नहीं रहा जाता कि केवल समुद्रगुप्त ही ऐसा गुप्त नरेश है, जिसके विषय में मेहरौली अभिलेख का उपर्युक्त कथन लागू हो सकता है।

समुगुद्रप्त और वैष्णव धर्म — समुद्रगुप्त के व्यक्तिगत धर्म के विषय में उसकी प्रयाग प्रशस्ति से कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, परंतु साधारणतः यह स्वीकृत किया जाता है कि अपने अधिकांश उत्तराधिकारियों के समान वह भी वैष्णव धर्म को मानता था। गया और नालंदा अभिलेखों में उसे स्पष्टतः 'परम-भागवत' कहा गया है। उसके सिक्कों से ज्ञात होता है, कि उसने गरुड़ को अपने वंश का राजचिह्न बनाया था। इसलिये अगर हम 'चंद्र' और समुद्रगुप्त को एक व्यक्ति मानें तो चंद्र के वैष्णव होने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

पुरालिपिशास्त्रीय प्रमाण — जहाँ तक मेहरौली अभिलेख की लिपि, भाषा और शैली का संबंध है, हमारा सुझाव इस मान्यता का विरोधी नहीं है कि इसका समय पाँचवीं शताब्दी ई० का प्रारंभिक भाग होना चाहिए। हमें होर्नले का यह मत कि पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से मेहरौली अभिलेख की तिथि ४१० ई० मालूम होती है और पं० चट्टोपाध्याय का यह झुकाव कि इसका लेखक चंद्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि अभिलेख का वीरसेन साव रहा होगा सर्वथा मान्य है। यहाँ केवल यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मेहरौली अभिलेख मरणोत्तरअभिलेख है इसलिये अगर इसको चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में लिखा गया था तो इसमें उल्लिखित नरेश स्वयं चंद्रगुप्त द्वितीय नहीं हो सकता। वह इसका कोई पूर्वज रहा होगा। और उसका वह पूर्वज जिसे मेहरौली अभिलेख में उल्लिखित सफलताओं का श्रेय निस्संकोच प्रदान किया जा सकता है, उसका पिता समुद्रगुप्त पराक्रमांक था।

नाम की समस्या — प्रश्न उत्पन्न होता है कि अगर समुद्रगुप्त मेहरौली अभिलेख का 'चंद्र' है तो उसे इस अभिलेख में 'चंद्र' क्यों कहा गया है और अगर उसे चंद्र कहा भी गया है तो इसका क्या प्रमाण है कि समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'चंद्र' भी था। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि मेहरौली अभिलेख के नरेश के नाम के संबंध में प्रारंभ से ही बहुत विवाद रहा है। अभिलेख की पंचम पंक्ति में उसका नाम 'चंद्र' बताया गया है, परंतु छठीं पंक्ति में 'धावेन' शब्द आया है, जिसके आधार पर प्रिंसेप और अन्य अनेक विद्वानों ने उसका दूसरा नाम 'धाव' माना है। भाऊदा जी और दिनेशचंद्र सरकार ने इस शब्द को भावेन' पढ़ा है। परंतु फ्लीट और ऐलेन ने प्रिन्सेप के पाठ को स्वीकृति प्रदान की है, यद्यपि वे अभिलेख में उल्लिखित राजा का दूसरा नाम 'धाव' नहीं मानते। उन्होंने यह सुझाव रखा है कि संभवतः यहाँ गलती से 'भावेन' के स्थान पर 'धावेन' उत्कीर्ण

हो गया है। अतः उन्होंने अभिलेख के राजा का नाम पाँचवीं पंक्ति में आए 'चंद्राह्वेन' शब्द के आधार पर 'चंद्र' माना है। परंतु यह उसका प्रमुख नाम था अथवा गौण इसमें उनको संदेह है। फ्लीट का कहना है कि अगर इस पंक्ति का दूसरे प्रकार से अन्वय किया जाय तो इससे केवल यह अर्थ निकलता है कि उसके मुख की शोभा चंद्रमा के समान होने के कारण उसे 'चंद्र' नाम से भी पुकारा जाता था। इससे यह संकेत मिलता है कि उसका मूल नाम चंद्र नहीं था। ऐलेन को फ्लीट का यह सुझाव स्वीकार्य है। वह यह सर्वथा संभव मानते हैं कि मेहरौली अभिलेख के राजा का मूल नाम 'चंद्र' नहीं था वरन् यह 'चंद्राह्वेन समग्रचंद्र सदृशी' के काव्यात्मक संकेत में छिपा हुआ है। मेहरौली अभिलेख की छठी पंक्ति में 'भावेन' के स्थान पर 'धावेन' पढ़नेवाले और धाव को इस अभिलेख में उल्लिखित नरेश का नाम माननेवाले प्रिंसेप तथा उनके समर्थक विद्वानों ने भी 'चंद्राह्वेन समग्रचंद्र सदृशी' का फ्लीट द्वारा प्रस्तुत वैकल्पिक अनुवाद सत्य के अधिक निकट माना है।

फ्लीट और ऐलेन के इस झुकाव का महत्व स्पष्ट है। जैसा कि कहा जा चुका है, मेहरौली अभिलेख के नरेश के अभिज्ञान का प्रश्न अभीतक इसलिये विवादास्पद रहा है क्योंकि इसको सुलझाने का प्रयास करनेवाले विद्वान् यह मान कर चले हैं कि उसका नाम चंद्र था। परंतु भारतीय इतिहास 'चंद्र' नामधारी किसी ऐसे राजा से परिचित नहीं है जिसे उन सफलताओं का श्रेय प्रदान किया जा सके, जिनका उल्लेख मेहरौली अभिलेख में हुआ है। परंतु फ्लीट और ऐलेन के सुझाव से स्पष्ट हो जाता है कि उसका मूल नाम 'चंद्र' था, यह विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हो सकता है उसका मूल नाम चंद्र न होकर कुछ और रहा हो, परंतु मुख की शोभा चंद्रमा के समान होने के कारण वह 'चंद्र' नाम से भी विख्यात था।

समुद्रगुप्त का दूसरा नाम चंद्रप्रकाश — अगर हमारे उपर्युक्त सुझाव को मान लिया जाय तो निष्कर्ष निकलेगा कि समुद्रगुप्त संभवतः 'चंद्र' नाम से भी विख्यात था। यह निष्कर्ष साहित्यसाक्ष्य से पुष्ट होता है। वामन (लग० ८०० ई०) ने अपने ग्रंथ काव्यालंकारसूत्र में उल्लेख किया है कि अयोध्यानरेश चंद्रगुप्त का पुत्र चद्रप्रकाश साहित्य का एक महान् संरक्षक था और उसने सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुबंधु को अपना मंत्री नियुक्त किया था।[1]

१. सोऽयं संप्रति चंद्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा,
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः।
आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबंधु साचिव्यो पक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्।
— वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।

परमार्थ[1] और शुआनचांग[2] ने भी वसुबंधु के गुप्त सम्राट् के साथ संबंध पर प्रकाश डाला है। यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि वसुबंधु चतुर्थ शताब्दी ई० में आविर्भूत हुए और उनकी मृत्यु इस शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुई। नोयल पेरी[3], स्मिथ[4], मैक्डूगल,[5] विद्याभूषण[6], विनयतोष भट्टाचार्य[7] और र० च० मजूमदार[8] प्रभृति विद्वानों ने वसुबंधु का यही समय स्वीकृत किया है। परंतु चतुर्थ शताब्दी ई० को वसुबंधु का समय स्वीकार करते ही यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि चंद्रगुप्त का पुत्र चंद्रप्रकाश और कोई नहीं स्वयं समुद्रगुप्त पराक्रमांक था क्योंकि इस शताब्दी में वही ऐसा ज्ञात प्रसिद्ध नरेश है, जो चद्रगुप्त नामक राजा का पुत्र था। वामन का चंद्रप्रकाश को साहित्य का महान् संरक्षक बताना इस तादात्म्य में अतिरिक्तरूपेण सहायक है।

निष्कर्ष — उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि समुद्रगुप्त संभवतः चंद्रप्रकाश नाम से भी विख्यात था। यह तथ्य मेहरौली अभिलेख के साक्ष्य से शतप्रतिशत संगति रखता है जिसमें मुख की शोभा चंद्रमा के समान होने के कारण चंद्र नाम से विख्यात एक ऐसे नरेश का उल्लेख है जिसने अपनी भुजाओं के बल से एकाधिराज्य स्थापित किया, बंग में युद्ध के लिये सनद्ध राजाओं को पराजित किया, 'सप्तमुखानिसिन्धुः' को पार करके वाह्लिकों पर विजय प्राप्त की, दक्षिण जलनिधि को अपनी कीर्ति से सुवासित किया और दीर्घ काल तक पृथिवी पर शासन किया। समुद्रगुप्त के चंद्रप्रकाश नाम से विख्यात होने, आर्यावर्त को राजाओं को उन्मूलित करके साम्राज्य की स्थापना करने, बंगाल को जीतकर अपने साम्राज्य में संमिलित करने, उत्तर-पश्चिमी भारत के 'देवपुत्रषाहिषाहानुषाहि' को अपने अधीन करने, दक्षिणापथ के बारह राजाओं पर विजय प्राप्त करने, और दीर्घ काल तक शासन करने से सिद्ध है कि एक मात्र वही ऐसा नरेश है जो मेहरौली अभिलेख में उल्लिखित शासक हो सकता है।

*

१. जे० आर० ए० एस०, १९०५, पृ० ४४-५१।
२. वाटर्स, १, २१०—१२।
३. बी० ई० एफ० ई० ओ०, ११, पृ० ३३९—४०।
४. स्मिथ, अ० हि० इं०, पृ० ३४६-४७।
५. मैक्डूनल, हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२५।
६. जे०(प्रो०) ए० एस० बी०, १९०५, पृ० २२७।
७. तत्त्वसंग्रह, भू०, पृ० ६६—६९।
८. मजूमदार र० च०, वा० गु० ए०, पृ० १२१।

अमरकोश का मध्यकालीन हिंदी कोशों पर प्रभाव

(डॉ० अचलानंद जखमोला, एम० ए०, डी० फिल०)

•

संस्कृत में अमरकोश से पूर्व के कोश उपलब्ध नहीं हैं केवल उनका प्रसंग मात्र मिलता है। सर्वानंद ने 'अमरकोश' की टीका में व्याडि, वररुचि के कोश तथा त्रिकांड एवं उत्पलिनी का उल्लेख किया है।[1] क्षीरस्वामी ने धन्वंतरि, भागुरी तथा रत्नकोश एवं माला कोशों का उल्लेख किया है।[2] अप्राप्य होने के कारण कोश साहित्य में इनका स्थान नगण्य है।

पंडितों में प्रकांड अमरसिंह द्वारा विरचित अमरकोश उपलब्ध कोशों में सर्वाधिक लोकप्रिय, प्रचलित और प्राचीन कोश माना जाता है। इसको यदि अमरभाषा संस्कृत) साहित्य का अमरकोश (अक्षयनिधि) कहा जाय तो लेश मात्र भी अत्युक्ति नहीं होगी। इससे पूर्व निर्मित कोशों में या तो नामानुशासन ही था या लिंगानुशासन मात्र। पुनः वे समस्त कोश इतने असंबद्ध तथा क्रमहीन थे कि उनके समुचित उपयोग में कठिनाई पड़ती थी।

अमरकोश में नामानुशासन, लिंगानुशासन तथा अव्यय शब्दों का समवेत समावेश कर गागर में सागर भरने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। समस्त कोश तीन कांडों में विभाजित है। प्रथम कांड में स्वर्ग, व्योम, दिक्, काल, धी, शब्दादि, नाट्य, पाताल, नर्क तथा वारि, ये दस वर्ग हैं, जिनकी छंदसंख्या क्रमशः ७?, १½, ३५, ३१, १७, २५½, ३८, ११ ३½ तथा ४३ है। द्वितीय कांड में भी भूमि, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि, नृ, ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, — दस वर्ग हैं, जिनकी छंदसंख्या क्रमशः १८, २०, ८, १६६½, ४३, १३६½, ५७½, ११६½, १११ तथा ४६½ है। तृतीय कांड में विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण,

१. "यत्त्रिकाण्डोत्पलिन्यादीनि नाममात्र तन्त्राणी, व्याडि वररुच्यादि प्रणीतानि तु लिङ्गमात्र तन्त्राणि।"

—सर्वानंद, अमरकोश टीका, प्रथम भाग, पृ० २-४।

२. क्षीरस्वामी : अमरकोश टीका (संपादक के० जी० ओक), पृ० ६२ एवं १४८।

नानार्थ, अव्यय एवं लिंगादिसंग्रह, ये पाँच वर्ग हैं। इनकी क्रमसंख्या क्रमशः ११२½, ४५½, २५७, २३, तथा ४६ है।

कोश में शब्दों का संकलन समानार्थी या पर्याय पद्धति पर किया गया है। केवल 'अनेकार्थ' वर्ग के २२५ अनुष्टुप अंत्य वर्णों के क्रम पर नियोजित हैं। समानार्थी या पर्याय से तात्पर्य यही है कि प्रस्तुत कोश में 'समान अर्थवाले' शब्दों को एक साथ छंदबद्ध किया गया है।[1] एक स्थान पर संगृहीत ऐसे शब्दों का प्रायः एक सा सामान्य भाव है।[2] इन शब्दों में पारस्परिक 'एक या इससे अधिक गुणों की साम्यता'[3] है, अर्थात् इन पर्याय या समानार्थी शब्दों का 'वही' या 'लगभग वही' अर्थ है[4]। परंतु इस 'साम्यता' के अतिरिक्त उन शब्दों में कुछ असाम्यता की भी विद्यमानता स्थान स्थान पर है। उनमें कुछ साधारणता और साथ ही बहुत कुछ 'असाधारणता वा विशिष्टता' भी है।[5]

नामपर्यायों को अमरसिंह ने वर्गों में विभाजित किया।[6] कोशकार जानते थे कि अस्त - व्यस्त तथा क्रमहीन वस्तुओं में से विशिष्ट उपकरणों में समान गुणों का अवलोकन कर उनको एक वर्ग के अंतर्गत समाहृत करना सबसे प्राचीन सरलतम एवं वैज्ञानिक पद्धति है। भाषा इसकी साक्षी है कि किस प्रकार पूर्व-वैज्ञानिककालीन मानव ने विभिन्न वर्गीकरण करके इस पद्धति की उपादेयता समझी। सत्य तो यह है कि प्रत्येक जातिवाचक संज्ञा एक विशिष्ट वर्ग का प्रतीक है[7]। अतएव समान भावों या विचार के द्योतक शब्दों को एक साथ रखकर आंतरिक भावों का द्योतन कराना पूर्णतः वैज्ञानिक है।

१. ग्राहम : वेब्स्टर्स डिक्शनरी ऑफ सिनानिम्ज़, भूमिका, पृ० १४।
२. ए न्यू इंग्लिश डिक्शनरी ऑन् हिस्टॉरिकल प्रिन्सिपल्स, खंड ६, भाग २, पृ० ३८४-३८९।
३. चार्ल्स जे० स्मिथ : ए कंप्लीट कलेक्शन ऑफ सिनानिम्ज ऐंड ऐंटोनिम्ज (१८९७), भूमिका अंश।
४. जेम्स सी० फर्नाल्ड : स्टैंडर्ड डिक्शनरी (१८९४), देखिए 'सिनानिम' शब्द।
५. डॉ० हरदेव बाहरी : हिंदी सिमैंटिक्स, पृ० १२०।
६. "स्वपूर्णमुच्यतेवर्गैर्नामलिंगानुशासनम्" — अमरकोश १।१।२।
७. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (१४वाँ संस्करण), २०वाँ खंड, पृ० १२७।

निघंटु के एक सूक्त 'छान्दोभ्य समाहृत्य समाहृत्य''[१] (२-८) का भाव भी अन्यत्र से एकत्र कर उनको पुनः संकलित और वर्गीकृत करने से है।[२] निघंटु का अर्थ है—'निगम्' अर्थात् ऐसे शब्द जिनके वर्ग मात्र के ज्ञान से अर्थाभास हो जाता है।[३] इस प्रणाली से अर्थ तक पहुँचने में सहायता मिलने के अतिरिक्त शब्द का स्थान वा स्थिति ज्ञात करने में भी सुविधा रही। वर्गीकरण पद्धति के द्विविध लाभ का प्रत्यक्ष प्रभाव शब्द वा अर्थ की चर्चा करनेवाले अभिधान संग्रहों पर पड़ा। लौकिक क्षेत्र में जब अमरसिंह ने अपने कोश की रचना की तो उसमें समाहृत नाम तथा लिंगों को वर्गीकृत कर उन्होंने उत्तरवर्ती कोशकारों के संमुख एक नवीन शैली का अनावरण किया। वर्गों की यह उपादेयता वैदिक अभिधानों के लिये ही नहीं, वरंच लौकिक कोशों के लिये भी परम लाभप्रद प्रतीत हुई। लौकिक कोशों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होने के कारण उनको वर्गानुसार विभाजित कर देना अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ।

अमरकोश में अपनाई गई वर्गानुक्रम की यह लोकप्रिय शैली केवल संस्कृत या उसका अनुसरण करनेवाले हिंदी कोशों में ही प्रयुक्त नहीं हुई है, पाश्चात्य कोशों में भी शब्दों का विषयानुसार विन्यास करना एक सुदीर्घ एवं प्राचीन परंपरा है।[४] इतना अवश्य है कि आधुनिक पाठकों के निमित्त वर्गानुक्रम पर नियोजित इन कोशों को उपयोगी संदर्भग्रंथ' बनाने के लिये शब्दावली को पुनः अनुक्रमणिका में भी नियोजित करना पड़ेगा इससे उन विद्वानों के मत को भी समर्थन मिल जाएगा जो कोशों में संकलित शब्दों को सुगमता से ढूँढ़ने के लिये अक्षरानुक्रम प्रणाली को ही सर्वोत्कृष्ट, सुगम अतएव अपरिहार्य मानते हैं, जिसके अतिरिक्त उन्हें कोई भी अन्य प्रक्रिया ग्राह्य नहीं।[६]

अमरकोश का दूसरा नाम 'लिंगानुशासन' या 'त्रिकांड' भी है क्योंकि इसमें लिंगद्योतनप्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है और यह तीन कांडों में विभक्त है।

१. यास्काचार्यं प्रणीतं निरुक्तम्, प्रथमो भागः, पृ० १६।
२. श्री वी० के० राजवाड़े की टीका, वही, पृ० १६।
३. वही, पृ० २१६-२१०।
४. डार्निंग बक् : ए डिक्शनरी ऑव सेलेक्टेड सिनानिम्स इन दि प्रिंसिपल इंडो यूरोपियन लैंग्वेजेज, भूमिका, पृ० १३।
५. ए न्यू इंग्लिश डिक्शनरी ऑन हिस्टारिकल प्रिंसिपल्स, खंड ३, पृ० ३३१।
६. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खंड ६, पृ० ८७।

कोशों में मणि अमरकोश अपने समय में तो लोकप्रिय रहा ही, परवर्ती काल में भी यह विद्वानों के लिये आकर्षण का केंद्र रहा। डॉ० आफ्रेश ने 'केटालागस केटालागम' में अमरकोश की ४० टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें से सर्वानंदकृत टीका सर्वस्व, रायमुकुट की पदचंद्रिका टीका, भानुजी दीक्षित कृत रामाश्रमी, रमानाथ विद्यावाचस्पतिकृत त्रिकांडविवेक, भरतसेन की टीका, त्रिकांडचिंतामणि एवं महेश्वर द्वारा विरचित अमरविवेक अधिक प्रसिद्ध हैं।[1]

हिंदी कोशों पर प्रभाव

संस्कृतकोश अमर ने मध्यकाल में हिंदी कोशों को तीन दिशाओं में प्रभावित किया : (१) अनुवाद, (२) अनुकरण, तथा (३) अनुसरण। यदि वास्तव में देखा जाय तो कुछ द्विभाषीय कोशों को छोड़कर मध्यकाल में निर्मित समस्त हिंदी कोश सामान्यतः संस्कृत कोशों और विशेषतः अमरकोश के अनुकरण अनुसरण पर निर्मित हुए हैं। यह अनुकरण और अनुसरण शब्दसंकलन, शब्दसंख्या, उनका नियोजन और अन्य पद्धतियों की दिशाओं में हुआ है।

मध्यकालीन हिंदी कोशकार जानते थे कि अनुवाद एक महत्वपूर्ण कला है और विशेष रूप से पुनर्जागरण काल में, जब हिंदी साहित्य के विभिन्न उपांगों की श्रीवृद्धि का भरपूर प्रयास जारी था, इन अनुदित ग्रंथों का विशिष्ट स्थान था। अनुवाद साधारणतः महान् कृतियों को ही जन्म नहीं देता, यह प्रायः महान कृतियों के निर्माण में प्रेरणा भी प्रदान करता है।[2]

इन अनूदित कोशों का एक बौद्धिक महत्व भी है। कोई भी साहित्य, कोई भी भाषा अथवा कोई भी राष्ट्र पूर्ण नहीं है। अतएव यह उपयोगी ही नहीं अपितु अनिवार्य भी था कि हिंदी शब्दों की श्रीवृद्धि के लिये संस्कृत कोशों का आधार लिया जाता। फिर कलात्मक और भाषासंबंधी अभिवृद्ध के लिये भी अनुवाद प्रक्रिया परम महत्वपूर्ण थी,[3] और कोश जैसे विषय के लिये यह परम उपादेय सिद्ध हुई। कोशों की निर्माण पद्धति को साहित्य की अन्य विधाओं के समान मौलिक नहीं कहा जा सकता, केवल शब्दों की नियोजन प्रणाली में मौलिकता दिखाई जा सकती है[4]। संस्कृत के कोशरत्न अमरकोश का शब्दसंकलन भी प्रतिज्ञाश्लोक (१।१।२) के अनुसार अन्य कोशों के 'समाहार', 'संक्षेप' 'प्रतिसंस्क-

१. रामावतार शर्मा : कल्पद्रुकोश (संस्कृत), भूमिका, पृ० ११।
२. हिजेट : दि क्लासिकल ट्रेडीशंस, पृ० १०४।
३. पी० एम० राजेट : दि इंटरनेशनल थेसारस, भूमिका, पृ० ३।
४. मोनियर विलियम्स : द संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, भूमिका, पृ० ५।

रण' तथा 'वर्गविभाजन' पर आधारित है। पूर्ववर्ती कोशों का पूर्णतः समाहार करने के फलस्वरूप ही प्रस्तुत कोश पर्याप्त सीमा तक मान्य, परिनिष्ठित तथा समग्रतः पूर्ण समझा जाता है।[1] पूर्ववर्ती इन अन्य 'तंत्रों' के प्रति अमरसिंह इतने अधिक ऋणी थे कि उनके द्वारा स्पष्ट शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करने के उपरांत भी उनपर 'चोरी' का आरोप लगाया गया है![2]

अगले पृष्ठों में संस्कृत अमरकोश के अनुकरण, अनुसरण पर निर्मित या अनूदित कोशों को कालानुक्रम में विवेचित किया गया है :

१. **नाममाला** (१५६८ ई०) —अष्टछाप के प्रसिद्ध वैष्णव कवि नंददास ने दो कोशों की रचना की : (१) नाममाला' एवं (२) अनेकार्थ' ये दोनों कोश पर्याप्त लोकप्रिय और प्रचलित रहे इसीलिये इनकी सबसे अधिक हस्तलिखित और प्रकाशित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं।[3] 'अनेकार्थ' कोश संस्कृत में 'अनेकार्थसमुच्चय' (शाश्वत से प्रभावित है।

'नाममाला' कोश के प्रारंभ में नंददास ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रस्तुत कोश में शब्दों का संकलन और नियोजन संस्कृत अमरकोश के 'भाय' पर किया गया है। शब्दों के पर्यायसंकलन के अतिरिक्त वैष्णव कवि कोशकार का उद्देश्य मानवती राधा का मानवर्णन भी है[4]। कोश में गुँथा गया यह मान प्रसंग पर्याप्त समय तक अध्येताओं को उलझन में डाले रहा। इसी व्यतिक्रमजन्य 'कठिनता' का निराकरण करने के लिये गंगादास नामक एक व्यक्ति ने

१. 'अन्यतन्त्राणि' व्याडिवररुचिप्रभृतीनां तन्त्राणि समाहृत्य। अतएव संपूर्णमिदं, दंयतस्मिन्काण्डोत्पलिन्याद्दीनि नाममात्र तन्त्राणि, व्याडिवररुच्यादि प्रणीतानि तु लिंगमात्रतन्त्राणि।'—सर्वानंद, अमरकोश टीका, प्रथम भाग, पृ० २-४।

२. "अमरसिंहस्तु पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्" (लोकप्रचलित)

३. इन प्रतियों के लिये देखिए "हिंदी कोश साहित्य" (डा० अचलानंद जखमोला), पृ० ५-६

४. गूँथनि माला नाम की, अमरकोस के भाइ।
मानवती के मान पर, मिलैं अर्थ सब आइ॥
—नाममाला (नंददास), दोहा १।

'नाममाला' में संकलित पर्याय शब्दों को अमरकोश के अनुकरण पर दस वर्गों में विभाजित कर दिया था।[१]

'नाममाला' अमरकोश का अनुवाद नहीं है। अमरकोश के 'भाव' पर, उसकी समानार्थी पर्याय शैली का अनुकरण करते हुए, निर्मित पद्यबद्ध कोश है। अपेक्षाकृत यह अत्यंत लघु है। मूल कोश में केवल २६५ दोहे थे। प्रकारांतर में क्षेपकों की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। हस्तलिखित प्रतियों में ६६१ तक दोहे उपलब्ध होते हैं। इनमें से अधिकांश दोहे नंददास के प्रशंसक और भक्त कवि रामहरि ने अपने समानार्थी कोश 'लघुनामावली' से मिला दिए थे[२]।

मानमंजरी, मानमाला, नाममञ्जरी, नामचिंतामणि, नाममणिमाला आदि कोश नंददास द्वारा निर्मित होने के प्रसंग मिलते हैं, जो 'नाममाला' के ही अन्य नाम हैं। अनेकनाममाला[३], नंदकोश[४], तथा कोशमंजरी[५] नाम भी नाममाला के ही हैं।

(२) भारतीनाममाला (सन् १६२६ ई०) — यह कोश ग्रंथ फतहपुर निवासी भीखजन द्वारा निर्मित एक पद्यबद्ध समानार्थी कोश है। ग्रंथ के प्रारंभिक अंश में कोशकार ने अपना वंशपरिचय दिया है। मिश्रबंधु विनोद में ये अज्ञात-

१. ताते लखि कछु कठिनता पद विभ्रमता भास।
वर्ग सु चौपाई मिले कीन्हों गंगादास॥
कोस नाममाला रुचिर नंददास कृत जोय।
सोध्यो गंगादास तेहि, भयो सरल अति सोय॥
—हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का खोज विवरण (१६०६–११ ई०) पृ० २११, क्र० चि० २०८ बी०।

२. दो सत पैंसठ ऊपरे, दोहा श्री नंददास।
रामहरी बाकी किये, कोश धनंजय तास॥ — वही, (१६२६–३१ ई०) पृ० ५२८; क्र० चि० २८३ बी०।

३. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० १५०।

४. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० ५।

५. हिंदी साहित्य संमेलन संग्रहालय, प्रयाग, पांडुलिपि संख्या २३३३।

आलिक प्रकरण में रखे गए हैं।[1] भीखजन का रचनाकाल सन् १६१४ ई० के आसपास माना जाता है।[2]

'भारती नाममाला' कोश भीखजन ने सं० १६८५ (सन् १६२६ ई०) की आश्विन शुक्ला १५ को पूर्ण किया था[3]। खोजरिपोर्ट[4] में इसकी हस्तलिखित प्रति जिनचरित्र सूरि संग्रह बीकानेर में सुरक्षित बताई गई है, परंतु यह संग्रह दीर्घकाल से बंद पड़ा है। संस्कृत भाषा की दुर्गमता[5] को देखते हुए भीखजन के मन में यह 'उपजी' कि भाषा में भी एक कोशग्रंथ निर्मित किया जाय। श्री मोतीलाल मेनारिया के मतानुसार 'भारती नाममाला' संस्कृत अमरकोश का भाषानुवाद है।[6] भीखजन के कथनानुसार उन्होंने एक ही कोश को आधार न मानते हुए, अन्य स्रोतों की ओर जागरूक दृष्टि रखी है।[7] कोश के २० हस्तलिखित पत्रों में कुल मिलाकर पाँच सौ अठारह दोहे और आठ कवित्त हैं।[8]

(३) मानमंजरी (सन् १६६८ ई०) इस कोश की एक हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर[9] से उपलब्ध हुई। खोज विवरणों में इसका उल्लेख है[10]। कोश के रचयिता बद्रीदास हैं। पुष्पिका में रचनातिथि संवत् १७२५ (सन् १६६८ ई०) दी गई है।

१. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ३१३।
२. मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २२०।
३. सोलह से पच्चासिये, संवत इहै विचार।
सेत पाखिरा का तिथू, कवि दिन मास कुवार॥—भारती नाममाला, छंद २०।
४. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ६-७।
५. नाम माल गुन सहसक्रिति, दुगम लखी जिय जांनि।
इह उपजी जनु भीख जिय, रची जु भाषा आंनि॥
—भारतीनाममाला (बीकानेर प्रति), छंद १६।
६. मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १९०।
७. मथ्यो ग्रंथ गुन सारदी, कीनि सेत नंग सिंधु।
कछुक और सुनि आंन ते, रचौं जु दोहा बंध॥
—भारतीनाममाला, छंद १७।
८. संख्या सब गुन दोहरा, क्रित जनु भीख सुचेत।
सत्रह ऊपरि पांच सै, आठौं कवित्त सहेत। —वही, छंद ४२३।
९. अभय जैन ग्रंथालय, हस्तलिखित ग्रंथ संख्या ४३७३।
१०. राजस्थान में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ७-८।

प्रस्तुत कोश के २१३ सोरठों में १८३ नामशब्दों के पर्याय छंदबद्ध हैं। संस्कृत जैसी व्याकरणदुरूह क्लिष्ट भाषा के साथ कौन माथापच्ची करे, इसीलिये बद्रीदास ने 'सुमति' के अनुसार भाषा में नामों की माला पिरो दी है।[१] शब्दों के पर्याय देने में संस्कृत अमरकोश का अनुकरण किया गया है, परंतु संगुंफित मानप्रसंग को समझे बिना शब्दों के अर्थ समझ में न आएँगे।[२] अमरकोश से आंशिक शब्दावली लेकर उनके पर्याय छंदबद्ध किए गए हैं।

(४) प्रकाशनाममाला (सन् १६६७ ई०) — यह विशाल कोश आगरा यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'ग्रंथवीथिका' के पृष्ठ २६५ से ३६६ तक संकलित है। कोश के रचयिता मियाँ नूर ने ग्रंथ में स्थान स्थान पर अपना नाम अंकित किया है। कोशकार औरंगजेब कालीन किसी सामंत सिपहदारखाँ का नादिर था।[३] कोश की रचना सं० १७५४ (सन् १६६७ ई०) में हुई।[४]

प्रस्तुत कोश 'अमरकोश के भाय'[५] पर या अमरकोश तैं काढ़ि के,[६] निर्मित किया गया है। समस्त कोश पाँच 'प्रकासों' में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में दस, द्वितीय के अंतर्गत भी दस और तृतीय प्रकाश में भी अमरकोश के अनुकरण पर विशेष्यनिघ्न तथा संकीर्ण दो वर्ग हैं। यहाँ तक शब्दों का संकलन पर्याय शैली में वर्णानुक्रम पर हुआ है। प्रथम तीन प्रकाशों में कुल १०२१ दोहे हैं। चतुर्थ प्रकाश में अनेकार्थ प्रकरण और पंचम प्रकाश में एकाक्षर कोश है। अंतिम दो प्रकाशों पर संस्कृत में क्षपणक विरचित 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' की प्रतिच्छाया है।

संस्कृत 'अमरकोश के भाय' पर निर्मित होते हुए भी प्रकाशनाममाला पूर्णतः अमरकोश का भाषानुवाद नहीं कहा जा सकता। शब्दों के संकलन में भी ग्रंथकार ने अपने विवेक से हिंदी की प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए उनका ग्रहण

१. सहंसकित नहिं कछु सक्रति बिना को पचि मरै।
यथा सुमति बद्री सुखद, नाम दाम प्रकटै करै॥
—मानमंजरी (बीकानेर प्रति) छंद १।

२. बहुबिधि नांम निहारि अरथ अमर जु कोश कैं।
सरब समोड बिचारि, मान छुड़ावति राधिका॥— वही, छंद २।

३. प्रकाशनाममाला, पृ० २६५।

४. सत्रह सै चवन बरस, बिजै दस्मि हुतु मास।
नूर नाममाला करी, भाषा नामप्रकास।—वही, पृ० २६२।

५. वही, पृ० २६५।

६. वही, पृ०२७३।

अथवा त्याग किया है। एकांगी दृष्टिकोण न रखते हुए अन्य स्रोतों का भी पूर्ण उपयोग किया गया है। इसके लगभग एक तिहाई शब्द संस्कृत अमरकोश में नहीं मिलते।

(५) अनेकार्थ नाममाला (सन् १७०३ ई०) इस अनेकार्थी कोश के प्रणेता महासिंह पाँडे हैं जिनके वैयक्तिक वा साहित्यिक जीवन का इतिवृत्त कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में सुरक्षित[1] प्रस्तुत कोश की हस्तलिखित प्रति के १४ पत्रों में २२० दोहे हैं, जिनमें प्रचलित नामशब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ छंदबद्ध किए गए हैं। कोशकार के वक्तव्य के अनुसार संस्कृत अमरकोश से उन्होंने पर्याप्त सहायता ली है।[2]

(६) हमीरनाममाला (सन् १७१७ ई०) — यह कोश 'डिंगलकोश' के अंतर्गत जोधपुर से प्रकाशित है। कोशकार 'हमीरदान रतनू' का साहित्यिक एवं वैयक्तिक जीवन का पर्याप्त विवरण मिलता है[3]। 'हमीरनाममाला' डिंगल भाषा के सर्वाधिक प्रचलित और प्रसिद्ध कोशों में से एक है। कोश के अंतिम अंश में दिए गए एक छंद के अनुसार कोश की रचना सं० १७७४ (सन् १७१७ ई०) में हुई थी[4]।

'हमीरनाममाला' की रचना में संस्कृत अमरकोश के अतिरिक्त कई अन्य कोशों से भी सहायता ली गई है[5]। समस्त कोश के ३११ छंदों में प्राचीन एवं तत्कालीन डिंगल साहित्य में प्रचलित डिंगल भाषा के अनेकानेक शब्द अपने अपने विशुद्ध रूप में सुरक्षित हैं। अमरकोश के अनुकरण पर समानार्थी शैली में एक ही भाव के द्योतक शब्दों को राजस्थान के प्रसिद्ध 'वेलियो' छंद में बद्ध किया

१. राजस्थान में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० १।

२. अमर आदि कोस जु वने, तिनि कोस तु यहाँ लीन।
महासिंह कवि यों भने, अनेकार्थ यह कीन॥
—अनेकार्थनाममाला, अंतिम अंश।

३. मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १६१।

४. संमत छहोतरे सतर मैं, मती अपनी हमीर मन।
कीधी पूरी नाममालिका, दीपमालिका तेण दिन॥
—हमीरनाममाला, छंद ३११।

५. जोइ अनेकारथ धनंजय, माखमंजरी हेमी अमर।
नाम तिकां माहे निसरिया, उवै भेळा भेळाया आखर॥ —वही, छंद ३०१।

गया है, परंतु वर्ग या कांडव्यवस्था नहीं है। अमरकोश के अतिरिक्त अन्य शब्द भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

(७) अमरकोश भाषा (सन् १७३५ ई०) — प्रस्तुत कोश के रचयिता हरिजू मिश्र आजमगढ़ के संस्थापक आजम खाँ के आश्रित थे। कोश के प्रारंभिक अंश में दिए गए एक दोहे[1] के अनुसार इसकी रचना सं० १७९२ (सन् १७३५ ई०) में हुई।

यह कोश अप्राप्य एवं अप्रकाशित है। खोज विवरणों[2] में प्रस्तुत उल्लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि यह संस्कृत अमरकोश के प्रारंभिक अंश का हिंदी में पद्यानुवाद है। "सिंहादि" वर्ग तक के आठ सौ छंद उपलब्ध हैं।

(८) नामप्रकाश (सन १७३८ ई०) — प्रस्तुत कोश के रचयिता संस्कृत के पंडित, हिंदी के कवि और काव्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भिखारीदास हैं, जिनके वैयक्तिक जीवन और साहित्यिक उपलब्धियों पर पर्याप्त शोध हो चुका है।

भिखारीदासकृत कोशग्रंथ के संबंध में हिंदी साहित्य के अनेक इतिहास लेखक अभी तक प्रायः अपरिचित से रहे हैं और इसीलिये 'नामप्रकाश' कोश के विभिन्न नामों को उन्होंने अलग अलग कोश माना है[3]। 'अमरकोशभाषा', 'अमर-प्रकाश' और 'अमरतिलक' भी 'नामप्रकाश' कोश के ही दूसरे नाम हैं।

खोज विवरणों में दी गई हस्तलिखित प्रतियों[4] के अतिरिक्त गुलशन अहमद यंत्रालय, प्रतापगढ़ से सन् १८९९ में मुद्रित एक लीथो प्रति अत्यंत जीर्ण शीर्ण स्थिति में उपलब्ध हुई है। इसके प्रारंभ में दिए गए एक दोहे[5] के अनुसार ग्रंथ का प्रणयन संवत् १७९५ (सन् १७३८ ई०) में हुआ था।

१. ससि मुनि निधि अरु पछ गन संवत विक्रम लेहु।
बार दिवाकर द्वैज सित, माह उदित भव एहु॥ —अमरकोश, छंद २।

२. हस्तलिखित ग्रंथों का त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९०९-११), पृ० १७३ तथा मिश्रबंधु विनोद, पृ० ७५०।

३. देखिए, हिंदी कोश साहित्य (डॉ० अचलानंद जखमोला), पृ० २५-२६।

४. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन १९२६-२८ ई०) पृ० १७०-१७१।

५. सत्रह से पचानबे अगहन को सित पच्छ।
तेरसि मंगल को भयो, नामप्रकाश प्रतच्छ॥
—नामप्रकाश (गुलशन अहमद यंत्रालय, प्रतापगढ़) पृ० २ छंद ६।

यह कोश मुख्य रूप से 'अनेकनि सों तिलक' संस्कृत के अमरकोश पर आधारित है[1], इसलिये इसके दूसरे नाम 'अमरकोशभाषा', 'अमरप्रकाश' और 'अमरतिलक' भी हैं। कोश तीन कांडों में विभाजित है। प्रथम कांड में दस, द्वितीय में भी दस तथा तृतीय कांड में केवल तीन वर्ग हैं। अंतिम वर्ग 'नानार्थ वर्ग' के अतिरिक्त समस्त कोश समानार्थी है। कोश पर्याप्त विस्तृत और उपादेय है।

'नामप्रकाश' संस्कृत अमरकोश पर आधारित होते हुए भी पूर्णरूपेण अमरकोश का भाषानुवाद भी नहीं कहा जा सकता। यह कोश मुख्यत: भाषा के अध्येताओं के निमित्त निर्मित किया गया था। अतएव संस्कृत के तत्सम शब्दों के 'भाषा' के ग्रंथों से भी भिखारीदास ने पर्याप्त शब्द संकलित किए। छंदों के चयन में पूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया गया है परंतु छंदों के आग्रहवश शब्दरूपों में विकृति आ गई है। शब्दों के पर्याय छंदबद्ध करने के अनंतर कुल पर्यायों की संख्या भी अंकित कर दी गई है।

(९) अमरकोशभाषा (सन् १७५३ ई०) -- संस्कृत अमरकोश के आधार पर निर्मित इस कोश के प्रणेता हरिकवि हैं। मिश्रबंधुओं के अनुसार इसकी रचना सन् १७५३ ई० हुई थी[2]।

(१० नामप्रकाश (सन् १७५६ ई०) — यह समानार्थी कोश कवि खंडन द्वारा निर्मित किया गया था। कोश अप्राप्य तथा अप्रकाशित है। खोज विवरणों[3] में दिए गए अंशों को देखकर मालूम पड़ता है कि यह संस्कृत अमरकोश का भाषानुवाद है। इसमें कुल ८५० श्लोक बताए गए हैं।

(११) अमरप्रकाश (१७७९ ई०) --प्रस्तुत हस्तलिखित समानार्थी कोश के रचयिता खुमाण कवि हैं, जिनका उपनाम 'मान' भी था। डाक्टर ग्रियर्सन ने भ्रमवश इनको अलग अलग कवि मान लिया था।[4] इस कोशग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख मिलता है[5]। एक प्रति में ८५० छंद और दूसरी में

१. देखि के अमरकोश तिलक अनेकनि सों।
बूझि के बुधन जो सकत शेष सारि कै॥—वही, पृ० १, छंद १।

२. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ७६८।

३. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का त्रैवार्षिक विवरण (१९०६-१९०८ ई०) पृ० १६; तथा १९०३ ई० क्रमचिह्न ७४।

४. ग्रियर्सन : द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, पृ० ७०।

५. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का वार्षिक विवरण, सन् १९०३ ई० क्रमचिह्न ७४, पृ० ५२; तथा वही, सन् १९०६ ई० क्र० चि० ८९, पृ० ८०।

७७० छंद अंकित किए गए हैं। शिवसिंह के अनुसार प्रस्तुत कोश में खुमाण ने संस्कृत के अमरकोश के एक कांड का भाषा (हिंदी) में 'उल्था' किया है।[1] ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १८३६ — (रस गुन वसु ससि) दिया गया है।

(१२) कर्णाभरण (सन् १७८१ ई०) — इस कोशग्रंथ की एक प्रति हिंदी विद्यापीठ, आगरा के संग्रहालय में सुरक्षित है। कोश के रचयिता हरिचरणदास के वैयक्तिक वा साहित्यिक इतिवृत्त का उल्लेख साहित्य के इतिहासों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।[2] कोश के अंतिम अंश में दिए गए एक दोहे के अनुसार यह ग्रंथ संवत् १८३८ वि० (सन् १७८१ ई०) में समाप्त किया गया था। कोश में पर्याय गिनानेवाले मूल श्लोकों की संख्या १२०० तथा टीका अंश के छंदों की संख्या ७०० है। इनके अतिरिक्त गद्य में भी टिप्पणियाँ यत्र तत्र दी गई हैं। समस्त कोश १०६ हस्तलिखित पृष्ठों में पूर्ण है।

कर्णाभरण कोश का मुख्य आधार संस्कृत अमरकोश है। अमरकोश के अनुकरण पर यह भी तीन कांडों में विभाजित है। प्रथम कांड में दस, द्वितीय में भी दस और तृतीय कांड में केवल दो वर्ग हैं। समस्त नामपर्याय समानार्थी शैली में संकलित किए गए हैं। अनेकार्थनिरूपण इसमें नहीं है।

संस्कृत अमरकोश से प्रभावित होते हुए भी यह कई दृष्टियों से स्वतंत्र और मौलिक रचना कही जा सकती। अमरकोश के अतिरिक्त संस्कृत के भी पर्याप्त शब्द इसमें संकलित किए गए हैं। कोश में मूल के अतिरिक्त टीका अंश भी है जिसमें गद्य के माध्यम से शब्दों का संकलन है।

(१३) उमरावकोश (सन् १८०५ ई०) — प्रस्तुत कोश की चार हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख खोज विवरणों[3] में मिलता है, जिनमें क्रमशः २६१६, २५३०, १६४४ और ३०२४ छंद हैं। कोश के रचयिता सुवंश शुक्ल हैं जिनकी रचनाओं और आश्रयदाता का उल्लेख कोश के प्रारंभिक अंश और अन्य खोज

१. शिवसिंह सरोज, पृ० ३६६।

२. मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १८६, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १४४–१४९, राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, पृ० २३१।

३. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का वार्षिक विवरण, १९०५ ई०, पृ० ८२–८३; वही, बारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सन १९२३–२५ ई० क्र० चि० ४२२ डी०, पृ० १४५७–५८; वही, त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण सन् १९२६–२८, क्र० चि० ४७२ ए०, पृ० ७०४; वही पृ० ७०६।

विवरणों में मिलता है। शिवसिंह ने 'सरोज' में कोशकार के विषय में अनेक भ्रमात्मक विवरण दिए हैं।[1]

काशिराज के सरस्वतीभंडार (रामनगर, वाराणसी) से उमरावकोश की एक अन्य हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है। यह कोश संस्कृत अमरकोश का हिंदी भाषानुवाद सा है। अमरकोश की ही भाँति इसमें कुल तीन कांड हैं। प्रथम कांड में नौ वर्ग तथा ३६७ छंद हैं। द्वितीय कांड में दस वर्ग और १२१५ छंद हैं। तृतीय कांड में केवल दो वर्ग और २७४ छंद हैं। अंतिम वर्ग 'अनेकार्थ' अमरकोश से प्रभावित नहीं है।

उमरावकोश में सुवंश शुक्ल की मौलिकता अपेक्षाकृत न्यून है। अमरकोश के अतिरिक्त शब्द अधिक संख्या में नहीं हैं। छंदपूर्ति के लिये भरती के शब्द अन्य कोशों की अपेक्षा अधिक संख्या में हैं।

कोश के अंतिम अंश में दिए गए एक छंद के अनुसार कोश का निर्माण सं० १८६२ वि० (सन् १८०५ में) हुआ था।[2]

(१४) अनेकार्थ (सन् १८०६ ई०) —प्रस्तुत कोश के प्रणेता रीतिकालीन कवि चंदनराम हैं। इनके साहित्यिक वा वैयक्तिक इतिवृत्त के संबंध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं।[3] बोधोदय प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८८० ई० में प्रकाशित 'अनेकार्थ' की एक प्रति के अंत में 'नामार्णव' नाम भी अंकित है। कोश के अंतिम अंश में प्रस्तुत एक छंद के अनुसार इसका निर्माण सं० १८६६ वि० (सन् १८०६ ई०) में हुआ था।

कोश के अंत में दिए गए एक दोहे के अनुसार चंदनराम ने संस्कृत अमरकोश के अतिरिक्त क्षपणक तथा धनंजय के अनेकार्थी कोशों से भी सहायता

१. शिवसिंहसरोज, पृ० ५०१।

२. युग रस बसु मद निशापति संवत वर्ष विचारि।
माघ कृष्ण प्रतिपदा को भयो ग्रंथ औतारि॥
उमरावकोश (बनारस प्रति), कांड ३, वर्ग २, छंद १०४।

३. हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ४०१; तथा आचार्य शुक्ल-इतिहास, पृ० २६४।

४. संवत् रस ऋतु नाग ससि आश्विन दसमि स्वच्छ।
ससि सुत बासर को भयो अनेकार्थ प्रवच्छ॥
—अनेकार्थ (चंदनराम), पृ० ४१।

ली।[1] इसमें एकही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ परंपरागत शैली में दोहाबद्ध किए गए हैं। समस्त कोश में कुल २८५ दोहे हैं जिनको तीन परिच्छेदों में वर्गीकृत किया गया है। अमरकोश के अनेकार्थवर्ग की शैली में अंत्य वर्णों के क्रम पर शब्दसंकलन नहीं है।

(१५) शब्दरत्नावली (सन् १८१२) ई० — यह हस्तलिखित कोश आर्यभाषा पुस्तकालय, वाराणसी में सुरक्षित है। कोश के रचयिता प्रयागदास चरखारी नरेश खुमाणसिंह के आश्रयदाता थे।[2] प्रारंभिक अंश में दिए गए एक छंद के अनुसार ग्रंथ का निर्माण संवत् १८६६ वि० (सन् १८१२ ई०) में किया गया था।[3]

खोज विवरणों में दिए गए उल्लेखों[4] के अनुसार प्रस्तुत कोश में कुल १२२० छंद हैं जो संस्कृत अमरकोश के भाषानुवाद जैसे हैं। हिंदी में प्रचलित संस्कृत के तत्सम और गतप्रयोग शब्दों का संकलन भी कर लिया है। उपलब्ध अंशों को देखते हुए प्रतीत होता है कि अमरकोश के प्रथम दो कांडों में से कुछ अंशों के पर्यायशब्दों को हिंदी रूप देकर छंदबद्ध किया गया है।

(१६) नामरत्नमाला (सन् १८१३ ई०) — इस कोश का दूसरा नाम 'अमरकोशभाषा' भी है। मिश्रबंधु[5] और उन्हीं के अनुकरण पर आचार्य शुक्ल[6] ने दोनों को भिन्न भिन्न ग्रंथ मान लिया था। कोशकार बनारस निवासी गोकुलनाथ

१. छपनक अमर धनंजयो, तिहूँ ग्रंथ को सार।
अनेकार्थभाषा विषै, यह हौं कियो उचार॥

—वही, पृ० ४०।

२. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ४४१।

३. संवत् नव षट वसु ससी, श्रावन सुदि बुधवार।
भई शब्दरत्नावली, तिथि द्वादसी प्रचार॥

—शब्दरत्नावली (प्रयागदास), छंद ११।

४. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का खोजविवरण, सन् १९०९-१९११ ई०, क्र० वि० २२८, पृ० ३१७-३१८।

५. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ८०२।

६. रामचंद्र शुक्ल : इतिहास, पृ० ३९१।

भट्ट हैं। ग्रंथ के प्रारंभ में दिए गए श्लोक[1] के अनुसार कोश का प्रणयन संवत् १८७० वि० (सन् १८१३ ई०) में हुआ था।

कोशग्रंथ अप्राप्य और अप्रकाशित है। खोज विवरणों[2] में प्रस्तुत उल्लेखों के अनुसार कोश में कुल ५०० दोहे हैं। यह संस्कृत अमरकोश के प्रथम कांड[3] का भाषा में रूपांतर मात्र है। विवेच्य शब्द का शीर्षक दिया गया है। शब्दों का संकलन पर्याय शैली में हुआ है।

(१७) अमरकोशभाषा (सन् १८१७ ई०) — इस कोश की तीन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख खोज विवरणों[4] में मिलता है। एक प्रति में लेखक का नाम 'शिवप्रसाद कायस्थ' है तो अन्य दो में 'राजा शिवसिंह'। तीनों प्रतियों में क्रमशः २७४०, ५१०० और ४६२० छंद निर्दिष्ट हैं। कोश अप्राप्त तथा अप्रकाशित है। एक दोहे[5] के अनुसार इसकी रचना संवत् १८७४ ई० में हुई थी।

'सुरवाणी संस्कृत' में विरचित कोश 'अबुध' भाषाभाषियों के लिये अनुपयोगी देखकर हां शिवसिंह ने प्रस्तुत कोश की रचना की। यह कोश संस्कृत अमरकोश का परिवर्धित छंदबद्ध भाषारूप है। प्रथम कांड में ११, द्वितीय में १० तथा तृतीय में ४ वर्ग हैं। इस दृष्टि से यह पर्याप्त व्यापक है।

(१८) अमरसार नाममाला (१८८२ ई०) —खोज विवरण में[6] प्रस्तुत उल्लेखों में इस कोश के रचयिता कृष्णदास बताए गए हैं। पुष्पिका के अनुसार यह ग्रंथ संवत् १८६५ वि० (सन् १८१८ ई०) में निर्मित हुआ था।

१. गगन आद्र वसु विधु संवत कार्तिक पुन्य कदम।
सुकुल पंचमी पाय पुन्य भव कियो कोस प्रारंभ ॥
—नामरत्नमाला कोश, प्रारंभिक अंश।

२. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज, सन् १९०९-११ ई०, क्र० चि० ३६, पृ० १४६।

३. स्वर्ग व्योम दिग काल धी, शब्दादि नाट्य अभिराम।
पा पातालभोगि नर्क वारि वर्ग कहे वर्ग के नाम ॥
—नामरत्नमाला, अंतिम अंश।

४. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का बारहवाँ त्रैवार्षिक खोज विवरण, सन् १९२९-३१, क्रमचिह्न २६४ ए, ३९७ ए०, ३६७ बी, पृ० १३६३, १३६७-६८, १३६८-१३६९-

५. वेद सप्त अरु अष्ट कहि, पुनि ससि संवत जान।
कृष्ण पक्ष नभ शुक्ल लखि, तिथि तेरसि पहिचानि ॥
—अमरकोश भाषा (शिवसिंह)

६. राजस्थान में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १०८।

'अमरसारनाममाला कोश' १६० दोहों का एक छोटा सा कोश है। कृष्णदास के ही वक्तव्यानुसार यह अमरसिंह तथा उनकी अमर कृति 'अमरकोश' से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है[1]। कोश के आकार को देखते हुए प्रतीत होता है कि कृष्णदास ने अमर के सार को लेकर केवल बहुप्रचलित शब्दों के ही पर्याय समानार्थी शैली में छंदबद्ध किए हैं।

(१९) नाममाला—दुर्गालाल कायस्थ द्वारा निर्मित इस कोश की निर्माणतिथि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। यह ग्रंथ अप्राप्य तथा अप्रकाशित है। खोज विवरण में[2] दिए गए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस हस्तलिखित कोश में कुल ४५६ छंद थे और उपलब्ध अंश संस्कृत अमरकोश के प्रथम कांड का आंशिक भाषानुवाद प्रतीत होता है। शब्दों की संख्या तथा संकलन शैली प्रायः अमरकोश की सी है।

(२०) नामप्रकाश—प्रस्तुत कोश की रचनातिथि ज्ञात नहीं है। खोज विवरण में[3] में इसका उल्लेख मिलता है। बिहारीलाल अग्रवाल द्वारा निर्मित केवल १९६ छंदों के इस लघु कोश के एक ही छंद में उसी शब्द के पर्याय एवं अनेकार्थ दिए गए हैं। अन्य संस्कृत कोशों के अतिरिक्त अमरकोश से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त की गई है।[4]

(२१) आरंभनाममाला—अप्राप्य एवं अप्रकाशित इस कोश का निर्माता खोज विवरण में[5] 'सुबुद्धि' बताया गया है। १८वीं शती में निर्मित इस कोश के प्रारंभ में कोशकार ने स्वीकार किया है कि संस्कृत के अमरकोश

१. अमरकोश पुन कोष किया अमरसिंह मतिराज।
कृष्णदास मतिराम लिय, कर सुबुद्धि हितराज॥
—अमरसारनाममाला (कृष्णदास), छंद १४।

२. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक खोज विवरण सन् १९२६-१९२८ ई०), पृ० २३६।

३. वही, सोलहवाँ त्रैवार्षिक खोज विवरण (१९३५-३७ ई०), पृ० ९०-९१।

४. अमर धनंजय हेमिका, हारावलि हू खास।
इन कोशादिक भाव सों, बरनों नामप्रकास॥
—नामप्रकाश (बिहारीलाल अग्रवाल), अन्तिम अंश।

५. राजस्थान में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ४।

आदि का आधार लेते हुए रचयिता ने अपनी बुद्धि से नए शब्द संकलित कर प्रस्तुत कोश निर्मित किया[1]।

सामान्य विवेचन

संस्कृत अमरकोश का पिछले पृष्ठों में विवेचित कोशों पर प्रभाव वा ऋण का उचित मूल्यांकन करने के लिये विवेच्य हिंदी कोशों को तीन सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — प्रथम श्रेणी में वे कोश आते हैं जिन्होंने अमरकोश से केवल शब्द-संकलन-पद्धति की प्रेरणा ली। पर्याय या समानार्थी शब्दों का छंदबद्ध नियोजन इन कोशों का मुख्य उद्देश्य रहा। अमरकोश की कांड या वर्गव्यवस्था इनमें व्यवहृत नहीं हुई और न शब्दों का क्रम ही अमरकोश के अनुकरण पर है। ऐसे कोश आकार में भी लघु हैं। नंददास की नाममाला, भीखजनकृत भारतीनाममाला, बद्रीदासकृत मानमंजरी, हमीरनाममाला (हमीरदान रतनू), अमरसारनाममाला, दुर्गालाल कृत नाममाला आदि इसी प्रकार के कोश हैं। अमरकोश के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य कोशों से भी इन्होंने शब्द-संकलन में सहायता ली।

द्वितीय वर्ग के कोश अमरकोश के एक कांड या अंश से प्रभावित भावरूपांतर है। हरिजू मिश्र कृत अमरकोश भाषा, खंडन द्वारा निर्मित नामप्रकाश, प्रयागदास की शब्दरत्नावली, गोकुलनाथ भट्ट विरचित नामरत्नमाला इसी प्रकार के कोश हैं।

तृतीय श्रेणी में ऐसे कोश आते हैं जो पर्याप्त अंशों में अमरकोश के भाषानुवाद कहे जा सकते हैं। इनमें प्रमुख हैं— मियाँ नूरकृत प्रकाशनाममाला, भिखारीदास द्वारा विरचित नामप्रकाश, हरिचरणदास द्वारा निर्मित कर्णाभरण और सुवंश शुक्ल कृत उमरावकोश। तृतीय वर्ग के कोश पर्याप्त विस्तृत हैं इसलिये इन्हीं पर विशेष प्रकाश डालना उपादेय प्रतीत होता है।

इन कोशों की सामान्य बाह्य रूपरेखा अर्थात् शब्दों की नियोजनपद्धति अमरकोश के ही अनुकरण पर निर्मित है। चारों कोशों में तीन तीन कांड हैं। प्रथम दो कांडों के वर्गविभाजन आंशिक हेर फेर के साथ संस्कृत अमरकोश के आधार पर और उन्हीं नामशीर्षकों से किए गए हैं, तृतीय कांड में सभी कोशकारों ने स्वतंत्र दृष्टि अपनाई है। हिंदी भाषा में इस कांड की उपादेयता को

१. अमर ग्रंथ में जे कहे, सुने लहे करि शुद्ध
कछु उपजाये अर्थ सों, नये नांउ निज बुद्ध

—आरंभनाममाला, छंद २।

देखते हुए ग्रहण अथवा त्याग[1] की प्रवृत्ति अपनाई गई है। संस्कृत अमरकोश के तृतीय कांड के विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय तथा लिंगादि संग्रह वर्ग में से विशेष्यनिघ्न चारों कोशों में आया है। संकीर्ण वर्ग केवल नामप्रकाश, कर्णाभरण और प्रकाशनाममाला में विवेचित है और अनेकार्थ अंश कर्णाभरण को छोड़कर शेष तीनों में वर्णित है। परंतु इस वर्ग में भी अमरकोश का अनुसरण केवल नामप्रकाश में किया गया है। अव्यय तथा लिंगादि-संग्रह हिंदी में उपादेय न होने के कारण चारों कोशों में छोड़ दिए गए हैं।

चारों कोशकार जानते थे कि उनके कोशों का उपयोग हिंदी भाषा के अध्येताओं के निमित्त हो रहा है। भिखारीदास के 'नामप्रकाश' में अमरकोश के संस्कृत नामों के अतिरिक्त भाषाग्रंथों से भी शब्दसंकलन किया गया है।[2] उदाहरण के लिये नामप्रकाश में संकलित अँगेठी, अहीर, आम, एरंड, करछी, कछुवा, काँटा, खिरकी, गूँगा, घट, घोड़ी, चिनगी, चौराहा, छप्पर, जामुन, ढोल, धोबी, नाऊ, नेह, पहार, फरसा बारू, बुलबुल, भौंटा, राति, लालची, हिजरा प्रभृति भाषा के शब्द अमरकोश में नहीं हैं। कोश के अंतर्गत भी भिखारीदास ने स्थान स्थान पर स्पष्ट कर दिया है कि शब्दविशेष भाषा का है या संस्कृत का।[3] 'प्रकाशनाममाला' के 'अनेकार्थ वर्ग' तथा 'अव्यय एकाक्षर' तो नितांत भिन्न हैं ही, अमरकोश के अनुवादवाले अंशों में भी मियाँ नूर ने अन्य कोशों, साहित्यिक ग्रंथों वा सामान्य बोलचाल के शब्दों को संकलित किया है। स्थलविशेष पर भाषा के शब्दों का

१. अमर तीसरे कांड में, आठ (?) वर्ग को देखि।
चारि वर्ग भाषा विषे आवत काज विशेषि॥

× × ×

लिंग भेद भाषा विषे, बिन कारज को पेखि।
ताते छोड्यो चाहिये, स्वार्थ रहित को देखि॥

—अमरकोश भाषा (शिवसिंह कायस्थ), हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का खोज विवरण (१९२३-२५, द्वितीय भाग) पृ० ११६८।

२. 'औरो नाम आनि भाषा ग्रंथन सों हरि कैं'।
—नामप्रकाश (भिखारीदास), पृ० १।

३. 'ये बीस संस्कृत में बिचारि, बैहरि बयारि भाषा निबाह'
—वही, पृ० ११।

भी उल्लेख किया गया है।[1] तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो आलोच्य चारों कोशों में अमरकोश से भिन्न शब्दों की संख्या प्रकाशनाममाला में सबसे अधिक है। अंबया, अंबिका, आगम, कप्पर, कबंध, गंडसिला, घनसार, चिरीमार, चीता, टंक, टकना, धनिया, पदवी, पदातिक, रक्तदृग, सुराट, हव्य, आदि शब्द द्रष्टव्य हैं।

'कर्णाभरण' कोश में अमरकोश के अतिरिक्त संख्या अत्यधिक मात्रा में है। टीका अंश में तो प्रायः अमरकोश में न मिलनेवाले शब्द ही अधिकांशतः संकलित किए गए हैं। स्थान स्थान पर देश विदेश, दिशा विशेष, कोश या टीकाकार या साहित्यिक ग्रंथों का भी उल्लेख है, जिससे शब्द लिया गया है।[2] सुवंश शुक्ल कृत 'उमरावकोश' में संस्कृत अमरकोश के अलावा अपेक्षाकृत कम शब्द आए हैं। संस्कृत शब्दों को न समझनेवाले जिज्ञासु पाठकों के लिये ही प्रस्तुत कोश भाषा में रचा गया था।[3] वनौषधि वर्ग' में प्रत्येक नाम के साथ भाषा में प्रचलित नाम भी संकलित हैं। उदाहरण के लिये अमरूद, ईंधन, ऊँट, ऐना, किसान, कुत्ता, कौवा, खीर, घुँघरू, जजमान, जाँघ, तकिया, नाक, पंखा, पूँछ, बच्चा, बढ़ई, बाघ, भात, भैंसा, माटी, मुख, मुरगा, लिंग, लोमी, हथियार, हरकारा, आदि भाषा के शब्द द्रष्टव्य हैं।

शब्दों के अतिरिक्त अमरकोश से अन्य भिन्नताएँ भी इन कोशों में उपलब्ध होती हैं। पर्याय या अनेकार्थ दिए जानेवाले प्रत्येक शब्द का नामशीर्षक चारों कोशों में दिया गया है। छंद एक ही नहीं, अनेकानेक हैं। कुल पर्याय शब्दों की छंद के अंत में गणना कर दी गई है। चारों कोशों में संस्कृत अमरकोश की अपेक्षा व्यर्थ के शब्द वा प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक संख्या में आए हैं।

संस्कृत शब्दरूप भाषा (हिंदी) की वर्तनी में लिखे गए हैं। भिखारीदास ने अपने 'नामप्रकाश' में स्पष्ट उल्लेख कर दिया था कि 'भाषा' में कोरा ग्रंथ

१ 'वक्ष वत्स उर को कहै, भाषा छाती जान।'

—प्रकाशनाममाला, पृ० ११६।

२. 'अधर ओष्ट पर्जाय है केतने भाषावारे कहत हैं।'

— कर्णाभरण, पत्र १६, मूल।

३. पढ़ि सकत जे नहिं संस्कृत तिन् हेत भाषा छंद तें।
लहि अमरकोश कह्यौ उमगि, उमरावकोश अनंद तें॥

—उमरावकोश १।१।११।

निर्मित करने के उद्देश्य से उन्होंने कुछ अक्षरों के संबंध में अधिक विवेक' नहीं किया[1]। संस्कृत शब्दों को 'भाषा' लिखते समय सभी अनुवादकों ने यथास्थान 'य' का 'ज', 'ऋ' का 'रि', 'श' का 'स', 'ष' का 'ख', 'क्ष' का 'छ', 'ण' का 'न', 'ज्ञ' का 'ग्य' तथा 'व' का 'ब' कर दिया है। इसके अतिरिक्त स्थलविशेष पर आगम और लोप आदि का भी आश्रय लिया गया है। शब्दों के रूप विकृत करने में छंदों के आग्रह ने यथासंभव कार्यशीलता दिखाई है।

अमरकोश के अंतिम तीन वर्गों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के अंतर्गत संकलित सभी शब्द प्रायः चारों कोशो में आ गए हैं। यहाँ तक कि कुछ मात्रा में भाषा के नितांत अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी इन कोशकारों ने संकलित कर दिया है। 'कर्णाभरण' के रचयिता ने इस दिशा में अपेक्षाकृत संयमित और उदार दृष्टिकोण अपनाया। संस्कृत अमरकोश के ऐसे शब्दों को, जो हिंदी के लिये उपयुक्त नहीं थे, उन्होंने त्याग दिया और साथ ही अन्य कोशों से भी शब्दसंकलन किया। फिर भी चारों कोशकारों द्वारा अमरकोश से प्रायः सभी शब्द लेने की व्यवस्था को दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह हिंदी का प्रारंभिक युग था जिसमें दृष्टि की यह उदारता वांछनीय थी।

*

१. य ज रि ऋ स श ष ख छ क्ष न ण ग्य ज्ञ ठाग्यो लुक।
भाषा वर्नन बूझि कै, कियौ न एक विवेक॥
—नामप्रकाश (गुलशन अहमद यंत्रालय, प्रतापगढ़, १८९९ ई०), पृ० २।

भर्तृहरि की दृष्टि में अष्टाध्यायी का 'प्रकार' शब्द

डा० कपिलदेव शास्त्री

संस्कृत भाषा का 'प्रकार' शब्द सामान्यतया दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है—'सादृश्य' तथा 'विशेष' जिसका उदाहरण क्रमशः पटुप्रकारो अयं माणवकः तथा 'श्यामः बहुभिः प्रकारैः भुंक्ते इन वाक्यों में देखा जा सकता है। संस्कृत कोषकारों[1] ने भी प्रकार' शब्द के विषय में इन्हीं दो अर्थों का निर्देश किया है।

आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के चार सूत्रों में 'प्रकार' शब्द का प्रयोग किया है। पर कहीं भी इस प्रकार का कोई संकेत नहीं दिया है कि उन्हें इन सूत्रों में 'सादृश्य' अर्थ अभिप्रेत है या 'विशेष'। इसलिये इन सूत्रों में विद्यमान 'प्रकार' शब्द के अर्थ के विषय में भर्तृहरि ने स्पष्टतः दो मतों की सूचना दी[2] है। प्रथम मत के अनुयायी आचार्य सर्वत्र इन चारों सूत्रों में—प्रकार का अर्थ 'सादृश्य' करते हैं, जबकि दूसरे आचार्य 'विशेष' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये 'प्रकार' शब्द का प्रयोग मानते हैं। भर्तृहरि के वाक्यपदीय के इस पूरे प्रसंग को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि स्वयं प्रथम पक्ष के अनुयायी तथा प्रबल पोषक हैं जिसमें 'प्रकार' का अर्थ सर्वत्र 'सादृश्य' माना जाता है।

अर्थ की दृष्टि से इन दोनों मतों में बहुत अधिक अंतर नहीं है क्योंकि 'सादृश्य' में भिन्नता भी अंतर्निहित रहती ही है। जब कभी यह कहा जायगा कि यह वस्तु उस वस्तु के समान है तो वहाँ यह अर्थ भी अंतर्निहित या सामर्थ्यगम्य होगा ही कि वह वस्तु अन्य वस्तुओं से भिन्न है। उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि रामः पण्डित सदृशः वर्तते तो वहाँ यह अर्थ भी छिपा हुआ है कि 'राम मूर्खों से भिन्न है'। इसलिये जब कभी 'सादृश्य' को अभिधेय

१. द्र० अमरकोष (३।३।१६२), शाश्वतकोष (श्लोक सं० ६८१)

२. सादृश्यमेव सर्वत्र प्रकारः कैश्चिद् इष्यते।
भेदे पितु प्रकाराख्य कैश्चिद् अभ्युपगम्यते॥
—वाक्यपदीय, प्रकीर्ण कांड (श्लोक सं० १२१८)

माना जायगा तो भिन्नता अर्थ भी सामर्थ्यगम्य होगा ही। अंतर इतना ही है कि सादृश्यवादी 'विशेष' अर्थ को सामर्थ्यगम्य मानता है तथा भेदवादी 'सादृश्य' अर्थ को।

अब देखना यह है कि पाणिनि के सूत्रों में जिस 'प्रकार' शब्द का प्रयोग हुआ है वह प्रधानतः किस अर्थ की अभिव्यक्ति कर रहा है। संबद्ध प्रयोगों की दृष्टि से सादृश्य' अर्थ को प्रधान माना जाय या 'भेद' अर्थ को। इस दृष्टि से पहले हम पाणिनि के इन चार सूत्रों के अभिप्राय तथा उदाहरण एवं वृत्तिकारों तथा व्याख्याताओं की संमतियाँ प्रस्तुत करते हैं :

पहला सूत्र है—'प्रकार वचने थाल्'[1] जिसका अर्थ है प्रकार अर्थ के द्योतन के लिये'। 'किम' सर्वनाम तथा 'बहु' शब्द से 'थाल' प्रत्यय होता है ; जैसे-यथा, तथा, सर्वथा इत्यादि।

दूसरा सूत्र है 'प्रकार वचने जातीयर्'[2]। इसका अभिप्राय है 'प्रकार' को कहने के लिये प्रातिपदिक शब्दों से 'जातीयर्' प्रत्यय होता है, यथा 'मृदु जातीयः, पटुजातीयः' इत्यादि।

तीसरा सूत्र है—स्थूलादिन्यः प्रकारवचने कन्'[3] अर्थात् गणपाठ के स्थूलादिगण में पठित 'स्थूने आदि शब्दों से 'प्रकार' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये 'कन्' प्रत्यय संयुक्त हुआ करता है। जैसे 'स्थूलकः' 'अणुकः' 'भाषकः' चंचत्कः' बृहत्कः इत्यादि।

प्रथम दो सूत्रों में 'प्रकार' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए काशिका के इस अध्याय के लेखक जयादित्य ने लिखा है 'सामान्यस्य विशेषो भेदकः प्रकारः'[4] अर्थात् सामान्य का भेद करनेवाला सामान्य से भिन्नता प्रस्तुत करनेवाला जो विशेष है वही यहाँ प्रकार शब्द का अभिप्राय है। तीसरे सूत्र में भी 'प्रकार' शब्द से जयादित्य को 'भेद' ही अभिप्रेत है। इसीलिये उन्होंने यहाँ भी कहा है कि 'प्रकारो विशेषः'[5] अर्थात् 'प्रकार का अर्थ है विशेष'। जयादित्य के साथ साथ जैनेंद्र

१. अष्टाध्यायी (५।३।२३)
२. वही (५।३।६९)
३. वही (५।४।३)
४. काशिका (५।३।२३, ६९)

व्याकरण[1], शाकटायन व्याकरण[2], सरस्वती कंठाभरण[3] तथा हेम व्याकरण[4] के आचार्यों ने भी इन उपर्युक्त प्रसंगों में 'प्रकार' का अर्थभेद ही माना है।

प्रथम दो सूत्रों की व्याख्या पतंजलि ने नहीं की है। तीसरा सूत्र महाभाष्य में मिलता तो है पर पतंजलि ने सूत्रस्थ 'प्रकार' शब्द के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। परंतु 'यथा असादृश्ये' सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में पतंजलि ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'प्रकार वचने थाल्' इस सूत्र में 'प्रकार' शब्द का अर्थ 'सादृश्य' है।[5]

इसी तरह प्रकारे गुणवचनस्य'[6] इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में पतंजलि तो नहीं, पर पतंजलि के उत्तराधिकारी व्याख्याता कैयट ने स्पष्ट कहा है प्रकार वचने जातीयर्' इत्यत्र सादृश्यं प्रकारः केषांचिन्मते गृह्यते। अन्येषां तु भेदः प्रकारः[7], अर्थात् 'प्रकार वचने जातीयर्' इस सूत्र में 'प्रकार' शब्द का अर्थ कुछ लोगों के मत से 'सादृश्य' है परंतु दूसरों के विचार में 'भेद' अर्थ है। यहाँ सादृश्य अर्थवाला मत संभवतः पतंजलि तथा उनके अनुयायियों का है। क्योंकि ये लोग सर्वत्र 'प्रकार' का अर्थ सादृश्य करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में यह स्पष्ट कहा है कि सर्वत्र प्रकार शब्द के अर्थ के विषय में दो प्रकार का दृष्टिकोण मिलता है जबकि कैयट ने उस स्थिति का संकेत केवल एक सूत्र के विषय में किया है।

ऊपर कैयट ने जिन दो मतों की ओर संकेत किया है उनका स्पष्टीकरण करते हुए नागेश[9] ने कहा है कि 'सादृश्य अर्थ वामन आदि का है तथा'

१. वही (५।४।३)
२. द्र० जैनेंद्र व्याकरण महावृत्ति (४।२।८६)
३. द्र० हृदयहारिणी वृत्ति (५।३।३२, ५५)
४. द्र० हैमव्याकरण लघुप्रक्रियावृत्ति (७।२।१०२)
५. यथेत्ययम् प्रकारवचने थाल्। स च सादृश्ये वर्तते महाभाष्य (२।१।७)
६. अष्टाध्यायी (८।१।१२)
७. प्रदीप महाभाष्य (८।१।१२)
८. सादृश्यमेव सर्वत्र प्रकार कैश्चिदिष्यते।
भेदेपि तु प्रकाराख्या कैश्चिदभ्युपगम्यते॥
वाक्यपदीय, प्रकीर्णकांड (श्लोकसंख्या ६१८)
९. केषांचिन्मतेनेति—वामनादीनामित्यर्थः। अन्येषान्त्विति—जयादि—त्यादीनाम्।
—उद्योतटीका। महाभाष्य (८।१।१२)

भेद अर्थ जयादित्य आदि का है। ऐतिहासिक की दृष्टि में लगभग यह निश्चित हो चुका है कि काशिका के प्रथम पाँच अध्यायों के लेखक जयादित्य हैं तथा अंतिम तीन अध्यायों के लेखक वामन[1] हैं। ऊपर जिन सूत्रों को प्रस्तुत किया गया है वे सब पंचम अध्याय के हैं जिनमें जयादित्य ने सर्वत्र 'भेद' अर्थ किया है। वामन चूँकि अंतिम तीन अध्यायों के लेखक हैं, जिनमें अष्टम अध्याय में 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र आता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रकार' का अर्थ 'सादृश्य' स्वीकार किया गया है। परंतु पाँचवें अध्याय के 'प्रकार वचने जातीय'[3] सूत्र की व्याख्या जयादित्य ने लिखी है न कि वामन ने। इसलिये इस सूत्र की व्याख्या में वामन के द्वारा 'प्रकार' शब्द का 'सादृश्य' अर्थ किया गया है। इस तरह की बात कुछ असंगत सी अवश्य प्रतीत हो सकती है पर अष्टम अध्याय के 'प्रकारे गुणवचनस्य'[2] सूत्र की व्याख्या में वामन 'प्रकार' का सादृश्य अर्थ करते हुए, सादृश्य द्योतनार्थ गुणवाचक शब्दों से, विकल्प के रूप में, जातीय' प्रत्यय की स्थिति भी स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि इस व्याख्याकार (वामन) को 'प्रकार वचने जातीय'[5] इस सूत्र में 'प्रकार' का 'सादृश्य' अर्थ ही अभिमत है। पदमंजरीकार हरदत्त मिश्र ने वामन की इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा है कि वामन को यहाँ प्रकार के दोनों—सादृश्य तथा भेद—अर्थ अभिप्रेत हैं[6]।

तीसरे सूत्र 'स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन्'[7] के प्रकार' के विषय में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भाष्यकार पतंजलि तो मौन हैं परंतु उनके व्याख्याकार कैय्यट ने, इसी सूत्र पर लिखित कात्यायन की वार्तिक 'चंचद् बृहतोरूपसंख्यानम्' से निष्पन्न होने वाले 'चचरक' तथा 'बृहत्क' शब्दों के अर्थ पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि 'कन्' प्रत्यय सादृश्य का द्योतक है। कैय्यट के कथन का

१. द्र० संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भा० १-पं० युधिष्ठिर मीमांसक (पृ० ४३८)
२. अष्टाध्यायी (८।१।१२)
३. वही (५।३।६९)
४. काशिका (८।१।१२)
५. अष्टाध्यायी (५।३।६९)
६. पदमंजरी (५।३।६९)
७. अष्टाध्यायी (५।४।३)
८. चंचत्कः सादृश्यस्य द्योतकः कन् प्रत्ययः।—प्रदीप महाभाष्य (५।४।३)।

स्पष्टीकरण करते हुए नागेश लिखता है कि इस सूत्र में 'प्रकार' शब्द का अभिप्राय 'सादृश्य'[1] है।

यहाँ कैय्यट 'चंचत्क' तथा 'बृहत्क' शब्दों के अर्थ के विषय में कहता है कि गतिशील या चंचल न होते हुए भी मणि इसलिये 'चंचत्क' शब्द का अभिधेय बनता है कि उसमें से निरंतर ज्योति की किरणें विकीर्ण होती रहती हैं इसलिये वह गतिशील या चंचल सा प्रतीत होता है तथा इसी प्रकार बड़ा न होते हुए भी, निरंतर प्रकाशित एवं दूर तक प्रत्यवभासित होते रहने के कारण एक विशेष मणि ही 'बृहत्क' शब्द का वाच्य बनता है क्योंकि वह बड़े शरीरवाला प्रतीत होता है।[2]

कैय्यट से बहुत पूर्व भर्तृहरि[3] ने अपने प्रकीर्ण कांड के अंत में 'प्रकार' का अर्थ सादृश्य है इस अपने अभीष्ट मत की पुष्टि में 'चंचत्क' शब्द के तीन - मणि, मंडूक तथा खद्योत अर्थों तथा 'बृहत्क' शब्द के एक मणि अर्थ की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा यह बताया है कि मणि, जिसमें से प्रभा की किरणें निरंतर स्फुरित हो रही हैं, मंडूक, जो एक स्थान पर स्थित होकर भी श्वास के भरने तथा निकालने से पेट को फुलाता तथा घटाता रहता है, तथा खद्योत, जो एक क्षण के लिये अपनी जगमगाहट को विकीर्ण करता है तो दूसरे क्षण उसे वह अपने अंदर निगीर्ण कर लेता है, 'चंचत्' से उपमित हुआ करते हैं। इसी तरह 'बृहत्क' शब्द का अर्थ मणि होता है जो छोटा होता हुआ भी विस्तृत रश्मिजाल को प्रसारित करता रहता है और इसलिये बड़े के समान प्रतीत होता है।

काशिका के व्याख्याकार हरदत्त मिश्र ने इस सूत्र की व्याख्या में, जयादित्य के अभिमत सिद्धांत 'प्रकारो विशेषः' की व्याख्या करने के उपरांत संभवतः

---

१. सूत्रे प्रकार शब्देन सादृश्य मुच्यते। —उद्योत महाभाष्य (वही)

२. अचंचलमपि यश्चंचन्निव लक्ष्यते स चंचत्को मणिः स्पन्दमान प्रभत्वात्। अबृहन्नपि बृहन्निव प्रसृतप्रभत्वात् यो दृश्यते स बृहत्कः। —प्रदीप, महाभाष्य (वही)।

३. चंचत्प्रकारश्चंचत्क बृहत्क इतिचापरे।
मणिमण्डूक खद्योतान सादृश्येन प्रचक्षते॥
तत्रोन्मेषनिमेषाभ्यां खद्योत उपमीयते।
श्वासप्रबन्धैर्मण्डूक स्पन्दमानप्रभो मणिः॥
—वाक्य पदीय, प्रकीर्ण कांड (श्लोक संख्या ११२-१६)।

भर्तृहरि तथा कैय्यट आदि की ओर संकेत करते हुए लिखता है कि कुछ विद्वानों के अनुसार इस सूत्र में 'सादृश्य' अर्थ में 'कन्' प्रत्यय का विधान किया गया है[1]। यों हरदत्त मिश्र का विचार है कि सूत्र में 'प्रकार' का 'सादृश्य' और 'भेद' दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं तथा कन्प्रत्ययांत जो शब्द जिस अर्थ 'सादृश्य' या 'भेद' को कहता है, उससे उसी अर्थ में इस 'कन्' प्रत्यय की स्थिति को स्वीकार किया जाय। वृत्तिकार जयादित्य ने केवल 'उपलक्षण' की दृष्टि से इन दोनों अर्थों को न कहकर केवल एक अर्थ 'भेद' को ही कहा है[2]। पर नागेश ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जयादित्य की दृष्टि में 'प्रकार' का अर्थ केवल 'भेद' या 'विशेष ही है[3]।

भाषावृत्ति के लेखक पुरुषोत्तमदेव पंचम अध्याय के इन तीन सूत्रों में केवल एक सूत्र—'प्रकार वचने थाल्'—की व्याख्या में स्पष्टतः 'प्रकार' का अर्थ 'सादृश्य' करता है[4]। पर उससे अन्य दोनों सूत्रों में विद्यमान 'प्रकार' शब्द के अर्थ के विषय में उसकी स्थिति का ज्ञान हो जाता है क्योंकि इन तीनों सूत्रों का विषय एक ही है।

दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव ने भी 'प्रकार वचने थाल्' के प्रकरण में आनेवाले 'इदमस्थमुः' सूत्र पर 'इत्थम्भूत' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में जो विवाद[5] उठाया है उससे यह निश्चित हो जाता है कि वह भी इन तीन सूत्रों में 'प्रकार' का अर्थ 'सादृश्य' ही मानता है।

सिद्धांत कौमुदी के लेखक भट्टोजी दीक्षित ने विवाद के विषयभूत इन तीनों सूत्रों के प्रकार शब्द के अर्थ के विषय में कहीं कुछ भी नहीं कहा है। पर उनके टीकाकारों ने इन सूत्रों में प्रकार का अर्थभेद किया है।

इस तरह 'प्रकार' शब्दवाले पहले तीन सूत्रों के 'प्रकार' शब्द के विषय में दो तरह के मत स्पष्टतः मिलते हैं। 'सादृश्य' अर्थ माननेवालों में पतंजलि,

१. अपर आह – सादृश्ये अत्र कन्। अपंचकमपि पञ्चकमिव लक्ष्यते स्पन्दमानप्रभत्वात् स पंचको मणिः। —पदमंजरी (२।१।१)।
२. प्रकारो भेदः सादृश्यं च। उभयत्रापि यथाभिधानं कन् भवति। वृत्तौ तु प्रकार इत्युपलक्षणम्।—पदमंजरी (वही)।
३. द्र० अन्येषांत्विति - जयादित्यादीनाम्।—उद्योत, महाभाष्य (८।१।१२)।
४. सादृश्य वृत्तिभ्यस्थाल् स्यात्। तेन प्रकारेण तथा।—भाषावृत्ति (५।३।२३)।
५. इमम् प्रकारमापन्न 'इत्थम्भूत' इति। प्रकारश्च सादृश्यम्। तत्र तृतीया युक्ता।—दुर्घटवृत्ति (२।३।१४)।

भर्तृहरि, वामन्, कैयट, नागेश, पुरुषोत्तमदेव तथा शरणदेव हैं एवं 'भेद' अर्थ माननेवाले विद्वानों में जयादित्य, देवनंदी, शाकटायन, भोज, तथा हेमचंद्र इत्यादि हैं।

'प्रकार' शब्दवाला अंतिम सूत्र है 'प्रकारे गुणवचनस्य'[1] जिसका अभिप्राय है 'प्रकार में वर्तमान गुणवाचक शब्दों का दो बार प्रयोग किया जाना चाहिए'। जैसे 'पटुपटुः', 'पंडितपंडितः' इत्यादि। काशिका में इस सूत्र के व्याख्याकार वामन ने 'सादृश्य' अर्थ को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'परिपूर्ण' गुणवाले व्यक्ति से न्यून गुणवाले व्यक्ति की जब तुलना की जाती है तब इस प्रकार का द्विर्वचनात्मक प्रयोग किया जाता[2] है। जब सीधे यह कहना हो कि 'देवदत्त चतुर है' तब यही कहा जायगा कि 'पटुर्देवदत्तः'। यहाँ 'पटु' शब्द का द्वित्व नहीं किया जाता'।[3]

यहाँ भी पतंजलि ने 'प्रकार' शब्द के अर्थ के विषय में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहा—शायद कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। पर 'गुणवचनस्य' इस पद का जो प्रत्युदाहरण[4]—'अग्निर्माणवकः (बालक अग्नि के समान है) तथा 'गोर्वाहीकः' (वाहीक गौ के समान है)—पतंजलि ने दिया है उससे सर्वथा स्पष्ट है कि वे निश्चित ही 'प्रकार' का अर्थ सादृश्य मानते हैं।

इस अंतिम सूत्र पर हमें जयादित्य के विचारों का पता नहीं लगता क्योंकि काशिका में इस सूत्र की व्याख्या वामन द्वारा की गई है जो सादृश्य पक्ष के माननेवाले हैं। भेदवादी कोई दूसरा व्याख्याकार पाणिनीय संप्रदाय में नहीं दिखाई देता। इसलिये इस सूत्र पर हमें केवल सादृश्यपरक व्याख्या ही देखने को मिलती है। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि जैनेंद्र, शाकटायन तथा हेमव्याकरण के प्रतिष्ठित विद्वानों ने भी, जो ऊपर के तीन सूत्रों में प्रकार का अर्थ 'भेद' करते रहे हैं, इस सूत्र[5] में विद्यमान 'प्रकार' शब्द का 'सादृश्य' अर्थ ही माना है।

१. अष्टाध्यायी (८।१।१२)
२. परिपूर्णगुणेन न्यून गुणस्योपमाने सति एवं प्रयुज्यते।—काशिका (८।१।१२)
३. प्रकारे इति किम्-पटुर्देवदत्तः।—काशिका (वही)।
४. महाभाष्य (८।१।१२) तथा द्र०—गोर्वाहीक इति द्वित्वे सादृश्यप्रत्युदाहृतम्।—वाक्यपदीय वृत्तिसमुद्देश (६२४)
५. द्र० प्रकारे गुणोक्तेः :—प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते।—जैनेंद्र-व्याकरण—महावृत्ति (५।२।१०)।

प्रसंगतः यहाँ एक बात और निवेदन कर दूँ कि इन चारों सूत्रों से निष्पन्न होनेवाले प्रयोगों में एक विशेष बात यह है कि प्रथम सूत्र—'प्रकारवचने थाल्'—से सिद्ध होनेवाले 'यथा', 'तथा' इत्यादि शब्द केवल 'प्रकार' या 'प्रकारता धर्म' को कहते हैं। भले ही 'प्रकार' का अर्थ 'सादृश्य' या 'भेद' कुछ भी किया जाय। दूसरी ओर शेष तीन सूत्रों से विनिर्मित—जातीयर् प्रत्ययान्त, कन् प्रत्ययान्त तथा गुणवाचक शब्दों के द्विवचनात्मक प्रयोग केवल 'प्रकार' या प्रकारता धर्म को न कहकर उस 'प्रकार' से विशिष्ट 'प्रकारवान्' या प्रकारता-धर्म से युक्त धर्मी' को कहा करते हैं। उदाहरण के लिये 'यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः' इस वाक्य में 'यथा' और 'तथा' शब्द केवल 'प्रकार' का ही ज्ञान करा पाते हैं। परंतु दूसरी तरफ 'पटुजातीयः', स्थूलकः या 'चंचत्कः' तथा 'पटुपटुः' 'पण्डित पण्डित.' ये प्रयोग सदा ही 'प्रकारवान्' को कहते हैं केवल धर्म को न कहकर तद्विशिष्ट व्यक्ति को[1] कहते हैं।

इसलिये यदि 'प्रकार वचने थाल्' में 'प्रकार' का अर्थ 'प्रकार धर्म' है तो अन्य सूत्रों में उसका अर्थ है 'प्रकारवान् व्यक्ति' या 'धर्मी'।

अब तक 'प्रकार' शब्द के विषय में विभिन्न व्याख्याताओं के विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया। अब यह विचारणीय है कि इन सूत्रों के उदाहरणभूत शब्दों से 'सादृश्य' अर्थ की अभिव्यक्ति होती है या 'भेद' अर्थ की।

जहाँ तक प्रथम सूत्र का प्रश्न है 'थाल्' प्रत्ययांत 'यथा' और 'तथा' शब्द 'यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त जैसे वाक्यों में देवदत्तः' तथा यज्ञदत्त की समानता या 'सादृश्य' को अभिव्यक्त करते हैं। भेदवादी विद्वानों के अनुसार इस वाक्य का अर्थ होगा—यज्ञदत्त सामान्य व्यक्ति नहीं है, अपितु जिन विशिष्ट गुणों से युक्त देवदत्त है उन्हीं गुणों से युक्त यज्ञदत्त भी है। अतः वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न है। यह ठीक है कि यहाँ 'सादृश्य' तथा 'वैशिष्ट्य' दोनों ही अर्थ अभिव्यक्त होते हैं पर वक्ता की विवक्षा यही होती है कि देवदत्त तथा यज्ञदत्त में सादृश्य है। वह यह नहीं

१. द्र० (क) प्रकार वचनः कश्चित् प्रकार वति संस्थितः।
प्रकारमात्रे वर्तित्वा कश्चित् तद् व्यतिवर्तते ॥
—वाक्यपदीय प्रकीर्ण कांड (श्लोक सं० ६१६)।
(ख) प्रकारवति चायं प्रत्ययः थाल्
पुनः प्रकारमात्रे एव भवति—काशिका (५।३।२३)

कहना चाहता कि यज्ञदत्त अन्य मनुष्यों से भिन्न है—भले ही वह अर्थ भी यहाँ सामर्थ्यगम्य रहा करता है।

'यथा' की इसी साक्षात् 'सादृश्य' वाचकता के कारण आलंकारिकों ने उपमावाचक शब्दों में 'यथा' को भी स्थान दिया है तथा 'यथा' से युक्त उपमा को 'श्रौती उपमा' का नाम दिया[1] है जिसका अभिप्राय है 'यथा' को सुनते ही तुरंत उपमा की प्रतीति हो जाती है। इसका उदाहरण है—'मुखमिन्दुर्यथा' जहाँ वाक्यगता श्रौती लुप्तोपमा मानी जाती है।

पर यदि 'यथा' को सादृश्यवाचक माना जाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'अव्ययं विभक्ते'[2] इस सूत्र में 'यथा' पद से 'यथा' अर्थ में अव्ययीभाव समास का विधान कर देने पर फिर 'सादृश्य' अर्थ में उसी अव्ययीभाव समास का विधान करने के लिये पाणिनि ने उसी सूत्र में पुनः 'सादृश्य' पद को क्यों स्थान दिया?

इस प्रश्न का उत्तर भर्तृहरि ने दो तरह से दिया है। प्रथम उत्तर में भर्तृहरि का यह कहना है कि 'यथा' शब्द द्वारा उन शब्दों में अव्ययीभाव समास का विधान किया गया है जिनमें 'सादृश्य' धर्म प्रधानतया कहा जाता है।

जैसे 'हरेः सादृश्यम् सहरि' (हरि की सदृशता)। इसके विपरीत 'सादृश्य' पद द्वारा अव्ययीभाव समास का विधान उन पदों में किया जाता है जहाँ समास के द्वारा सादृश्यवान् कहा जाता है। जैसे सदृशः रामेण सरामः' या 'सदृशः सख्या ससखि' (राम के सदृश या सखा के सदृश)। यहाँ राम या सखा के सदृश कोई अन्य व्यक्ति कहा जा रहा[3] है।

दूसरा समाधान में भर्तृहरि ने यह कहा है कि 'यथा (अर्थ,' पद द्वारा उन स्थलों में समास अभिप्रेत है जहाँ गुणगत 'सादृश्य' की अभिव्यक्ति होती है। जैसे 'अनुरूपं वेष' (रूप के सदृश वैष)। यहाँ रूप गुण की सदृशता अभिहित

१. द्र० साहित्यदर्पण (१०।१९-२३)।
२. अष्टाध्यायी (२।१।६)।
३. सादृश्यग्रहणं सूत्रे सादृश्यस्योपलक्षणम्।
  तुल्ययोरव्ययीभावे सहशब्दो अभिधायकः ॥
  वीप्सासादृश्ययोर्वृत्तिः या यथार्थाभिधायिनः।
  स चायमव्ययीभावे भेदो भेदेन दर्शितः ॥
　　— वाक्यपदीय वृत्ति समुद्देश (श्लोक सं० ११०—११)

हो रही है। इसके विपरीत 'सादृश्य' पद द्वारा उन स्थलों में अव्ययीभाव समास अभिप्रेत है जिनमें मूर्तिगत सादृश्य की अभिव्यक्ति होती है—जिसका संबंध वस्तु या व्यक्ति के अवयवों से होता है। इसका उदाहरण है—'सादृश्यं सख्या ससखि' (सखा का सादृश्य)। इस प्रकार के 'सादृश्य' को 'सह' अव्यय कहा जाता[1] है।

इन द्विविध स्थलों में अव्ययीभाव समास का विधान करने के लिये पाणिनि ने 'यथा' तथा 'सादृश्य' इन दोनों पदों को पृथक् पृथक् अपने उपर्युक्त सूत्र में स्थान दिया[2] है।

आश्चर्य की बात यह है कि भेदवादी जयादित्य ने भी, जो 'प्रकार वचने थाल्' सूत्र में 'प्रकार' शब्द का केवल 'भेद' अर्थ ही स्वीकार करता है, यहाँ 'यथा' को सादृश्यवाचक मानते हुए, भर्तृहरि के ही प्रथम समाधान को संक्षेप में थोड़े शब्दांतर के साथ प्रस्तुत किया है।

एक प्रश्न और पूछा जा सकता है कि यदि 'यथा' शब्द का अर्थ 'सादृश्य' ही है तो पाणिनि ने अपने सूत्र 'यथा असादृश्ये'[3]-द्वारा 'असादृश्य' अर्थ में 'यथा' अव्यय का समास-विधान क्यों किया? भर्तृहरि ने इस प्रश्न को नहीं उठाया है। पतंजलि ने लगभग इसी प्रकार के एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में, यह कहा है कि केवल 'प्रकार वचने थाल्' से निष्पन्न होनेवाला व्युत्पन्न एवं थाल्-प्रत्ययांत—'यथा' शब्द ही 'सादृश्य' का वाचक है। इसके अतिरिक्त एक अव्युत्पन्न थाल् प्रतिरूपक थाल्प्रत्ययांत सदृश 'यथा' शब्द है जिसके 'सादृश्य' से इतर-योग्यता, वीप्सा तथा पदार्थानतिवृत्ति अर्थ होते हैं[4]। शाकटायन तथा हेम

१. सादृश्यं योग्यता कश्चिदनावभ्युपगम्येत।
यत्तु मूर्तिगतं साम्यं तत् सहेनाभिधीयते॥
—वाक्यपदीय, वही (श्लोक सं० ६२२)।

२. द्र०-सादृश्यं तुल्यता। किमर्थम् इदम् उच्यते यथार्थे इत्येव सिद्धम्? गुणभूते अपि सादृश्ये यथा स्यात् सदृशः सख्या ससखि।
—काशिका (२।१।६)।

३. अष्टाध्यायी (२।१।७)

४. द्र०—अथेत्ययं प्रकारवचने थाल् स च सादृश्ये वर्तते।··· ··
अयं यथाशब्दो अस्त्येवाव्युत्पन्नः प्रातिपदिकं वीप्सावाचि। अस्ति प्रकारवचने थाल्। तत्र यद् अव्युत्पन्नं वीप्सावाचि तस्येदं ग्रहणम्॥
—महाभाष्य (२।१।७)

संप्रदाय के आचार्यों ने, पतंजलि के इस कथन के अनुसार ही, पाणिनि के 'यथा असादृश्ये' सूत्र के स्थान पर, 'यथा' अथा' सूत्र का प्रणयन किया है जिसका अभिप्राय है कि थालूप्रत्यय-रहित अव्युत्पन्न 'यथा' का समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास होता है।

पर केवल अर्थ की भिन्नता की दृष्टि से एक ही 'यथा' शब्द को दो तरह का मान लेना किसी भी तरह सुसंगत नहीं प्रतीत होता।

ऊपर के प्रश्न का यह उत्तर दिया जा सकता है कि पाणिनि के 'असादृश्ये' पद का 'सादृश्य से सर्वथा रहित' यह अभिप्राय कदापि नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि वैयाकरणों की एक परिभाषा है-नञिवयुक्तम् अन्यसदृशाधिकरणे तथा हि अर्थगतिः'[2] 'नञ' तथा 'इव' से युक्त पद में उससे भिन्न पर तत्सदृश द्रव्य या व्यक्ति का ज्ञान होता है')। इसीलिये 'अब्राह्मणमानय' कहने पर ब्राह्मणेतर पर ब्राह्मण सदृश ही किसी क्षत्रिय आदि को लाया जाता है। इसी तरह 'असादृश्ये' का भी अभिप्राय यह है कि 'यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः' में जिस प्रमुख 'सादृश्य' की अभिव्यक्ति पाई जाती है वैसी सदृशता से रहित पर सामान्य सादृश्य से युक्त अर्थ में 'यथा' इस अव्यय का समास अभीष्ट है। इसीलिये 'यथारूपम्' तथा 'यथाशक्ति' या 'यथावृद्धम्' जैसे समस्त पदों में जहाँ 'यथा असादृश्ये' सूत्र द्वारा समास का विधान किया जाता है तथा क्रमशः 'योग्यता' एवं पदार्थानतिवृत्ति' अर्थ अभियक्त होते हैं, वहाँ भी 'सादृश्य' किसी न किसी रूप में रहता ही है।

इस तरह इस प्रथम सूत्र प्रकार वचने थाल् में 'प्रकार' शब्द का अर्थ प्रधानतः 'सादृश्य' ही प्रतीत होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिये 'थाल्' प्रत्यय का विधान पाणिनि ने किया है।

दूसरे सूत्र 'प्रकारवचने जातीयर्[3]' के 'पटुजातीयः', 'मृदुजातीयः' इत्यादि उदाहरणों में प्रायः गुणवाचक शब्दों से 'जातीयर्' प्रत्यय का संयोजन दिखाई देता है। इन सब उदाहरणों में 'सादृश्य' अर्थ की प्रधानता दिखाई देती है। 'पटुजातीयः' कहते हुए वक्ता की विवक्षा यही होती है कि 'वह पटुसदृश है, पटु नहीं है'। भेदवादी विद्वान् यह अर्थ करेंगे कि 'वह पटु गुणयुक्त व्यक्तियों के वर्ग

१. हेमव्याकरण— (३।१।४१)
२. परिभाषेन्दु शेखर (परिभाषा संख्या ७५)
३. अष्टाध्यायी (५।३।६९)

का है' इसलिये दूसरों से भिन्न है। परंतु पाणिनि को यहाँ 'वर्ग' या जाति को कहना अभीष्ट नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'जाति' या 'वर्ग' को कहने के लिये पाणिनि का एक अन्य सूत्र है—'जात्यन्तात्[1] छ बंधुनि' (जात्यंत शब्दों से, बंधु बिरादरी या जातिवाले को कहने के लिये 'छ' प्रत्यय होता है) जिसका उदाहरण है—'ब्राह्मण जातीयः', 'क्षत्रिय जातीयः' इत्यादि, जिसका अभिप्राय है—वह 'ब्राह्मण जाति का है', 'वह क्षत्रिय जाति का है'। इसलिये इस सूत्र के रहते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रकारवचने जातीयर्' सूत्र में गुणवाचक शब्दों से ही सूत्रकार को 'जातीयर्' प्रत्यय अभीष्ट है।

यहाँ सादृश्य अर्थ की प्रबलता इसलिये भी स्वीकारणीय है कि 'प्रकारे गुणवचनस्य[2]' सूत्र से, जहाँ 'प्रकार' का अर्थ सभी विद्वान्, चाहे वे भेदवादी हों या सादृश्यवादी, 'सादृश्य' करते हैं। 'सादृश्य' की अभिव्यक्ति के लिये गुणवाचक शब्दों के द्वित्व प्रयोग के विकल्प में 'जातीयर्' प्रत्यय की स्थिति भी स्वीकार की जाती है, अर्थात् पटु सदृश व्यक्ति को कहने के लिये ही 'पटुपटुः' तथा 'पटुजातीयः' इन दोनों में से किसी भी एक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।[3]

इस प्रकार इस दूसरे सूत्र में भी प्रकार का अर्थ सादृश्य ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है

तीसरे सूत्र 'स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने[4] कन्' से निष्पन्न होनेवाले 'चंचत्क' तथा 'बृहत्क्' शब्दों के अर्थ के विषय में ऊपर भर्तृहरि तथा उनके अनुयायी कैय्यट के विचार दिए जा चुके हैं। उनके अनुसार इन शब्दों के अभिधेयभूत अर्थों की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूत्र में सादृश्य अर्थ में ही 'कन्' प्रत्यय का विधान माना जा सकता है और इसलिये यहाँ का 'प्रकार' शब्द भी सादृश्यवाचक ही है। इन दोनों शब्दों के अतिरिक्त स्थूलक', 'अणुक', 'माषक' इत्यादि शब्द भी अर्थ की दृष्टि से क्रमशः 'स्थूल', 'अणु' तथा 'माष' की समानता से युक्त होते हैं। स्थूल सदृश को 'स्थूलक', चतुर निपुण, अल्प, स्तोक को 'अणुक' तथा 'माष' से न्यून एक विशेष परिमाण को 'माषक' कहा जाता[5] है।

१. अष्टाध्यायी (५।४।९)
२. वही (८।१।१२)
३. द्र० जातीयरो अनेन द्विर्वचनेन बाधनं नेष्यते।— काशिका (८।१।१२)
४. अष्टाध्यायी (५।४।३)
५. द्र० शब्दकल्पद्रुम
१० (९९–३)

पदमंजरी के लेखक हरदत्त मिश्र ने स्थूलादिगण के कुछ अन्य उदाहरणों का भी अर्थ प्रस्तुत किया है; जैसे 'यवकः' का अर्थ 'यवसदृश' 'गोमूत्रक' का गोमूत्र सदृश झालरवाला वस्त्र या आच्छादन विशेष, 'सुरक' का सुरा वर्णवाला सर्प, 'जीर्णक' का लगभग जीर्ण हो गए धान, इत्यादि[1]। इन शब्दों के ये अर्थ, जिनकी पुष्टि कोशकार भी करते हैं, इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रस्तुत सूत्र में 'प्रकार' शब्द का अर्थ 'सादृश्य' ही है।

चौथे सूत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य'[2] के विषय में विशेष कहने की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि यहाँ तो उपरिनिर्दिष्ट भेदवादी विद्वान् भी 'प्रकार' का अर्थ सादृश्य ही करते हैं। काशिका में इस सूत्र की व्याख्या भले ही भेदवादी जयादित्य के द्वारा नहीं की गई है अपितु सादृश्यवादी वामन के द्वारा की गई है, पर जैनेंद्र आदि तो भेदवादी ही हैं परंतु उन्हें भी यहाँ सादृश्य अर्थ ही[3] अभिप्रेत है।

इस तरह इन सूत्रों के विभिन्न उदाहरणों तथा उनके अर्थों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रकार', शब्द का प्रयोग पाणिनि के इन सूत्रों में 'सादृश्य' अर्थ में ही हुआ है और इस रूप में भर्तृहरि आदि सादृश्यवादी विद्वानों की स्थिति ही अधिक सुदृढ़ एवं मान्य प्रतीत होती है।

परंतु भर्तृहरि का 'सर्वत्र' शब्द यह बताता है कि भर्तृहरि न केवल इन चार सूत्रों में 'प्रकार' का अर्थ सादृश्य मानते हैं अपितु जहाँ कहीं भी 'प्रकार' शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ सर्वत्र ही उसका 'सादृश्य' अर्थ ही मानना चाहिए। पाणिनि के दो अन्य सूत्रों – 'इत्थम्भूत लक्षणे'[4] तथा 'संख्याया विधार्थे धा'[5] में भी 'प्रकार' शब्द अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है। पहले सूत्र का अर्थ है 'किसी विशेष प्रकारता की प्राप्ति के लक्षण या चिह्न के वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है'; जैसे 'जटाभिः तापसः' या कमण्डलुना छात्रः'। यहाँ

१. द्र० पदमंजरी (५।३।३)
२. अष्टाध्यायी (८।१।१२)
३. द्र० प्रकारो गुणोक्तेः—प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते।—जैनेंद्र व्याकरण महावृत्ति (४।२।१०)
४. अष्टाध्यायी (२।३।२१)
५. वही (५।३।४)

'तापसत्व' या 'छात्रत्व' रूप विशिष्ट प्रकार के क्रमशः लक्षण हैं जटा तथा कमंडलु जिनसे तृतीया विभक्ति दिखाई देती है। दूसरे सूत्र का अर्थ संख्यावाचक शब्दों से क्रिया 'प्रकार' को कहने के लिये 'धा' प्रत्यय संयुक्त होता है; जैसे 'रामः पंचधा भुंक्ते' (राम पाँच तरह से भोजन करता है)।

स्पष्ट है कि इन दोनों स्थलों में 'प्रकार' का अर्थभेद है परंतु भर्तृहरि यहाँ भी बुद्धिस्थ 'सादृश्य' मानते[1] हैं। इन प्रयोगों में 'भेद प्रतीति के ज्ञापक जटा तथा कमंडलु इत्यादि वस्तुएँ बाह्य तथा क्षणिक हैं, इसलिये उनके आधार पर जो भेदज्ञान होगा वह भी अवास्तविक ही होगा। इसी तरह 'पंचधा भुंक्ते' इत्यादि में 'प्रकारता' या 'भेद' केवल साधनों में ही हो सकता है, न कि क्रिया में; क्योंकि क्रिया तो सर्वथा भेदरहित हुआ करती है। इसलिये प्रकार का सर्वत्र 'सादृश्य' अर्थ ही मानना चाहिए, यह भर्तृहरि का अभिमत सिद्धांत है।

●

1. इत्थम्भावेऽपि सादृश्यं तु व्यवस्थानिबन्धनम् ।
प्रहृयो भेदमात्रस्य तत्रान्यैवाभिधीयते ॥
—वाक्यपदीय प्रकीर्ण कांड (श्लोक सं० ६११)

बंबई का पारसी रंगमंच

डॉ० रघुवीर उपाध्याय

अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् भारतीय रंगमंच का आधुनिक रूप शुरू होता है। भारत में अर्वाचीन ढंग के रंगमंच का सर्वप्रथम प्रारंभ कलकत्ता में हुआ। सन् १७५७ ई० के प्लासीयुद्ध के समय कलकत्ता में आज के मिशन रो के पूर्वोत्तर भाग में लाल बाजार में अंग्रेजों का 'प्लेहाउस' नामक एक नाट्यगृह था[1] जहाँ अंग्रेजों के द्वारा अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे। युद्ध में उसका ध्वंस होने पर सन् १७७२ ई० में पुनः उसका निर्माण हुआ। कलकत्ता के अंग्रेजी रंगमंच की यह परंपरा १९वीं शती तक चलती रही। इससे प्रेरित और प्रभावित होकर हेरेसिम लेबेडेफ नामक रूसी यात्री ने सन् १७९३ ई० में कलकत्ता के मध्यभाग में एक नाट्यगृह स्थापित किया और बाबू गोलोकनाथ नामक बंगाली भाषाविद् की सहायता से 'छद्मवेश' नामक बँगला नाटक सर्वप्रथम दिनांक २७ नवंबर, १७९५ को खेला।[2] इसमें बंगाली पुरुषों के साथ स्त्रियों ने भी भाग लिया।[3] तत्पश्चात् कई नाट्यगृह और नाटक मंडलियाँ क्रमशः बनीं और टूटीं। पर बंगाली नाट्याभिनय की यह परंपरा लेबेडेफ के अनंतर आज तक अक्षुण्णरूपेण जारी रही है। समस्त भारत में बंगाली रंगमंच सर्वप्रथम प्रारंभ हुआ और उसका चरमोत्कर्ष भी हुआ।

पारसी रंगमंच का उद्भव और विकास बंगाली रंगमंच के अनंतर हुआ है। इस पारसी रंगमंच का संबंध भारतीय संस्कृत रंगमंच से न होकर पाश्चात्य रंगमंच से रहा है। पारसी रंगमंच वस्तुतः गुजराती रंगमंच है, जिसका जन्म बंबई में गुजरातीभाषी पारसी सज्जनों के प्रयत्नों से हुआ है। इसी

१. द इंडियन स्टेज भाग १, हेमेंद्रनाथ दासगुप्त, संस्करण १९४४, पृ० १७६।
२. वही, पृ० २२०
३. वही, पृ० २२०

पारसी गुजराती रंगमंच पर हिंदी उर्दू नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय बंबई में प्रारंभ हुआ और कालांतर में उसने अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लिया। इसी पारसी गुजराती रंगमंच का इतिहास हिंदी व्यावसायिक रंगमंच का इतिहास है। 'हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है।'[1] इस मत का समर्थन हिंदी के कई विद्वानों ने किया है।[2] 'हिंदी रंगमंच कहलानेवाली और इस नाम को सार्थक करनेवाली कोई स्थायी चीज हिंदी जगत् के पास अभी तक भी नहीं है।'[3] आशा है, हमारे स्वातंत्र्योत्तर प्रयत्नों के फलस्वरूप हिंदी का रंगमंच अस्तित्व में आएगा।

अमानत कृत 'इंदरसभा' : १८५३ ई० : के पूर्व और पारसी व्यावसायिक रंगमंच के उद्‌भव के पूर्व इंग्लैंड से अभिनेताओं की कंपनियाँ भारत के पश्चिमी भाग में बंबई और अन्य बड़े बड़े शहरों में आती और अंग्रेजी खेलों का प्रदर्शन करतीं।[4] इसके अतिरिक्त रशियन, इटैलियन और फ्रेंच कलाकारों का भी इसी प्रकार बंबई में आगमन होता।[5] सन् १८४५ में यूरोप की किसी ऑपेरा कंपनी ने अपने खर्च से बंबई में ग्रांट रोड पर 'रॉयल थियेटर' नामक एक छोटा सा नाट्य-गृह बनवाया।[6] इस नाट्यगृह में पश्चिमी लोगों द्वारा अभिनीत नाटकों एवं ऑपेराओं से अंग्रेजी अफसरों और उनसे संबंधित अन्य लोगों का मनोरंजन होता। अधिकतर शेक्सपियर के ही नाटक खेले जाते। बंबई के तत्कालीन नगरपति सर

१. महाकवि जयशंकरप्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध, तृतीय संस्करण, संवत् २००५ वि०, पृ० १०६।

२. (अ) डॉ० नगेंद्र: 'आधुनिक हिंदी नाटक', षष्ठ संस्करण, १९६०, पृ० १।
(आ) श्री श्रीकृष्णदास : 'हमारी नाट्यपरंपरा', पृ० ६०७।
(इ) डॉ० देवर्षि सनाढ्य, 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृ० २११।

३. हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास ले० डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ८३।

४. 'गुजरात : एक परिचय' नामक कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमिना सो वर्ष' नामक लेख, ले० श्री. चंद्रवदन महेता। पृ०. १२७।

५. 'बाँध गठरिया' भाग. २,
ले० श्री. चंद्रवदन महेता, प्रथम आवृत्ति, पृ. ५३।

६. 'बाँध गठरिया' भाग २, ले० श्री. चंद्रवदन महेता,
प्रथम आवृत्ति, पृ. ५३।

जगन्नाथ शंकर सेठ ने उक्त नाट्यगृह सन् १८४७–४८ के आसपास खरीद लिया।[1]

इन यूरोप से आनेवाली नाटक कंपनियों के अंग्रेजी नाटकों तथा स्कूल कालेजों के अंग्रेजी कॉन्सर्टों को देखकर बंबई के कुछ उत्साही पारसी नवयुवकों ने सन् १८५३ ई० में सबसे पहली अवैतनिक 'पारसी नाटक मंडली' शुरू की।[2] तदंतर कई शौकिया नाटक मंडलियाँ अस्तित्व में आईं। उनमें से दो एक मंडलियाँ शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटकों के प्रयोग करती थीं। एक दो ईरानी नाटक मंडलियाँ फारसी में नाटकों का अभिनय करती थीं और शेष सभी पारसी मिश्रित गुजराती में नाटक खेलती थीं। 'रुस्तम अने सोराब' सबसे पहला गुजराती नाटक बंबई में सन् १८५३ ई० में 'पारसी नाटक मंडली' द्वारा खेला गया।[3] इस मंडली को प्रेरणा और प्रोत्साहन देनेवाले सुप्रसिद्ध देशनेता स्व० दादाभाई नवरोजी थे। एक कलाप्रेमी महाराष्ट्री सज्जन डॉ० भाऊदाजी इसकी परामर्शदात्री समिति में थे। बंबई में सन् १८५३ से १८६६ के बीच लगभग बीस अवैतनिक नाटक मंडलियाँ क्रमशः अस्तित्व में आईं।[4] उनमें से कुछ तो बंद हो गईं और कुछ आगे जाकर पेशेवर नाटक मंडलियों के रूप में परिवर्तित हो गईं।

फारसी के समर्थ विद्वान् सुप्रसिद्ध गुजराती नाट्यकार, पत्रकार, समाज-सुधारक और शिक्षाप्रेमी केखुशरू नवरोजी काबराजी के मार्गदर्शन में बंबई में सन् १८६७–६८ में सबसे पहली व्यावसायिक नाटकमंडली का प्रारंभ हुआ, जिसका नाम 'विक्टोरिया नाटकमंडली' था।[5] इस मंडली के चार मालिकों में से एक

१. 'बाँधगठरिया' भाग. २, ले० श्री. चंद्रवदन महेता, प्रथम आवृत्ति, पृ. ८३।

२. 'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख' ले० डॉ० धनजीभाई न० पटेल, १९३१, पृ० २।

३. 'गुजराती नाट्य' नामक गुजराती मासिक पत्रिका में लेख 'आपणी रंगभूमि', ले० डॉ० डी० जी० व्यास, अक्टूबर १९५६, पृ० ५।

४. 'गुजरात : एक परिचय' नामक कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि' शीर्षक लेख, ले० श्री० हरकांत शुक्ल, पृ० ११७।

५. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल, पृ० २।

पारसी नाट्यसृष्टि के सर्वमान्य नेता, अनुभवी दिग्दर्शक एवं सफल अभिनेता श्री दादाभाई रतनजी ठूठी थे और संचालन समिति के अध्यक्ष थे 'रॉयल थियेटर' के मालिक महाराष्ट्री सद्गृहस्थ श्री विनायक जगन्नाथ शंकरशेठ। श्री केखुशरू काबराजी ने इसका मंत्रीपद ग्रहण किया था। इस मंडली ने सन् १८६६ में सबसे पहले केखुशरू काबराजी का 'बेजन अने मनीजेह' नामक गुजराती नाटक खेला¹ जिसका कथानक प्राचीन ईरानी इतिहास से संबंधित है। तत्पश्चात् 'निंदाखानु', 'हरिश्चंद्र,' 'लवकुश' आदि कई नाटक खेले। खुरशीद बालीवाला ने सर्वप्रथम 'विक्टोरिया नाटक मंडली' के नाटक 'बेजन अने मनीजेह' (१८६६) में एक स्त्री की भूमिका ली थी। इसमें उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी।[2] इसी प्रकार पेस्तनजी फरामजी मादन ने इसी मंडली के 'दादे दरियाव' याने 'खुशरू नो खाविंदखुदा' नामक गुजराती नाटक में 'आवान' नामक नारीपात्र का अभिनय कर अतिशय प्रसिद्धि प्राप्त की थी।[3] 'विक्टोरिया नाटकमंडली' के प्रारंभिक अभिनेताओं में दादाभाई रतनजी ठूँठी, खुरशीद बालीवाला, उनके पिता मेरवानजी बालीवाला, नसरवानजी फरामजी मादन, उनके भाई पेस्तनजी फरामजी मादन आदि थे। आगे जाकर इस मंडली के मालिकों और अभिनेताओं में काफी परिवर्तन हुए और इसी की दो मंडलियाँ हो गईं एक विक्टोरिया नाटकमंडली और दूसरी ओरिजिनल विक्टोरिया नाटकमंडली।

(आ) डॉ० शियावक्ष काबराजी, गुजराती साहित्य परिषद नी त्रैमासिक पत्रिका, पुस्तक पहेलु, अंक त्रीजो, पृ० २१३।

(इ) हस्तलिखित डायरी : श्री जयशंकर 'सुंदरी', पृ० २०।

१. (अ) 'गुजराती साहित्य परिषद नी त्रैमासिक पत्रिका' पृ० १, अंक ३, 'स्व० केखुशरू काबराजी' नामक लेख, लेखक डॉ० शियावक्ष काबराजी, पृ० २१३।

(आ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल, पृ० २।

(इ) 'स्मारक ग्रंथ' गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव। पृ० १३।

(ई) हस्तलिखित डायरी : श्री जयशंकर 'सुंदरी', पृ० ११।

२. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख : ले० डॉ० धनजीभाई न० पटेल, पृ० ६०।

३. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख : ले० डॉ० धनजीभाई न० पटेल, पृ० १०५।

हिंदी उर्दू भाषा का प्रयोग

प्रारंभ से ही बंबई बहुभाषाभाषी नगर रहा है। अतः भावे, किर्लोस्कर, डोंगरे आदि मराठी नाटकमंडलियाँ बंबई में बसे हुए सभी प्रदेशों के लोगों के मनोरंजन के लिये अपने मराठी नाटकों के साथ हिंदी में भी नाटक खेलती थीं। बंबई के सर जगन्नाथ शंकरशेठ के ग्रांट रोडवाले थियेटर में भावे नाटकमंडली अथवा सांगलीकर नाटकमंडली ने सन् १८५८ में राजा गोपीचंद' नामक पहला हिंदी नाटक खेला। इस प्रकार हिंदी नाटक का सर्वप्रथम अभिनय बंबई में एक मराठी नाटक मंडली के द्वारा हुआ।[1] यह नाटकमंडली सन् १८४३ में महाराष्ट्र के अंतर्गत सांगली रियासत के महाराजा सर चिंतामणिराव आप्पा साहेब पटवर्धन के प्रोत्साहन एवं प्रश्रय से उनके एक आश्रित श्री विष्णुदास भावे ने प्रारंभ की थी।[2] इस मंडली ने सर्वप्रथम 'सीतास्वयंवर' नामक मराठी पौराणिक पद्यनाटक सन् १८४३ में खेला।[3] यह मंडली सांगली के बाहर बंबई, सौराष्ट्र, धीर, गुजरात में घूम घूमकर अपने नाटक प्रदर्शित करती थी। इन नाटकों के संवाद मराठी से अनूदित हिंदी में होते थे और गीत मूल मराठी ही में रहते थे क्योंकि मराठी गीतों का हिंदी में पद्यबद्ध अनुवाद करना कठिन माना जाता था।

बंबई में शंकरशेठ का जहाँ नाट्यगृह था, उस ग्रांट रोड विभाग में अधिकांश मुसलमान रहते थे जो 'बंबइया हिंदी' बोलते थे। इसके अतिरिक्त लखनऊ की ओर से कुछ उर्दूदाँ मुसलमान पारसी नाटक मंडलियों में नौकर भी हो गए थे। व्यापारिक और व्यावहारिक मनोवृत्ति के पारसी मालिकों को हिंदी-उर्दू (हिंदुस्तानी ?) भाषा में नाटक खेलने पर अखिल भारतीय क्षेत्र प्राप्त होने की ओर उसके द्वारा धनोपार्जन करने की संपूर्ण संभावना दृष्टिगत होने लगी थी। बहुभाषाभाषी बंबई इसके लिये उपयुक्त प्रयोग स्थान था। भावे, किर्लोस्कर आदि मराठी नाटकमंडलियों के हिंदी नाटकों को पहले आंशिक सफलता मिल भी चुकी थी। इन सब बातों से प्रेरित होकर 'विक्टोरिया नाटकमंडली' के

१. (अ) 'बाँध गठरिया', भाग १, श्री चंद्रवदन महेता, पृ० ५२।
(आ) 'गुजराती नाट्यपत्रिका' में लेख 'आपणी रंगभूमि'। ले० डॉ० जी० जी० व्यास, अक्टूबर, १९५९, पृ० ६।

२. मराठी रंगभूमि, ले० श्री आप्पा विष्णु कुलकर्णी, द्वि० आ० १९६१, पृ० १२ और ३६।

३. मराठी रंगभूमि, ले० श्री आप्पा विष्णु कुलकर्णी, द्वि० आ० १९६१, पृ० ३६।

मालिकों में से एक मालिक दादाभाई सोराबजी पटेल, एम० ए० (दादी पटेल) ने 'सोने के मूल की खुरशीद' नामक हिंदी उर्दू नाटक सर्वप्रथम बंबई में सन् १८७१ में 'विक्टोरिया थिएटर' में खेला जिसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई।[1] यह नाटक एदलजी खोरी कृत गुजराती नाटक 'सोनाना मुलनी खोरशेद' का अनुवाद था। इसके अनुवादक थे बेहरामजी फरदुनजी मर्जबान। 'सोने के मूल की खुरशीद' की अत्यधिक लोकप्रियता से प्रभावित एवं प्रोत्साहित होकर बंबई की अन्य पारसी नाटक मंडलियों ने भी गुजराती नाटकों के साथ साथ हिंदी उर्दू नाटक खेलने शुरू किए। इनमें एल्फिन्स्टन, अल्फ्रेड, ओरिजिनल विक्टोरिया, एंप्रेस विक्टोरिया, न्यू अल्फ्रेड आदि नाटक मंडलियाँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि पारसी नाटक मंडलियों का प्रारंभ न 'इंदर सभा' की प्रेरणा से हुआ और न इन मंडलियों ने 'इंदर सभा' के अनुकरण पर हिंदी उर्दू नाटक खेलने शुरू किए। वस्तुतः बंबई में आनेवाली यूरोपियन ड्रामेटिक कंपनियों के खेलों को और बंबई के यूरोपियन क्लबों के नाट्य प्रयोगों को देखकर तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण कर पारसी नाटक मंडलियों ने जन्म लिया। प्रारंभ में वे 'एमेच्योर क्लबों' के रूप में थीं। आगे जाकर व्यावसायिक नाटक मंडलियों के रूप में उनका परिवर्तन हो गया। इन तथ्यों के पश्चात् अब डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि 'इंदर सभा' के व्यवसाय को देखकर उत्साही पारसी सज्जनों ने एक थिएट्रिकल कंपनी खोलने का संकल्प किया।[2] सच बात तो यह है कि 'इंदर सभा' (१८५३) के उद्भवकाल से हो बंबई में पारसी ड्रामेटिक क्लबों का प्रचलन था और पारसी लोग अंग्रेजी तथा पारसी गुजराती भाषा में नाटक खेलते रहते

१. (अ) श्री फरामजी मुसतादजी दलाल का 'खी बोधनो खास बधारो' के० न० काबरा स्मृति अंक में लेख : 'मी. काबराजीनो नाटक तख्ता साथेनो संबंध, एक जूना खेलाडीनी नजरे, पृ० ५३।
(आ) श्री चंद्रवदन महेता, 'बाँध गठरिया', भाग २. प. आ. १९५४, पृ० ९९।
(इ) डॉ० डी० जी० व्यास का 'गुजराती नाट्य' नामक गुजराती पत्रिका में लेख 'आपणी रंगभूमि', पृ० ६, अंक १, अक्टूबर १९५३।
(ई) श्री जयशंकर 'सुंदरी' की हस्तलिखित डायरी, पृ० ५४।
२. 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास' : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ३६६।

थे। हाँ, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि 'इंदर सभा' को अखिल भारत में लोकप्रियता प्राप्त होने पर उससे प्रभावित होकर पारसी, गुजराती और मराठी नाटक मंडलियों ने बाद में उसे खेला जरूर था।

नाट्यसाहित्य विषयक लगभग सभी हिंदी शोधग्रंथों में यह निर्देश किया गया है कि पेस्तनजी फ्रेमजी ने १८७० ई० के आसपास बंबई में 'ओरिजिनल थिएट्रिकल कंपनी' नामक सबसे पहली पारसी नाटकमंडली खोली।[1] यह कथन पुनः विचारणीय है। पीछे कहा जा चुका है कि बंबई की सबसे पहली व्यावसायिक पारसी नाटक कंपनी 'विक्टोरिया नाटकमंडली' थी जिसकी स्थापना सन् १८६७-६८ में हुई थी और जिसके मालिक थे दादाभाई रतन जी ठूँठी। इसके मुख्य अभिनेता (१) दादाभाई रतनजी ठूँठी, (२) खुरशीद बालीवाला (३) मेरवानजी बालीवाला, (४) पेस्तनजी फरामजी मादन, (५) नसरवानजी फरामजी मादन आदि थे।[2] विक्टोरिया नाटकमंडली के दूसरे मालिक कुँवरजी नाजर के साथ मनमुटाव हो जाने के कारण दादाभाई सोराबजी पटेल एम० ए० ने उनसे अलग होकर 'ओरिजिनल विक्टोरिया नाटकमंडली' (न कि ओरिजिनल थिएट्रिकल कंपनी) की स्थापना सन् १८७४-७५ के आसपास की थी।[3] इसके अभिनेताओं में दादाभाई पटेल, नसरवानजी फरामजी मादन,

१. (अ) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'आधुनिक हिंदी साहित्य,' पृ० २७० ।
(आ) डॉ० श्रीकृष्णलाल, 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास', पृ० २०३ ।
(इ) डॉ० दशरथ ओझा, 'हिंदी नाटकः उद्भव और विकास', पृ० १६६ ।
(ई) डॉ० सोमनाथ गुप्त 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० १०० ।
(उ) डॉ० श्रीपति शर्मा, हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव', पृ० ४०६ ।
(ऊ) डॉ० वेदपाल खन्ना, 'हिंदी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' पृ० ८८ ।
(ए) डॉ० वीरेंद्रकुमार शुक्ल, 'भारतेंदु का नाटक साहित्य', पृ० ४० ।
(ऐ) श्री० श्रीकृष्णदास, 'हमारी नाट्यपरंपरा', पृ० ६०३ ।

२. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख, डॉ० धनजीभाई न० पटेल पृ० १०४, १०६ और ११० ।
(आ) श्री जयशंकर 'सुंदरी' की हस्तलिखित डायरी, पृ० ५०-५१ ।

३. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख, डॉ० धनजीभाई न० पटेल, पृ० ११८ ।
(आ) श्री० जयशंकर 'सुंदरी' की हस्तलिखित डायरी, पृ० १७६ ।

पेस्तनजी फरामजी मादन, सोराबजी ओगरा आदि प्रमुख थे। ये सभी पहले 'विक्टोरिया नाटकमंडली' में काम करते थे। दादाभाई पटेल के अवसान के पश्चात् सन् १८७६ में पेस्तनजी फरामजी मादन (न कि पेस्तनजी फ्रामजी) 'ओरिजिनल विक्टोरिया नाटकमंडली' के मालिक बने।[1] दादाभाई पटेल के अलग हो जाने के बाद पुरानी विक्टोरिया नाटकमंडली कुँवरजी नाजर के हाथ में रही जिसके अभिनेता थे कुँवरजी नाजर, खुरशीद बालीवाला, मेरवानजी बालीवाला आदि।[2] खुरशीद बालीवाला ने इस मंडली में इतनी दक्षता से कार्य किया कि वे उत्तरोत्तर विकास करते करते सन् १८८१ में इसके मालिक बन गए।[3]

यदि कालक्रमानुसार देखा जाय तो सन् १८६७–६८ में विक्टोरिया नाटकमंडली, सन् १८७० में एल्फिंस्टन नाटकमंडली, सन् १८७१ में अल्फ्रेड नाटक मंडली, सन् १८७४–७५ में ओरिजिनल विक्टोरिया नाटकमंडली और सन् १८७६ में एंप्रेस विक्टोरिया नाटकमंडली स्थापित हुई थी। इससे यह सिद्ध होता है कि 'ओरिजिनल विक्टोरिया' सर्वप्रथम नहीं थी।

पारसी रंगमंच का अखिल भारतीय रूप :

पारसी गुजराती नाटक 'बेजन अने मनीजेह' और हिंदी उर्दू नाटक 'सोने के मूल की खुरशीद' के सफल अभिनय के पश्चात् 'विक्टोरिया नाटकमंडली' ने गुजराती और हिंदी दोनों भाषाओं में नाट्याभिनय की परंपरा स्थापित कर दी। १८७२ तक बंबई की सभी पारसी नाटक मंडलियों का प्रवृत्तिकेंद्र बंबई ही रहा।[4] तदंतर 'विक्टोरिया नाटकमंडली' सर्वप्रथम अपने हिंदी उर्दू नाटक लेकर हैदराबाद (दक्खिन) के दीवान सर सालार जंग बहादुर के निमंत्रण पर सन् १८७२ में हैदराबाद गई।[5] फिर १८७४ में दिल्ली में इस मंडली ने ही सबसे पहले पारसी लेखक नसरवानजी खानसाहब कृत 'गोपीचंद राजा' नामक हिंदी उर्दू नाटक खेला।[6] सन् १८७७ के दिल्ली दरबार के समय इसने फिर से दिल्ली जाकर

१. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख, डा० धनजीभाई न० पटेल, पृ० १८९।
२. वही, पृ० १३०।
३. वही, पृ० १६३।
४. डॉ० डी० जी० व्यास 'गुजराती नाट्य' पत्रिका में लेख 'आपणी रंगभूमि' अक्टूबर, १६५६, पृ० ७।
५. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख, डॉ० धनजीभाई न० पटेल, पृ० ११३।
६. वही, पृ० १४७-४८।

अपने कई नाट्यप्रयोग कर अपूर्व सिद्धि प्राप्त की। जहाँगीर खंभाता ने सन् १८७९ में 'पारसी एंप्रेस विक्टोरिया थिएट्रिकल कंपनी' की तो स्थापना ही दिल्ली में की जिसे वहाँ के कुछ धनिकों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् विक्टोरिया नाटकमंडली' ने लखनऊ, बनारस, कलकत्ता, लाहौर, पेशावर, मद्रास, मैसूर, पूना आदि कई शहरों में जाकर नाटक खेले। इसे देखकर अन्य अनेक पारसी नाटकमंडलियाँ भारत के प्रमुख शहरों की यात्राएँ कर अपने नाट्यप्रयोग करने लगीं। इनमें से कुछ ने तो बलूचिस्तान, नेपाल, रंगून, मांडले, सिंगापुर आदि की यात्राएँ कीं और अपने हिंदी उर्दू नाटक खेलकर धनोपार्जन किया। सन् १८८५ में खुरशीद बालीवाला के नेतृत्व में 'विक्टोरिया नाटकमंडली' लंदन भी गई और वहाँ विनायकप्रसाद 'तालिब' के हिंदी नाटक 'हरिश्चंद्र' का अभिनय किया। इस प्रकार एक पारसी गुजराती नाटकमंडली ने भारत से सर्वप्रथम विलायत जाने का महान् साहस किया।

इन पारसी गुजराती नाटक कंपनियों के मालिक, अभिनेता और लेखक सदा बदलते रहे। कभी घाटे के कारण और कभी आपसी फूट के कारण ये कंपनियाँ टूट जातीं। यह भी देखा गया है कि एक ही कंपनी दो कंपनियों में विभक्त हो जाती और दोनों कंपनियाँ स्वतंत्ररूपेण अपना अपना व्यवसाय जारी रखतीं। अभिनेतागण और लेखक भी आर्थिक प्रलोभनों अथवा अन्य किन्हीं कारणों से नाटक कंपनियों की नौकरियाँ बदलते रहते। बंबई की ये पारसी कंपनियाँ सन् १९३५ तक किसी न किसी तरह अपना अस्तित्व बनाए रहीं। रेडियो एवं सिनेमा के आगमन के पश्चात् वे धीरे धीरे कालकवलित हो गईं।

*

हिंदी नखशिख-काव्य-परंपरा

डॉ० शालग्राम गुप्त

कला और काव्य का प्रधान गुण सौंदर्य है। अतः कला की भाँति काव्य में भी बाह्य जगत् और आभ्यंतरिक जगत् दोनों का सौंदर्यवर्णन प्रचुरता से किया जाता है क्योंकि दोनों के सौंदर्य में अभिन्न संबंध है। भारतीय कवियों ने जहाँ (शृंगार रस के अंतर्गत) नारी के बाह्य सौंदर्य के अंतर्गत उसके अंग प्रत्यंग का वर्णन किया है वहीं उसके मानस की आभ्यंतरिक भावनाओं का भी सफलतापूर्वक चित्रण किया है। अस्तु मध्ययुगीन हिंदी साहित्य के जिन अनेक श्रेष्ठ *कवियों ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसे अपूर्व सौंदर्यजगत् की सृष्टि की है* वह 'शिखनख' या 'नखशिख' वर्णन कहलाता है। 'नखशिख' देवी देवताओं अथवा अवतारों के रूपवर्णन के लिये और 'शिखनख' नरनारी के रूपवर्णन के लिये होता है। इन दोनों पद्धतियों के संबंध में आचार्य केशव ने 'कविप्रिया' में स्पष्ट रूप से लिखा है—

> नख तें सिख लौं बरनियो देवी दीपति देखि।
> सिख तें नख लौं मानुषी 'केशवदास' बिसेषि॥

(प्रकाशः १४, दोहाः १)

इस प्रकार रीतिकाल में नखशिख वर्णन को एक स्वतंत्र विषय मानकर अनेकानेक ग्रंथ लिखे गए। यदि इन ग्रंथों को संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो कदाचित् इनकी संख्या शताधिक ही होगी। यद्यपि नखशिख के माध्यम से भी कवियों ने नायिका का रूपवर्णन ही किया है तथापि अपनी रूढ़िबद्धता और अवैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण रूप का ऐंद्रिक चित्र खड़ा करने में उन्हें बहुत कम सफलता मिल सकी है। कुछ भी हो, यहाँ हमारा विचार हिंदी नखशिख साहित्य के गुण दोषों की विवेचना करना नहीं, प्रत्युत उन शताधिक ग्रंथों की एक खोजपूर्ण सूची प्रस्तुत करना मात्र है जो खोजी जिज्ञासुओं के लिये कुछ काम की हो सकती है। प्रस्तुत सूची को तैयार करने में निम्नलिखित ग्रंथों से सहायता ली गई है—

१. हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास—जार्ज ग्रियर्सन कृत, अनु० किशोरीलाल गुप्त,

२. हिंदुई साहित्य का इतिहास—गार्सां द तासी, अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,

३. दिग्विजय भूषण—गोकुल प्रसाद 'वृज' संपा० डा० भगवती प्रसाद सिंह

४. मिश्रबंधु विनोद, भाग १,२,३—मिश्रबंधु

५. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग (रीतिकाल)—संपा० डॉ० नगेंद्र,

६. रामभक्ति में रसिक संप्रदाय- डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह

७. त्रैवार्षिक खोज रिपोर्टें —नागरीप्रचारिणी सभा; वाराणसी

८. संमेलन संग्रहालय के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची.

९. हिंदी पुस्तक साहित्य—श्री डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

कवि	ग्रंथ	विवरण
१—अंबुज कवि	नखशिख	रचनाकाल सं० १८७१ वि०। ये महाकवि पद्माकर के पुत्र थे।
२—अनुनैन कवि	नखशिख	कविताकाल : सं० १९११ वि०। उदयकाल। १८९६ वि०।
३—आजम खाँ	नखशिख	कविताकाल : १७९० वि०। ये मुहम्मदशाह रंगीले के दरबारी थे।
४—उमेदकवि	नखशिख	कविताकाल : १८८० वि०। जन्म १८५१ वि०। ये शाहजहाँपुर के आसपास किसी गाँव में रहते थे।
५—कलानिधि	नखशिख (खोज रि०१९००)	जीवनकाल : सं० १७२९–१८०९ वि०। इनका नाम कृष्ण भट्ट था। कवि कलानिधि' इनकी उपाधि थी। ये तैलंग ब्राह्मण थे। 'नखशिख' में प्रत्येक अंग पर एक दोहा एवं उसी आशय का एक कवित्त लिखा गया है। इसमें कुल २८ छंद हैं।
६—कान्हकवि	नखशिख	जन्म : १९१४ वि०। उपनाम कन्हईलाल, कायस्थ। ये राजनगर, बुंदेलखंड के निवासी थे।
७—कामताप्रसाद	नखशिख	असोथर, लखपुरा, जिला फतेहपुर के निवासी थे।

८—कालिकाप्रसाद सिंह	राधाजी का नख-शिख	रचनाकाल : १८६६ वि० ।
९—कालिदास त्रिवेदी	(१) वारवधू विनोद (२) हजारा	रचनाकाल : १७४६ वि० । ये बनपुरा जिला कानपुर के निवासी और औरंगजेब के दरबारी कवि थे ।
१०—कुलपति मिश्र	नखशिख (प्र० त्रै० रि०)	रचनाकाल १७२४–१७४३ वि० । जन्मकाल १६७७ वि० आगरानिवासी, माथुर चौबे ।
११—कुशलसिंह	नखशिख (द्वि० त्रै० रि०)	कविताकाल १६२१ वि० के पूर्व ।
१२—केशवदास	(१) नखशिख	प्रसिद्ध कवि केशवदास । नखशिख कविप्रिया के अंतर्गत ।
	(२) शिखनख	१५वाँ प्रकाश और शिखनख' एक स्वतंत्र रचना ।
१३—खुमानकवि	हनुमान नखशिख	रचनाकाल : १८५२ वि० । जीवनकाल १८००–१८८० वि० चरखारी, बुंदेलखंड के बंदीजन और चरखारी नरेश विक्रमशाह के दरबारी कवि ।
१४—खूबचंद कुँवर	अंगचंद्रिका	कविताकाल : १६२० वि० । उपनाम रसीले । राठ जिला हमीरपुर निवासी ।
१५—गणेशदत्त मिश्र	नखशिख बत्तीसी	रचनाकाल : १८८२ वि० ।
१६—गणेशप्रसाद कायस्थ	शिखनख	कविताकाल : १६००–१६३० वि० । फर्रुखाबाद निवासी ।
१७—गिरधरजी महाराज	श्री जी के अंग	
१८—गोकुलनाथ	राधा नखशिख	जीवनकाल : सं० १८००–१८७५ वि० तक लगभग । ये काशिराज बलवंत सिंह और उदितनारायण सिंह के दरबारी कवि थे ।
१९—गोपालराय बंदीजन	राधाशिखनख	उपस्थितिकाल : १८५७–१८६१ वि० । बुंदेलखंडी । प्रस्तुत पुस्तक बलभद्र के नखशिख पर टीका के रूप में है ।

२०—गोविंद गिल्लाभाई	(१) शिखनख चंद्रिका	रचनाकाल : १९४१-१९५१ वि०। जन्म-काल १९०५ वि०।
	(२) राधारूपमंजरी	सिहोर भावनगर वासी।
	(३) शृंगारषोडसी।	
	(४) राधामुखषोडसी।	
	(५) पयोधर पचीसी	
	(६) नैनमंजरी	
२१—गोविंद (वाजपेयी) ब्राह्मण	नखशिख (द्वि० त्रै० रि०)	कविताकाल १८८० वि०। गोपालपुर, सागर वासी।
२२—ग्वाल कवि	नखशिख बृजराज श्रीकृष्ण जू के	रचनाकाल १८८४। वि० जन्मकाल : १८५८ वि०। मथुरा के वंदीजन और प्रसिद्ध कवि।
२३—चंदन	नखशिख	रचनाकाल : १८२१ वि०। कविताकाल सं० १८१०-१८६५ वि०। वंदीजन और कवि, नाहिल-पुवायाँ, जिला शाहजहाँपुर के निवासी ब्रह्मभट्ट। ये और राजा केसरी सिंह के दरबार में थे।
२४—चंद्रशेखर वाजपेयी	नखशिख (खोज रि० १९०३	जीवनकाल : सं० १८५५—१९३२ वि०। मुअज्जमाबाद, जिला फतेहपुर निवासी। हमीरहठ के रचयिता प्रसिद्ध कवि ये ही थे।
२५—जगतसिंह बिसेन—दृयोत हारी	नखशिख	लिपिकाल १८६४ वि०। उपस्थितिकाल १७७० वि० के आसपास। ये जिला गोंडा वासी थे।
२६—जवाहिर बंदीजन	नखशिख (तृ० त्रै० रि०)	कविताकाल १८४५ वि०। बिलग्राम, जिला हरदोई वासी।
२७—तारापति	नखशिख	कविताकाल १८२० वि०। जन्मकाल १७९० वि०। आगरा निवासी चतुर्वेदी ब्राह्मण।
२८—तोषनिधि	नखशिख	रचनाकाल १७९१ वि० के लगभग। कंपिला जिला फर्रुखाबाद के निवासी कान्य-कुब्ज ब्राह्मण।

२९—थान (कान्ह) सिंह कायस्थ	हयग्रीव नखशिख	कविताकाल : १९०५ वि० । जीवनकाल सं० १८८२–१९२४ वि० । चरखारी, बुंदेलखंड वासी ।
३०—दामोदरदेव	वृंदावनचंद-शिखनख-ध्यान-मंजूषा (प्र०त्रै०रि०)	कविताकाल : १८८८ वि० । ओरछा निवासी । ये ओरछा नरेश राजा हम्मीरसिंह के गुरु थे ।
३१—दिनेश कवि	रसरहस्य (नखशिख)	रचनाकाल : सं० १८८३ वि० । टिकारी, जिला गया निवासी ।
३२—दिवाकर भट्ट	नखशिख	
३३—द्विज	श्रीराधानखशिख (खोज १९०३)	लिपिकाल १८५५ वि० । जन्मकाल १८२० के लगभग ।
३४—द्विजदेव	(१) शृंगार बत्तीसी	कविताकाल : १८२९ वि० के लगभग । (अयोध्या नरेश मानसिंह का उपनाम 'द्विजदेव' था ।
	(२) हनुमान नखशिख	
३५—देवकवि	नखशिख	जीवनकाल : १७३०–१८२५ वि० । इटावा वासी, द्योसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मण। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि ।
३६—देवकीनंदन	नखशिख	कविताकाल : १८४०–१८५६ वि० तक लगभग । जन्मकाल १८०१ वि० । मकरंदपुर जिला फर्रुखाबाद के कन्नौजी ब्राह्मण ।
३७—देवीदास कायस्थ	हनुमत नखशिख	कविताकाल : १८६५ वि० । जन्मकाल १८४० वि० । आप ८८ में छतरपुर निवासी थे ।
३८—देवीदीन	नखशिख	बिलग्राम जिला हरदोई के बंदीजन, ये सं० १९४० में जीवित थे ।
३९—नबीकवि	अंगदर्पण (नखशिख)	रचनाकाल १७९४ वि० । जीवनकाल १७५६–१८०० वि० । आपका पूरानाम सैयद गुलाम नबी एवं 'रसलीन' उपनाम था । आप बिलग्राम जिला हरदोई वासी थे । अंगदर्पण में कुल १८० दोहे हैं ।
४०—नवनीतकवि	श्यामांग अवयव भूषण	प्रकाशित; प्र० रामदास अरोड़ा, बंबई १८७३ ई० ।

४१—नृपशंभु	नखशिख बत्तीसी	कविताकाल १७३८ वि०। जन्मकाल १७०७ वि०। सितारा के राजा; आपका असली नाम शंभुनाथ सिंह था।
४२—पंचमसिंह	जुगल नखशिख	रचनाकाल १७९२ वि०। पन्ना, बुंदेलखंड वासी, रसिक संप्रदाय के रामभक्त कवि।
४३—पजनेस कवि	नखशिख	कविताकाल १९०० वि० के लगभग। उपस्थिति काल १८७१वि०। पन्ना, बुंदेलखंड वासी।
४४—परम वंदीजन	नखशिख	कविताकाल १९०० के लगभग। जन्मकाल १८७१ वि०; महोबा, बुंदेलखंड वासी।
४५—परमानंदलाल पौराणिक	नखशिख	कविताकाल १९[illegible]० वि०। जन्मकाल १८८७ वि०। अजयगढ़, बुंदेलखंड वासी।
४६—परमानंद सुहाने	नखशिख हजारा (संग्रह)	प्रकाशित; प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १८९३ ई०।
४७—परशुराम महाराज	नखशिख	कविताकाल १६८७ वि०। उपस्थितिकाल १६६० वि०। ब्रजवासी, 'परशुरामसागर' के प्रसिद्ध रचयिता और निंबार्क संप्रदायी श्री व्यासदेव के शिष्य।
४८—पारसराम	नखशिख	आविर्भावकाल १७वीं शती का द्वितीय चरण। आगरा वासी कुलपति मिश्र के पिता।
४९—पुहकर	नखशिख (खोज १९०३)	रचनाकाल १६७३ वि० के बाद। प्रतापपुर, मैनपुरी वासी कायस्थ। प्रसिद्ध प्रेमाख्यानक कवि।
५०—प्रतापसाहि	(१) जुगल नखशिख (खोज १९०३, (२) बलभद्र के नखशिख का तिलकर प्र० ग्रं० रि०)	रचनाकाल १८९६ वि०। बुंदेलखंडी भाट। ये चरखारी नरेश विक्रमसाहि के दरबार में थे। 'जुगल नखशिख' में २५ छंद हैं।

५१—प्रेमसखी	सीताराम नखशिख वर्णन	(रचनाकाल संभवतः १८८० वि०। जन्म १७६१ वि० के लगभग। नखशिख १३६ सवैया तथा घनाक्षरियों में कहा गया है। आप रसिक संप्रदाय के रामभक्त कवि और शृंगवेरपुर जिला इलाहाबाद के ब्राह्मण निवासी थे।
५२—बलभद्र कायस्थ	नखशिख	उपस्थितिकाल १६०१ वि०। पन्ना, बुंदेलखंड वासी और पन्ना नरेश नरपतिसिंह के दरबारी कवि थे।
५३—बलभद्र मिश्र	शिखनख	रचनाकाल १६४० वि० के पूर्व। जन्म १६०८ वि० के लगभग। आप ओरछा निवासी पं० काशीनाथ सनाढ्य ब्राह्मण के पुत्र थे। शिखनख में ६५ घनाक्षरी छंद और १ छप्पय है।
५४—बलवीर	नखशिख (खोज १६०२)	रचनाकाल १७४१ वि०। कन्नौज वासी।
५५—बिहारी	नखशिख रामचंद्र जी (द्वि० त्रै० रि०)	कविताकाल १८२० वि०। जन्मकाल १७६६ वि०
५६—बिहारीलाल	नखशिख	केवल उल्लेख मात्र। प्रसिद्ध सतसई कार बिहारीलाल।
५७—बिहारीसिंह	नखशिख भूषण	प्रकाशित, प्रकाशक खड्गविलास प्रेस, पटना, १८८३ ई०
५८—बेनी प्राचीन	नखशिख	उपस्थितकाल १६८० वि० के आसपास। कान्यकुब्ज ब्राह्मण, बंदीजन और असनी, जिला फतेहपुर वासी।
५९—बैजनाथ कुर्मी	नखशिख वर्णन	जन्म १८९० वि०। बाराबंकी के डेहवामानपुर गाँव के निवासी और रामभक्ति की रसिक संप्रदाय शाखा के एक भक्त कवि।
६०—भद्र कवि	नखशिख (खोज १६०३)	
६१—मंडन	नयनपचासा (प्र० त्रै० खोज)	रचनाकाल १७१६ वि० के आसपास। उपस्थितिकाल १६८३ वि०। आपका पूरा नाम मणिमंडन मिश्र था। आप जैतपुर बुंदेलखंड के निवासी और वहाँ के राजा मंगद के आश्रित थे।

६२—मनीराम	बलभद्र कृत नखशिख सटीक	रचनाकाल १८४२ वि०। आप उनियारा के राजा महासिंह तोमर के यहाँ थे।
६३—महताब	नखशिख	रचनाकाल १८०० वि०।
६४—माधवदास	नखशिख	
६५—मान	महावीर को नखशिख	कविताकाल: १७५४ वि० के पूर्व।
६६—मानालाल (द्विजराम) द्विवेदी	नखशिख	कविताकाल १९४२ वि०। जीवनकाल १९१७–१९८३ वि०। मल्लावाँ, जिला हरदोई निवासी।
६७—मीरन कवि	नखशिख	आविर्भावकाल संभवतः १९०५ वि० के पूर्व।
६८—मुनिलाल	रामनखशिख	१९वीं शती। रसिक संप्रदाय के रामभक्त कवि।
६९—मुरली	नखशिख	कविताकाल १८११–१८१९ वि०। ये आगरा के भरद्वाज गोत्रीय माथुर ब्राह्मण थे। इनका पूरा नाम मुरलीधर मिश्र था।
७०—मुबारक अली (सैयद)	(१) अलक शतक (२) तिलक शतक	जन्मकाल १६४० वि०। बिलग्राम, जिला-हरदोई वासी।
७१—युगलानंद शरण 'हेम-लता'	नवल अंगप्रकाश (रामजी का नखशिख)	लिपिकाल १९२२ वि०। जीवनकाल १८७५–१९३३ वि०। ब्राह्मण, इस्लामपुर, जिला पटना निवासी। रसिक संप्रदाय के बहुत बड़े रामभक्त।
७२—योगेंद्र नारायणसिंह	शारदा का नखशिख	प्रकाशित; प्रकाशक ग्रंथकार, भागलपुर १८९९ ई०।
७३—रंगनारायण-लाल	अंगादर्श।	
७४—रघुनाथ-प्रसाद कायस्थ	राधिका नखशिख (द्वि० त्रै० रि०)	जीवनकाल १९०४–१९५० वि०। चरखारी, बुंदेलखंड वासी।
७५—रस आनंद	शिखनख	रचनाकाल १८१० वि०। जन्मकाल १७८० वि० के लगभग। जाट, बेशयाग्राम, भरतपुर वासी।
७६—रसरंग	सीताराम नखशिख	जन्मकाल १९०१ वि०; लखनऊ वासी।
७७—रसराज	नखशिख	

७८—रसरूप	शिखनख (खोज १६०५)	रचनाकाल सं० १८१० वि० ।
७९—रसरूप	राधिका जू को नखशिख (प्र० त्रै० रि०)	रचनाकाल १६२४ वि० । पिपरी राज्य, छतरपुर वासी ।
८०—रसालकवि	नखशिख	कविताकाल १८७५–१८६० वि० तक लगभग । इनका असली नाम अनंगेलाल बंदीजन था । ये बिलग्राम, जिला हरदोई निवासी थे ।
८१—राघवदास	रामचंद्रनखशिख	१६वीं शती । रसिक संप्रदाय के एक रामभक्त कवि ।
८२—राधाचरण कायस्थ	राधिका नखशिख	कविताकाल १६२१ वि० । जीवनकाल १८६६–१६५१ वि०, राजगढ़, बुंदेलखंड वासी ।
८३—रूपसहाय	रामचंद्र का नखशिख	रचनाकाल १८८६ वि० । पन्ना वासी, रसिक संप्रदाय के एक रामभक्त कवि ।
८४—लालबिहारी मिश्र	(१) श्रीरामचंद्र नखशिख (२) प्यारी जू को नखशिख	जीवनकाल १६१५–१६६२ वि० । इनका उपनाम 'द्विजराज' था । ये गँधौली, सीतापुर के निवासी थे ।
८५—लालधर कवि	नखशिख ?	यह सं० १६६७ वि० के लगभग जोधपुर के महाराजा रामसिंह के दरबार में थे । इनके केवल तीन ही छंद देखने को मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि संभवतः इन्होंने किसी नखशिख काव्य की रचना की थी ।
८६—लेखराज (नंदकिशोर मिश्र)	राधा नखशिख	जीवनकाल १८८८–१६४८ वि० । उपनाम 'लेखराज' था । आप भगवंतनगर के निवासी थे ।
८७—लोकनाथ चौबे	राधिकासुषमा	रचनाकाल १७६० वि० । राधावल्लभी, बूँदीवासी ।
८८—विश्वेश्वर वत्सपाल वर्मा	अंगादर्श	
८९—शंकरदत्त	राधिका-मुख-वर्णन काव्य	कविताकाल १८३० वि० । राधावल्लभी, पटना वासी ।

९०—शिवसहाय उपाध्याय	नायिका-रूप-दर्शन	कविताकाल १८ ९ वि० के लगभग। संभवतः—जयपुर वासी।
९१—शिवलाल दुबे	नखशिख	कविताकाल १८६५ वि०। जन्मकाल १८३९ वि० के लगभग। डौंड़ियाखेड़ा जिला उन्नाव वासी।
९२—सुखदेव मिश्र	नखशिख (द्वि० त्रै० रि०)	रचनाकाल १७३६ वि०। जीवनकाल १६९०-१७६० वि०। कंपिला, जिला फर्रुखाबाद के कान्यकुब्ज ब्राह्मण आपका उपनाम 'कविराज' था।
९३—सुजान कवि	शिखनख	
९४—सूरति मिश्र	राधा जू को नखशिख	कविताकाल १७६६—१८०० वि०। जन्म काल १७४० वि० के लगभग। आगरा निवासी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण। नखशिख में कुल ४१ छंद हैं।
९५—सूर्यनाथ मिश्र	लोचनपचीसी	प्रकाशित, प्रकाशक नंदप्रसाद मिश्र, गया, १९०६ ई०
९६—सेवक कवि	बरवै नखशिख	जीवनकाल १८७२—१९३८ वि०। असनी निवासी ब्रह्मभट्ट।
९७—सेवादास	नखशिख वर्णन	रचनाकाल १८४० वि०।
९८—हनुमान-प्रसाद कायस्थ	हनुमान नखशिख	मैहर वासी।
९९—हफीजुल्ला खाँ हजारा	(संग्रह)	प्रकाशित, प्रकाशक मुंशी नवलकिशोर कानपुर १८८६ ई०।
१००—हरिदास भट्ट	राधाभूषण	कविताकाल १९२५ वि०। जन्मकाल १९०१। बंदीजन, बाँदा बुंदेलखंड वासी।
१०१—हरीदास कायस्थ	(१) नखशतक	कविताकाल १८९६ वि० के आसपास। चरखारी वासी,
	(२) राधा शिखनख	ये पन्ना नरेश महाराज हरवंश राय के यहाँ थे।
१०२—हरिराम	नखशिख (प्र० त्रै० रि०)	कविताकाल १७०८ वि०। जन्म संभवतः १६९० वि०। संभवतः आप निरंजनी संप्रदाय के कवि थे।

इतिहासवाद और ऐतिहासिक उपन्यास की सामाजिक उपयोगिता

डा० 'रमेश कुंतलमेघ'

•

आज हम इतिहास को मात्र अतीत का वर्णन तथा विवरण ही नहीं मानते, अर्थात् नव्य इतिहास का काम केवल तथ्यों का सिलसिलेवार पेश करना ही नहीं है। आज इतिहास इतिहासवाद (हिस्टरीसिज्म) तथा इतिहासलेखन (हिस्टिरियोग्राफी), इतिहासदर्शन आदि के नए क्षेत्र विकसित कर चुका है। क्या इतिहास घटनाओं का सतही प्रवाह ही है, अथवा यह कारण परिणाम की श्रृंखला में बँधा है ? क्या इतिहास व्यक्ति की 'मुक्त इच्छा' (फ्री विल) है अथवा भौगोलिक तत्वों और चरित्र, स्थानविशेष की आर्थिक दशा, लोगों के स्वभाव, और उनके सामाजिक गठन के द्वारा 'ऐतिहासिक निश्चयवाद' में आबद्ध है ? क्या इतिहास सम्राटों की वंशावलियाँ ही पेश करता है अथवा मानवीय व्यवहार की निरंतरता और संस्कृति में परिवर्तन के हेतुओं को भी खोजता है ? क्या इतिहास का विवेकशील विश्लेषण हो सकता है ? क्या इतिहास और समाज और कला (यहाँ उपन्यास) का त्रित्व हो सकता है ? इस प्रकार के कई प्रश्न उठाए गए हैं।

सबसे पहले इतिहास काल की निरंतरता को सिद्ध करता है। हम अतीत और भविष्य के बीच विराम या अवरोध नहीं पाते। यद्यपि इतिहास भविष्यवाणी कम कर सकता है, तथापि भविष्य का निर्देश कर सकता है।

दूसरे, इतिहास मानवीय समाज के बाबत होता है। यह इसके विकास की कहानी तथा याथातथ्यों को पेश करता है।

पहले और दूसरे तत्वों को मिलाकर कहा जा सकता है कि इतिहास विवेकशील अध्ययन तथा बोध है जिसमें मानवीय स्वभाव तथा चेतना, कर्म तथा स्वप्नों का सब कालों (अतीत, वर्तमान एवं भविष्य भी) के लिये समावेश होता है। अतएव इतिहास किसी देश की मानवता की एक संमूर्ति है जहाँ जनता, राजवंश, घटनाएँ, जनता का राजनीतिक विकास, उसकी सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाएँ, उसके विश्वास तथा आदर्श, संस्कृति तथा रुचि आदि शामिल हैं। ये सभी मिलकर संपूर्ण जनता को संघर्षों के दौरान गुजारा करती हैं। इसलिये राष्ट्रों और कालों के इतिहास तो केवल खंड हैं; पूरा प्रसार तो प्रांतीय एवं राष्ट्रीय सीमाओं

को लाँघकर कम से कम एक पूरी सभ्यता, जैसे अरब दुनियाँ यूरोप का ईसाई जगत्, बृहत्तर भारत और पूरे भौगोलिक खंड तक होना चाहिए। पड़ोसियों के इतिहास या विश्व इतिहास से अपरिचित किसी राष्ट्र के राजनीतिक नेतृत्व को कम सफलता मिलती है। 'इतिहास बीती हुई राजनीति है; तथा राजनीति वर्तमान इतिहास है।' इस आंशिक कथन में हम किसी कालखंड की सार्वजनिक घटनाओं, मामलों तथा प्रवृत्तियों को समझने की दिशा जरूर पाते हैं। अकबर के पहले तक हम अपने पड़ोसी मुसलमान देशों के इतिहास से अपरिचित थे। अतः हमने बार-बार ऐतिहासिक भूलें दुहराईं। अंग्रेज हमारे इतिहास से परिचित हो चुके थे। अतः उन्होंने घटनाओं पर काबू पा लिया।

वास्तव में इतिहास हमारे लघु जीवन तथा उसके नन्हें से अनुभव को मानव जाति के अनुभव तथा एक विशाल कालप्रवाह से एकतान कर देता है। यह हमें वर्तमान तक ले आता है। असंख्य मूर्तियाँ मंदिर, पांडुलिपियाँ, दस्तावेज, सिक्के आदि वर्तमान की सिद्धि हैं। इसीलिये क्रोचे 'सभी इतिहास को समसामयिक' मानते हैं क्योंकि इतिहासदर्शन तो वर्तमानबोध से ही होता है जबकि मानवता के विशाल कथानक और जीवन के प्रति प्यार करना शुरू करता है। अतः किसी भी तरह मनुष्य अपने अतीत से पलायन नहीं कर सकता, उसे अपनी परंपरा और विरासत से समझौता करना ही होता है। राष्ट्र के रूप में जनता अपने इतिहास की परंपरा, विवेकशील तथा सर्वसाधारण बोध को धारण किए रहती है। जीवन और इतिहास तथा कला और जीवन, फलस्वरूप इतिहास और कला का अद्भुत संबंध है। यदि जीवन व्यक्तिगत क्षणिक, गतिशील और वर्तमान है तो इतिहास व्यक्तिगत का सार्वजनिक बनानेवाला, शाश्वत्, जड़ और अतीत है। किंतु इतिहास वैयक्तिक जीवन को सार्वजनिक बना देता है। अतः ऐतिहासिक अध्ययन का एक लक्ष्य यह भी होता है कि वह यथासंभव सत्य के नजदीक ले जाए, और हमें भ्रांतियों से भी मुक्त कराए। इतिहास के ज्ञान अथवा बोध के द्वारा ही चेतना का विस्तार होता है। प्रत्येक युग कुछ आचरणों, सिद्धांतों और विचारधाराओं द्वारा जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण का प्रकाशन करता है। ये दृष्टिकोण उस विशेष युग में निरपेक्ष और सर्वमान्य समझे जाते हैं। इतिहासकार इनके काल प्रवाह अर्थात् परंपरा के परिवर्तनों को पहचानता है। इस तरह इतिहासबोध सत्य की पहचान और विश्लेषण दोनों करता है। इसके अंतर्गत वास्तव में क्या घटित हुआ है, किस प्रकार घटित हुआ है तथा क्यों घटित हुआ है, ये तीनों बातें शामिल हैं। हमारा देश इसी ऐतिहासिक बोध की कमी का शिकार रहा है। जो जनता अपने देश का क्रूर सत्यों से पूर्ण तथा भ्रांतिविहीन इतिहास नहीं जानती वह संकट के मौकों पर दिग्भ्रमित होती है या भ्रांतियों का शिकार बन सकती है। इसके अलावा गलत ऐतिहासिक परंपरा बौद्धिक विघटन और कमजोरी का स्रोत

है, चाहे कुछ काल के लिये भले ही अतीत गौरव की भावना तथा सक्रियता नजर आने लगे। इतिहास का इशारा हमेशा वर्तमान तक तो होना ही चाहिए। जब किसी जाति का अतीत महान् होता है, उसकी उपलब्धियाँ विशाल होती हैं तब वह जाति भविष्य की कीमत पर अतीत में शरणार्थी हो जाती है। एक पीढ़ी द्वारा या एक युगविशेष में जो महान् उपलब्धियाँ हुई हैं, वे दूसरी पीढ़ी द्वारा तथा दूसरे युगविशेष में खोई भी जा सकती हैं। अतः इतिहास में हमारी प्रेरणा है जो हमारे सामाजिक जीवन तथा यथार्थ बोध को आलोकित करती है। ऐसा ही इतिहासलेखन हमारी प्रेरणा है जो एक संपूर्ण जनता तथा उसकी संस्कृति एवं यथार्थ बोध को दिशाएँ दे सके। यह भी न हो कि इतिहास केवल ज्ञान का खजाना तो बढ़ाता चला जाए किंतु कर्मक्षेत्र से निरुत्साहित कर दे। इसीलिये इतिहासबोध में 'क्या', 'कैसे' तथा 'क्यों' का त्रित्व है। जो इतिहास केवल राजाओं की वंशावलियाँ या घटनाएँ पेश करता है तथा पड़ोसी राष्ट्रों के इतिहास से अनभिज्ञ होता है, वह जनता को खंडित दृष्टिदान करता है तथा केवल किताबी होता है। इतिहास केवल महान् व्यक्तियों की ही जीवनियाँ नहीं है; बल्कि इसमें उन लाखों करोड़ों गुमनाम लोगों के जीवनखंड भी शामिल हैं, जिन्होंने इतिहास की मानवीय चेतना के क्षितिजों का विस्तार किया है। अतः हम इतिहास में 'मानव' के व्यवहार तथा चेतना का सामान्यीकरण भी कर सकते हैं। यह सामान्यीकरण व्यक्तिमानव या राष्ट्रमानव का न होकर विश्वमानव का हो सकता है। कुछ उदाहरण यों हैं :

जब कोई जनता एकजुट हो जाती है, जब उसमें आत्मविश्वास तथा आत्म-चेतना जग जाती है तब दूसरे लोग स्थायी रूप से उसे दबाए नहीं रख सकते;

जब किसी राष्ट्र के अस्तित्व को ही धमकी दी जाती है तब वह संगठित होकर एक मनुष्य की तरह लड़ता है;

जब किसी जनता का अपमान किया जाता है तब बहुत कुछ एक निश्चित प्रकार की प्रतिक्रिया होती है--विशेषकर एक सामाजिक समूह में यह प्रतिक्रिया काफी विश्वसनीय होगी, यद्यपि इसका प्रभाव तथा चरित्र परिस्थितियों, समूह की शक्ति, तथा प्रतिरोध की प्रवृति पर स्वभावतः आश्रित होगा ही;

जब दो जनताएँ मिलती हैं तब आरंभिक संघर्ष के बाद, उनके व्यवस्थित हो जाने पर, बहुधा राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण आता है; बशर्ते उनमें से एक की सामाजिक चेतना श्रेष्ठतर हो;

यह सही है कि व्यक्ति के बाबत कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, किंतु महान् सामाजिक समूहों, जनपरिमाणों, वर्गों, जातियों और राष्ट्रों की

प्रतिक्रियाओं में सादृश्य ढूँढ़ा जा सकता है। बहुधा वे 'एक तरह' की परिस्थिति में 'एक तरह' (एक' नहीं) की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। इन दो स्थितियों से इतिहासदर्शन की दो धाराएँ काफी पृथक् हो जाती हैं। पहली धारा 'मुक्त इच्छा' अर्थात् व्यक्ति को इतिहासनियामक मानती है तो दूसरी धारा 'निश्चयवाद' अर्थात् किसी शर्तों में बँधे मानव के कार्यों को इतिहासनियामक मानती है। मनुष्य प्रकृति की आवश्यकताओं के अनुरूप जितना अधिक बढ़ता जाता है, उसे उतनी ही अधिक स्वतंत्रता मिलती जाती है। पहली धारा इतिहास की रोमांटिक चेतना को आत्मसात् करती है तो दूसरी सामाजिक आवश्यकता के बोध को। पहली धारा में इतिहास में व्यक्ति प्रधान है, तो दूसरी में समष्टि। पहली धारा इतिहास को महान् व्यक्तियों की जीवनी की तरह लेती है; घटनाओं को उनके प्रातिभ ज्ञान की उपज मानती है, तो दूसरी उसे समाज की कहानी के रूप में लेती है और उसमें एक प्रणाली खोजती है। इतिहासलेखन की दृष्टि से ऐतिहासिक रोमांसों के विकास में पहली धारा की, तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के विकास में दूसरी धारा की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इतिहासलेखन की दूसरी दृष्टि से पहली धारा में इतिहास इतिवृत्तात्मक तथा प्रातिभज्ञानपूर्ण है, तो दूसरी में वैज्ञानिक, विश्लेषणीय तथा बौद्धिक। पहली धारा इतिहास को कला के रूप में स्वीकार करती है तो दूसरी विज्ञान के रूप में। पहली धारा में इतिहासलेखन इतिहासकार के दर्शन तथा वैयक्तिक बोध से अनुप्राणित रहता है, तो दूसरी में उसके समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर।

यों तो मनुष्य भी सामाजिक निर्मिति है। वह जाति और देश, धर्म और शिक्षा, परिवार और प्रांत के वातावरण में ढलकर ही बनता है। इसी अनिवार्य परिप्रेक्ष्य में हमें व्यक्ति के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। इसके अलावा व्यक्ति को पूर्णतः अकथनीय भी नहीं कहा जा सकता। अब तो आधुनिक मनोविज्ञान उसके अंतर्जगत् के रहस्यों को भी खोलकर रख देता है। [इतिहास को जीवनी तथा इतिवृत्त के रूप (=उपन्यास) में लिखनेवाले 'लेखक' तो इसका उपयोग बहुतायत से करते हैं]। इसके अलावा परंपराएँ भी व्यक्तिचरित्र के कई पहलुओं को प्रकाशित करती हैं। फिर भी व्यक्ति में बहुत कुछ रहस्यात्मक चारित्रिक नैपुण्य रह ही जाता है जिसे इतिहासलेखन की कलात्मक परंपरा के अंतर्गत उपन्यास अधिक सुचारु ढंग से उद्घाटित कर सकता है। किंतु जनचित्र तथा जनघटनाओं के क्षेत्र में वैज्ञानिक विश्लेषण सर्वाधिक लागू होता है। जब हम जनमंथनों तथा जनांदोलनों का निरीक्षण करते हैं, तब ऐसा भान सर्वाधिक होता है कि इतिहास में कारण परिणाम की कोई प्रणाली अवश्य है, इतिहास में भी निश्चय है। इतिहास में जनकर्म का संबंध राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियों से है। और ये सभी शक्तियाँ 'जनता के सार्वजनिक आचरण'

से संबद्ध है। इसके द्वारा हम कुछ मान्य सामान्यीकरण प्राप्त कर सकते हैं तथा भविष्य का संकेत भी कर सकते हैं। सारांश यह है कि इतिहासलेखन में इतिहास-दर्शन के अंतर्गत के सभी सार्वजनिक आचरणों का सामान्यीकरण किया जाता है तथा कुछ निरपेक्ष या सापेक्ष निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इसके विपरीत इतिहास-लेखन में कला इतिवृत्त के अंतर्गत इतिहास के ताल, प्लाट, आवृत्तियों, चरित्रों का चित्रण किया जाता है तथा जड़ देशकाल को दृश्यवत् जीवंत समाज के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अतएव दोनों ही पद्धतियाँ 'शाश्वत मानव' के आदिम एवं संपूर्ण बिंब को पृष्ठभूमि में पेश करती हैं।

इतिहास में देश अर्थात् भूगोल, एवं काल अर्थात् इतिहास का संयोग है। हम भूगोल के बिना इतिहास की शक्तियों की कल्पना ही नहीं कर सकते। जहाँ जहाँ जनता को अपने भूगोल का ज्ञान नहीं होगा अर्थात् जो भूमि सीमा, उपज, निवासियों के प्रकृतिप्रेम, भूमिप्रेम, देशचित्त आदि से अपरिचित होगी, वह ऐतिहासिक बोध के अभाव में विभाजित होगी। हमारे देश में भूगोल के इस ज्ञान के अभाव के कारण ही ऐतिहासिक बोध की कमी रही है। भारतीय वांङ्मय में बृहत्तर भारत (दक्षिण पूर्व एशिया) या चीन, जापान, कोरिया आदि में गए बौद्ध भिक्षुओं के कोई भी संस्मरण, यात्रावृत्तांत आदि नहीं मिलते जिसके फलस्वरूप हमारी ऐतिहासिक चेतना बहुत ही सीमित हो गई है। जिस इतिहासलेखन में स्थानीय राजवंशों की गाथा ही गाई जाएगी और जनकर्म की उपेक्षा होगी, उसके द्वारा देश की दशा का पर्यवेक्षण नहीं हो सकेगा और स्थानीय देशभक्तियों (प्रांतीयता, जातीयता) को बढ़ावा मिलेगा। जिस इतिहासलेखन में पुराने आदर्शों का ही जयगान किया जाएगा उसका परिणाम भविष्य की कीमत पर अतीत में आश्रय लिए रहना होगा। जिस इतिहासलेखन में जाति या संप्रदाय का आधार लिया जाएगा वहाँ एक ही ऐतिहासिक तथ्य बिलकुल विपरीत सत्यों का उद्घाटन करेगा। सर्दार पणिक्कर ने इसका उदाहरण दिया है। हिंदुओं की दृष्टि में वे ही चरितनायक हैं जिन्होंने मुसलमानों का प्रतिरोध किया, जैसे राणा कुंभा राणा प्रताप, शिवाजी, गोविंदसिंह आदि। मुसलमानों की दृष्टि में वे ही चरितनायक हैं जिन्होंने हिंदुओं को जीता, जैसे अलाउद्दीन खिलजी, फीरोजशाह तुगलक, औरंगजेब। किंतु आज इतिहासलेखन में हम व्यक्तियों या उनके आश्रितों के दृष्टिकोणों के बजाय जनता के संघर्षों, उनके राजनीतिक विकास, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक संस्थाओं; आदर्शों एवं विश्वासों, लोकपरंपराओं एवं प्रगति, विरोधों और सामंजस्यों आदि का आधार अपना सकते हैं। राजवंशों की गाथाएँ तो केवल सतह का प्रवाह हैं; तलस्पर्शी इतिहास तो यही है।

हमारे देश के इतिहासलेखन में उपर्युक्त जटिल समस्याएँ आती हैं जिनको

आज विंसेंट स्मिथ, लेन पूल, जायसवाल या सरदेसाई की भाँति केवल तथ्यों के संकलन द्वारा नहीं सुलझाया जा सकता है। आज इतिहासवाद तथा इतिहास दर्शन का सहारा लेना ही होगा। साहित्य के दृष्टिकोण से तो स्पष्ट है कि 'रोमांस' तथा 'ऐतिहासिक रोमांस' अतिमानवीय चरितनायकों तथा अद्वितीय सौंदर्यगर्विता युवतियों के छद्म इतिहास हैं जिनमें केवल वातावरण ऐतिहासिक है तथा जो मूलतः प्रेम और वीरता के बिंदुओं के चारों ओर ही घूमते हैं। इसके विपरीत राजवंशों के घटनात्मक प्रमाणों के साथ साथ जनकर्म एवं जनचित्त अर्थात् जनजीवन का भी समावेश करनेवाले 'ऐतिहासिक उपन्यास' ही समाज और देशकाल को इतिहास-बोध से अनुस्यूत करते हैं। पहली कोटि में वाल्टर स्काट, ड्यूमा, किशोरीलाल गोस्वामी आदि के उपन्यास हैं, तो दूसरी में तोल्सतोय, राहुल सांकृत्यायन, वृंदावन-लाल वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास की उसी विधा की सामाजिक उपयोगिता होगी जिसमें इतिहास व्यक्ति या वैयनिक घटनाओं के बजाय जनजीवन, तथा अनेक घटनाओं को कारण परिणाम में बाँधकर मानवीय चेतना के सामाजिक निर्माण का चित्त प्रस्तुत करे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'ऐतिहासिक उपन्यास' इतिहास लेखन की ही एक विलक्षण, व्यक्तिकृत, कलात्मक विधा ठहरता है। उपन्यासकार पहले इतिहासकार ही होता है, किंतु वह कलाकार के रूप में अभिव्यक्ति करता है। सामग्री दोनों की एक ही है: जैसे वेशभूषा, भित्तिचित्र, वास्तु, मूर्तियाँ, पाडुलिपियाँ पुरातत्व, शिलालेख, सिक्के, दस्तावेज आदि। विश्लेषणअन्वेषण दोनों में ही है, लेकिन जबकि इतिहासकार मात्र बौद्धिक एवं वैज्ञानिक पद्धति को प्रधानता देता है, इतिहासज्ञ उपन्यासकार प्रधानतः सौंदर्यात्मक तथा प्रातिभज्ञानात्मक पद्धति अपनाता है। ये दोनों पद्धतियाँ विरोधी न होकर परस्पर पूरक भी हैं। इसीलिये इतिहासकार सौंदर्यात्मक एवं प्रातिभज्ञानात्मक तथा उपन्यासकार बौद्धिक एवं वैज्ञानिक पद्धति को भी ग्रहण कर सकते हैं और करते हैं। किंतु इतिहास के कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं (जैसे लोकजीवन, लोकचित्त, तत्कालीन देश-समाज आदि) जहाँ कल्पनात्मक व्याख्या ही सर्वोचित तकनीक है। अतः ऐतिहासिक उपन्यास में एक ओर यदि तथ्यों को संकलित करके सामान्यीकरण प्राप्त किए जाते हैं तो दूसरी ओर कल्पनात्मक व्याख्याओं द्वारा विशेषीकरण। दोनों ही युग की प्रवृत्तियों तथा कार्य-कारण-नियम की निश्चयात्मकता का निर्देश करते हैं। सारांश यह है कि यदि इतिहासबोध का धर्म मानव की चेतना तथा 'जीवन' का स्पंदन ग्रहण करना है तब तो यह कलात्मक पद्धति के द्वारा ही उपलब्ध हो सकेगा। यहाँ मानव स्वभाव तथा चरित्र की समझ पर बल दिया जाता है और इसके निमित्त विशिष्ट एवं वैयक्तिक चरित्र पात्र चुने जाते हैं। अतः इतिहासकार

और उपन्यासकार दोनों ही अतीत का पुनर्सृजन करते हैं—इतिहासकार अपनी कल्पना को सत्य के अधीन रखता है तथा उपन्यासकार सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। इतिहासकार न तो नई कल्पना जोड़ सकता है, न तथ्य के खिलाफ जा सकता है; जबकि उपन्यासकार समाज और जीवन की छलछल धारा को अंकित करने के लिये सत्य को भी थोड़ा घुमा फिरा सकता है, नई पताका-प्रकरी - मूलक कल्पनाएँ जोड़ सकता है। इतिहासलेखन में मूल्यों की खोज भी की जाती है किंतु यहाँ यही ध्यान रखना चाहिए कि मानदंड उसी काल के उन्हीं लोगों के हों अर्थात् उनमें कालतत्व का सापेक्ष्य हो अन्यथा हम उस समाज का जीवन नहीं समझ पाएँगे। यह सही है कि आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों में काल-तत्व की अधिकता होती है, जबकि सौंदर्यात्मक बौद्धिक एवं भावात्मक मूल्यों में क्रमशः और अपेक्षाकृत कमी। यदि इस कालतत्व को देशतत्व से भी जोड़ दिया जाए तो हम देखते हैं कि वास्तुकला सर्वाधिक ऐतिहासिक चरित्र से परिपूर्ण होती है क्योंकि वह अपने युग की जरूरतें तथा चरित्र को प्रकट करती है, चित्र तत्व तथा वेशभूषा का दर्जा दूसरा है; राजनीतिक आर्थिक साहित्य का तीसरा। किंतु संगीत, अमूर्त चित्रकला, शुद्ध काव्य और शुद्ध नाटक आदि में सबसे कम ऐतिहासिक चरित्र होता है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर यदि ऐतिहासिक चरित्र से बँधा है, तो दूसरी ओर कलात्मक सार्वभौमिकता के कारण सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक भी हो सकता है। उपन्यास तो आधुनिक समाज की ही देन है जो समाज और व्यक्ति के बीच नए संतुलन के प्रतीक रूप में विकसित हुआ है। अतः ऐतिहासिक उपन्यास मानव के सातत्य जीवन की धारा और समाज के अनुभवों को संचित करता है। यहाँ वर्तमान को भुलाकर अतीत में पहुँचा जाता है और पुनः प्रच्छन्न रूप से काल-प्रवाह द्वारा वर्तमान की यथार्थ भूमि में लौटा जाता है जहाँ अतीत वर्तमान में एक क्रम है। भविष्य का निर्देश है। अतः यह दूरी को निकटता में परिणत कर देता है। ऐतिहासिक उपन्यास में बहुधा वर्तमान समाज की कमियों तथा खूबियों के आधार पर भी मूल्यव्यवस्था प्रदान की जाती है अर्थात् वर्तमान समाज भी पृष्ठभूमि में एक अदृश्य पोषक के रूप में रहता है। यदि देश काल के अक्ष (मैट्रिक्स) को लिया जाए तब ऐतिहासिक उपन्यास के चार प्रकार के अंतर्संबंध हो सकते हैं (यदि वर्तमान को केंद्र में रखा जाए) :

(१) अतीत में वर्तमान को परोक्ष में ग्रहण किया जाए—ऐतिहासिक यथार्थवाद।

(२) वर्तमान में अतीत को प्रत्यक्ष या परंपरा रूप में ग्रहण किया जाए—सामाजिक यथार्थवाद।

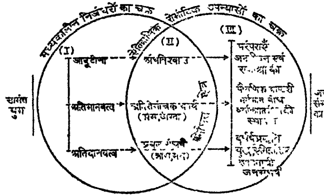
(३) वर्तमान में भविष्य को संकेत रूप में ग्रहण किया जाए · क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद ।

(४, भविष्य में वर्तमान को निष्कर्ष रूप में ग्रहण किया जाए—असंभव संबंध ।

इन चार अंतर्संबंधों से यह स्पष्ट है कि हम समाज तथा तत्कालीन जीवन, समस्याएँ तथा संघर्ष आदि को इनमें से किसी एक संबंध के आधार पर प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रस्तुतीकरण में टूटी कड़ियाँ, या अँधेरे पहलू, या अद्वितीय घटनाएँ खुद - ब - खुद संश्लिष्ट होती, जुड़ती, प्रकाशित होती चली जाएँगी। शर्त यही है कि वर्तमान अर्थात् समसामयिक बोध हमारे विवेक के केंद्र में रहे: अन्यथा वर्तमान से पलायन की स्थिति में संबंध की यह कड़ी टूट जायगी और हम रोमांस की कीमत पर इतिहास को नजरअंदाज कर देंगे। पुराण, पुराकथाएँ, रोमांस, ऐतिहासिक रोमांस आदि इसके उदाहरण हैं जहाँ देश काल-बोध में काफी गड्डमड्ड सा हो जाता है। हाँ, यह ठीक है कि इतिहास के तथ्यों को सरसता प्रदान करने के लिये रोमाटिक मधुरता का परिपाक किया जाए अर्थात् भावात्मक ऐतिहासिकता की कल्पना भी हो। हाँ, यह भी जरूरी है कि ऐतिहासिक उपन्यास में समाज को समझने तथा वर्तमान में उसके प्रभाव को प्रतिबिंबित करने के लिये परंपराओं, जनश्रुतियों, किंवदंतियों, लोककथाओं, लोकगीतों, रीतिरिवाजों, आदि का समावेश भी किया जाए। अतः कई लघु या सहकारी काल्पनिक पात्रों, काल्पनिक घटनाओं आदि की ऐतिहासिक उपन्यास में बहुतायत हो ही जाती है क्योंकि जब प्रमाणित तथ्य प्रमुख पात्रों के कार्यव्यापार को अनुशासन में बाँधे रहते हैं तब अनेक व्यक्तिगत घटनाएँ तथा काल्पनिक पात्र आदि समाज की किसी मान्यता, किसी दृष्टिकोण, किसी समस्या आदि का आयत्तीकरण करते हैं। इस प्रकार इनके संयोग से ही समाज तथा जीवन की संमूर्ति उभर पाती है।

देशकाल के आयाम में ऐतिहासिक उपन्यासों में घटना एवं पात्र की भी संबंधात्मकता है। जब घटना तथा पात्र दोनों ही ऐतिहासिक होते हैं तब एक समृद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की रचना होती है चाहे उसका कलात्मक स्तर जो भी हो। जब पात्रों या घटनाओं में से दोनों अथवा एक काल्पनिक होते हैं तब मिश्रित ऐतिहासिक उपन्यास की उपलब्धि होती है। यदि दोनों काल्पनिक होते हैं किंतु देशकाल वास्तविक होता है तब वह उपन्यास समाज का एक चित्र दे सकता है। किंतु यदि देशकाल का भी अतिक्रमण होता है तब वह रोमांस बन जाता है। सारांश यह है कि घटना एवं पात्र पर आश्रित रहनेवाला उपन्यास ऐतिहासिक तथा भाव एवं रोमांस पर आश्रित रहनेवाला उपन्यास ऐतिहासिक रोमांस होता है। यहाँ पर समाज की दृष्टि से रोमांस या ऐतिहासिक रोमांस तथा ऐतिहासिक

उपन्यास की तुलना करना समीचीन होगा। रोमांस का काल सीमा के परे होता है, ऐतिहासिक उपन्यास कालसीमा मे बँधा होता है; रोमांस यथार्थ से भी परे होता है, ऐतिहासिक उपन्यास यथार्थोन्मुख होता है, तथा रोमांस में घटनाओं पर बल दिया जाता है जबकि ऐतिहासिक उपन्यास में चरित्रचित्रण पर बल दिया जाता है। 'शुद्ध रोमांस' में जादू टोना, अतिमानवत्व तथा अति दानवत्व होता है जो क्रमशः अंधविश्वास, अतिरोमांचक कार्यों तथा प्रबल संघर्षों में रूपांतरित होकर 'ऐतिहासिक रोमांस' में भी प्रतिष्ठित होता है। यहाँ सामंतों का युग तथा मध्यकालीन निजंधरों का चक्र होता है। इसके अगले विकास अर्थात् ऐतिहासिक उपन्यास में अंधविश्वास जनजीवन तथा राजा सामंतों की परंपराओं में; अति रोमांचक कार्य पौराणिक आदर्शों या वर्तमान बोध या व्यक्तिगत शील की स्थापना में प्रबल संघर्ष दुर्घर्ष प्रकृति या युद्ध. या ऐतिहासिक आततायी या जनसंघर्षों में रूपांतरित हो जाता है। यहाँ जनसंस्कृति का युग तथा 'ऐतिहासिक उपन्यास' का चक्र होता है। अत: ऐतिहासिक रोमांस में अंधविश्वास के साथ साथ परंपराएँ, अतिरोमांचक कार्यों के साथ साथ पौराणिक आदर्श, या वर्तमानबोध, या व्यक्तिगत शील; तथा प्रबल संघर्ष के साथ साथ दुर्घर्ष प्रकृति, या युद्ध या ऐतिहासिक आततायी अथवा जनसंघर्ष भी जुड़ जाता है। इन तीन रूपों को यों अंकित किया जा सकता है:



[संकेत (I) रोमांस; (II) ऐतिहासिक रोमांस, (III) ऐतिहासिक उपन्यास]

हमें यहाँ सावधान कर देना होगा कि यदि ऐतिहासिक उपन्यास की सामाजिक उपयोगिता को धारण करना है तब जनसंस्कृति के चक्र पर ही बल देना होगा, न कि राजवंशों की विरुदावली पर। तभी समाज तथा उस समाज का जीवन, समस्याएँ, आदर्श आदि निरूपित हो सकेंगे। इसीलिये ऐतिहासिक उपन्यास के लिये जरूरी है कि उसमें लोकतत्वों, लोकपरंपराओं, जनगाथाओं, लोकभाषा तथा जन्मभूमिप्रेम, प्रकृतिप्रेम, दर्जनों चरित्र और नन्हीं नन्हीं समस्याओं को उभारने वाली कई उपकथाओं का ग्रहण हो। किंतु सर्वोपरि आवश्यकता है ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि और ऐतिहासिक बोध की अंतर्दृष्टि की ऐतिहासिक उपन्यास तथा नाटकों के द्वारा हम चाहे राजवंशावलियाँ न जान सकें लेकिन तत्कालीन 'समाज और जीवन की धारा' को बहुत कुछ समझ सकते हैं। कालिदास, शेक्सपिअर, मार्लो के नाटक इसका सबूत हैं। अतः ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिक आशंसा के साथ साथ सौंदर्यात्मक अभिरुचि के मिल जाने से दो प्रकार के पूरक बोधों का योग हो जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास का चरम लक्ष्य है जीवन के प्रति प्रगाढ़ अनुराग की अभिव्यक्ति, उस जीवन की जो लघु होकर भी पूर्ण मानवता का अमर अंश है। यदि प्रमुख पात्रों तथा प्रमुख घटनाओं को लिया जाए तो इतिहासलेखन एक प्रकार से राजाओं या राजपुरुषों का जीवनीलेखन है। इस दृष्टि से इतिहास असंख्य जीवनियों का साराश भी ठहरता है। यहाँ कई भटकाव आते हैं और भारतीय इतिहासलेखन में हमने पड़ोसी राष्ट्रों के इतिहास का अज्ञान, सीमित ऐतिहासिक चेतना, राजवंशों का चारण गान, पुराने आदर्शों की पूजा, जातिगत तथा धार्मिक दृष्टिकोण आदि भटकावों के प्रति सचेत किया है। अतः यदि ऐतिहासिक उपन्यास और सामाजिक दायित्व का प्रतिपादन करना है तो लेखक को इनसे भी तो बचना होगा। यदि किसी एक राजा की जीवनी को ही आधार मान लिया जाय, तो वह एकांगी वा एकपक्षीय होगी तथा उस पूरे युग के इतिहास के बारे में हमें गुमराह कर देगी। किंतु यदि ऐतिहासिक उपन्यास समाज को अंकित करता है, तब वह अनेक अज्ञात गुमनाम पात्रों के चरित्रों को अंकित करके उसे समूचे मानव की कहानी में परिवर्तित कर देता है अर्थात् अनेकानेक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक, दोनों तरह के पात्र अपनी अपनी घटनाओं समेत अंततोगत्वा निर्वैयक्तिक हो जाते हैं — और सभी एकसूत्र में पिरो दिए जाते हैं। इतिहासलेखन में यह सब कार्य बौद्धिक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति से पैराग्राफों में बाँट बाँटकर होता है अर्थात् उसमें 'जीवनी' हो सकती है किंतु 'कथा' नहीं। इतिहासकार को 'विषय' के अंतर्गत आर्थिक, सामाजिक, पुरातात्विक और राजनीतिक पक्षों को यथातथ्य रूप में ही ग्रहण करना होता है; जबकि उपन्यासकार विषय को 'वस्तु' में एवं पैराग्राफों को 'कथोपकथन' आदि में ढाल देता है। वह अपनी कथावस्तु को सँभालने और सुसंगठित करने के लिये उसे सीमित कर सकता है, कुछ तथ्यों को छोड़ सकता है,

कुछ पक्षों को चरमोत्कर्षों द्वारा अधिक उभारकर ध्यान केंद्रित कर सकता है, तथा अपने दृष्टिकोण से सारे समाज को देख दिखा भी सकता है। ये उसके कलात्मक शिल्पविधान, समाज के प्रति उसके दृष्टिकोण तथा मानववादी आस्था की धारणाओं की सीमा सूचित करते हैं। इसलिये ऐतिहासिक उपन्यास की सामाजिक उपयोगिता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उपन्यासकार कौन से कालखंड को, किस कथावस्तु को, किस प्रकार के पात्रों को, किन समस्याओं को तथा किस दृष्टिकोण को ग्रहण करता है। यहीं उसके इतिहासज्ञान, इतिहास-अध्ययन तथा इतिहासबोध के प्रभाव मुखर हो उठते हैं। उपन्यासकार उपदेशक न हो बल्कि समाजिक यथार्थता एवं तत्कालीन बोध से युक्त हो। एक अंतर और भी द्रष्टव्य है : सभी उपन्यास अतीत में पहुँचते ही ऐतिहासिक नहीं हो जाते. ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक अपने से पूर्ववर्ती युग को ग्रहण करता है। इससे बिल्कुल अलग दिशा समसामयिक उपन्यासों की है जिनमें लेखक अपने युग को ही ग्रहण करता है किंतु जो कुछ काल बीतने पर इतिहास की (ऐतिहासिक नहीं) वस्तु हो जाते हैं। इनके द्वारा भी तत्कालीन समाज और इतिहास का अध्ययन हो सकता है।

इस प्रसंग में एक सवाल उठता है कि क्या इतिहास की आवृत्ति होती है? हूबहू नहीं। क्योंकि वह युग, वे मनुष्य, वह कालक्षण, वह समाज नहीं रहता। किंतु जनकार्यों में आवृत्ति के लक्षण मिल सकते हैं। क्या मनुष्य इतिहास से सीख सकता है? हीगेल का साफ उत्तर है, 'नहीं'। हमारा उत्तर है कि भौगोलिक तथ्यों और चरित्र, आर्थिक अवस्था लोगों के स्वभाव, उनके सामाजिक ढाँचे के आधार पर मनुष्य के कार्यों का अंदाजा लगाया जा सकता है। जीवन तो क्षणिक, गतिशील, वर्तमान तथा व्यक्तिगत होता है और इतिहास शाश्वत तथा स्थिर, अतीत तथा सामाजिक होता है। इसलिये एक व्यक्ति इतिहास के परिणामों को भोगता तो है किंतु सीखनेवाली बात संदेहास्पद है क्योंकि लगभग सभी राष्ट्र एक न एक तरह की गलती बारंबार करते मिलते हैं।

मानवता की चेतना के विस्तार तथा उसमें गुँथी हुई घटनाओं की कारण-परिणाम-श्रृंखला एक 'निश्चयवाद' का भान कराती है। यह सच है कि इतिहास में ताल या प्लाट नहीं होता किंतु यह भी सच है कि ऐतिहासिक उपन्यास में एक ताल, एक प्लाट, एक पैटर्न होता है। ऐतिहासिक उपन्यास में घटनाएँ और चरित्र कथानक में गुँथकर कारण-परिणाम-नियम का जितना सुंदर और उदात्त प्रतिपादन करते हैं वह इतिहास लेखन की किसी भी पद्धति के बूते के बाहर है। यह सच है कि इतिहास में एक ताल या एक प्लाट तो नहीं होता; किंतु—यह भी व्यापक सत्य है कि इतिहास और मानवता की गाथा में कई ताल, कई प्लाट, और कई

आवृत्तियों तक होती हैं। इस दार्शनिक और व्यावहारिक भूमि पर इतिहास-लेखन की कलात्मक प्रणाली और निश्चयवादी प्रणाली एकरूप हो जाती हैं।

अंत में हम देश तथा काल की समस्या को पुनः दूसरे मतलब से उठाएँगे। देशकाल के आयाम में ही ऐतिहासिकता, सामाजिकता तथा समस्याएँ आती हैं। ये दोनों अन्योन्याश्रित और परस्पर पूरक हैं। यदि एक ओर ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं के साथ काल्पनिक पात्र और घटनाएँ क्रमशः 'देश' और 'काल' के रंग को गाढ़ा तथा चमकदार बनाती हैं तो दूसरी ओर काल अक्ष में अतीत (युगप्रधान) के साथ वर्तमान का संयोग किया जाता है। इसके फलस्वरूप युग की तस्वीर खिचती है, युगप्रतिनिधित्व भी होता है, तथा वर्तमान के परिणामों की मौजूदगी को कथावस्तु में भविष्यवाणी या सीख या तुलना के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। हम आसानी में वर्ण-व्यवस्था की कमजोरियों को 'मृगनयनी' में वर्णित पाते हैं क्योंकि लेखक वर्तमान में उनके परिणामों को भुगत रहा है। देशकाल के चित्रण के द्वारा पूरा ऐतिहासिक उपन्यास ही संपूर्ण संमूर्ति बन जाता है। 'देश' के अंतर्गत प्रकृति-चित्रण उपन्यास को आंचलिकता प्रदान कर सकता है। यों तो मूल प्रकृति शाश्वत होती है, किंतु आंचलिक भूखंडों की अपनी अपनी स्वगत शोभा भी है, जैसे भूमि, पर्वतों, नदियों, वृक्षों, पशुओं, पक्षियों, फूलों, ऋतुओं, आदि की। भूचित्र उपन्यासों में वातावरण की रचना करते हैं। कालानुरूप 'देश' का दूसरा पहलू, मानवीय कृतित्व है। हम कह चुके हैं कि वास्तुकला ऐतिहासिक चरित्र के सबसे अधिक नजदीक है; चित्रकला, शृंगार, वेशभूषा आदि का दूसरा नंबर है। इसलिये ऐतिहासिक उपन्यास में मकानों, नगरों, भवनों, मंदिरों, किलों, पोखरों, गढ़ियों आदि का अंकन इतिहास को गभिन बनाता है। संगीत तथा काव्यकला इतिहास से तो अपेक्षाकृत दूर हैं किंतु मानव की शाश्वत वृत्तियों के नजदीक हैं। अतः ये चरित्रचित्रण की सूक्ष्मता में अधिक सहायता करते हैं। रीतिरिवाज, परंपराएँ, लोकोत्सव, त्यौहार, प्रथाएँ आदि 'देश' के रंग भरने में, चरित्र उभारने में, उत्कर्ष करने में और इतिहास के कंकाल को समाज के जीवन की मांसलता देने के साधन हैं। इनके द्वारा हम समाज और सामाजिक उपयोगिता का सांनिध्य पा सकते हैं। इसी कड़ी में राजदरबारों का जीवन, अंतःपुर का वातावरण, राज-सभाओं की गोष्ठियाँ; भिन्न भिन्न वर्ग और पद के पात्रों की वेशभूषा और भाषा, युद्धों में प्रयुक्त शस्त्रास्त्र, संग्रामकला आदि देश का बिंबविधान रचते हैं। 'काल' का संबंध घटनात्मक प्रवाह से है, जैसे चरित्रविकास, घटनाएँ, समस्याएँ, आदि। यहाँ घटनाओं को कथात्मक मोड़ या उत्कर्ष के लिये तो 'प्रयुक्त' किया ही जाता है (उपन्यासशिल्प की दृष्टि से), किंतु समाज की समस्याओं, लोगों के

आदर्शों तथा विश्वासों एवं जनकर्मों के निरूपण के लिये भी 'घटित' किया जाता है। इनमें जो सक्रियता, उद्विग्नता, गतिशीलता आदि होती है वह मानवीय चेतना तथा ऐतिहासिक परिस्थिति आदि को प्रकट करती है। कालानुरूप राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक अवस्था, भाँति भाँति के पात्र और उनकी प्रवृत्तियाँ, सामाजिक अवस्था के फलस्वरूप विभिन्न घटनाओं के परिणाम आदि 'काल' के अन्त में राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्र की ऐतिहासिक गति की कहानी पेश करते हैं। सारांश यह है कि 'देश' उपन्यास को अचल चित्रकलात्मकता प्रदान करता है और काल गत्यात्मक प्रवाह। देश के लिये इतिहास का अध्ययन अनिवार्य है तो काल के लिये मानव प्रकृति का ज्ञान, अर्थात् मानव की आत्मा में, जीवनधारा में ही इतिहास का तत्व है। इस तत्व का परिपाक इतिहासलेखन की कलात्मक पद्धति—ऐतिहासिक उपन्यास—द्वारा सर्वोत्तम ढंग से हो सकता है। यदि इतिहास की सामाजिक उपयोगिता है तो इतिहासलेखन के सौंदर्यात्मक माध्यम के उत्पन्न इतिहास की भी सामाजिक उपयोगिता तो अधिक गहरी, किंवा, भावात्मक तथा चेतनात्मक स्तर पर होगी।

सारांश यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास में समाजशास्त्र के ज्ञान का उपयोग हमारी सामाजिक संस्थाओं के विकास एवं निषेधों स्वीकारों का विश्लेषण कर सकता है, मनोविज्ञान का उपयोग व्यक्ति के आपसी व्यवहारों तथा बाह्य प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डाल सकता है, अर्थशास्त्र का उपयोग वर्गों की आर्थिक दशा तथा देश की समृद्धि या दरिद्रता के परिणामों को व्यक्त कर सकता है, इतिहास का उपयोग प्राचीन शाश्वत राष्ट्रीय धारा की क्षमताओं को उद्बुद्ध कर सकता है तथा अंत में सारी मानवीय चेतना तथा अनुभव की कहानी प्रस्तुत कर सकता है।

हिंदी व्याकरण का संक्षिप्त इतिहास

डा० राजाराम रस्तोगी

•

विश्व के प्राचीनतम ग्रंथों में जैसे वेद को अग्रणी माना जाता है, वैसे ही व्याकरण के निर्माण और प्रवर्त्तन में वैदिक निरुक्त के रचयिता यास्क और प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि रचित अष्टाध्यायी को संसार के प्रथम वैयाकरण के रूप में स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। व्याकरणलेखन और अध्ययन की भारत में दीर्घ परंपरा रही है। मैक्समूलर ने लिखा है कि ईसा के जन्म के शताब्दियों पूर्व भारत में व्याकरण का अध्ययन होता था और कोष-निर्माण-कला अपनी चरम सीमा में अवस्थित थी।[१] पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण बनाया, उसकी प्रारंभिक साहित्यिक शैली वैदिक भाषा के परवर्ती काल, जिसे उदीच्य भाषा[२] के अंतर्गत रखा जाता है, देखा जा सकता है। डा० पांडेय लिखते हैं, यही वह भाषा थी, जिसको आधार बनाकर वि० पू० सातवीं शती में महर्षि पाणिनि ने शास्त्रीय संस्कृत की नींव डाली थी'[३]। पाणिनि ने संस्कृत को लौकिक भाषा कहा है और जब प्राकृत भाषा में व्याकरण का निर्माण होने लगा तो लौकिक भाषा देवभाषा बन गई। इस प्रकार कालांतर में देशी भाषाओं को महत्व और भाषा को परिनिष्ठित स्वरूप देने के लिये व्याकरण का निर्माण आवश्यक समझा गया। वररुचि, भरत, मार्कंडेय आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का व्याकरण लिखा तथा इस साहित्य

१. सेंचुरीज बिफोर द बर्थ आव क्राइस्ट, ग्रामर वाज आलरेडी स्टडीड इन इंडिया। लेक्सिक टू अटेम्प्स टु ए हाइ पुज।—हिस्टरी आव संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम—१

२. तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते, उदंच उ एव यन्ति वाचं शिक्षितं, यो वा तत् आगच्छति तस्य काशुश्रूषन्त इति।—कौशीतकी ब्राह्मण

३. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास—ना० प्र० स०—२६४।

की समृद्धि की। आधुनिक काल में पिशेल[1] का प्राकृत भाषा का व्याकरण, डा० मधुकर अनंत मेहेंडेल, डा० सुकुमार सेन, भिक्षु जगदीश काश्यप का पालि महा-व्याकरण और टैगोर[2] का अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण आदि प्रमुख व्याकरण हैं।

भारत पर मुसलमानों का जब आक्रमण हुआ तो भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। प्राकृतोत्तर युग देश में अशांति और संघर्ष का युग रहा है। फलतः बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति सांस्कृतिक संरक्षण और अधिक निर्माण की ओर कम रही होगी। आज हम अनुमान कर सकते हैं किंतु जब मुसलमानों शासक यहाँ आकर जम गए और यहाँ की जनता में घुलने मिलने लगे तो अधिकांश हिंदू जनता भय से आक्रांत होकर अपना धर्मपरिवर्तन करने लगी और उन विदेशी तुर्की और फारसी बोलनेवाले मुसलमानों के निकट संपर्क में आई, जिससे एक नई भाषा का विकास होने लगा। खुसरो, रहीम, दारा, फैजी, अबुल फजल, अकबर आदि भी इसके प्रमाण हैं। उस काल की साहित्यिक भाषा व्रजभाषा थी। राजनीतिक स्थिरता के कारण भाषा संबंधी आकांक्षा का पुनः उदय हुआ और इसी काल में व्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा गया जिसका संपादन शांतिनिकेतन के उर्दू फारसी के प्रोफेसर श्री जियाउद्दीन ने किया। यह पुस्तक १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निर्मित हुई थी और मुख्यतः फारसीदाँ मुसलमानों के व्यवहार के लिये लिखी गई थी। इस पुस्तक की भूमिका डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है और इसकी मूल प्रति इंडिया आफिस लाईब्रेरी में सुरक्षित है। डा० चटर्जी महोदय ने लिखा है कि व्रजभाषा के इस व्याकरण को हम हिंदी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते हैं।[3] मेरे जानते व्रजभाषा हिंदी का यह पहला व्याकरण है जो फारसी लिपि में लिखा गया। आज हिंदी जिस रूप में है, वह उसका व्याकरण है, ऐसा समझना भूल होगी।

इस पुस्तक का नाम तुहफत-उल-हिंद है जिसका अभिप्राय है भारत-वर्ष का उपहार। इस पुस्तक के लेखक हैं श्री मीर जाँ खाँ। प्रति के पृष्ठ २६८

१. पिशेल : ग्रामातीक प्राकृत स्प्राखेन जिसका अंग्रेजी अनुवाद डा० सुभद्र झा ने किया है।
२. टैगोर : हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश, पोस्ट-ग्रैजुएट रिसर्च इंस्टी-ट्यूट, डेकन कालेज, पूना से प्रकाशित।
३. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० १६९।

पर रचनाकाल भी अंकित है—'२८वीं रज्जब, सन् ११८२ हिजरी, शुक्रवार, ३ घंटे चढ़े पुस्तक समाप्त हुई।' इसी प्रति के उसी पृष्ठ पर दूसरे हस्तलेख में लिखा है—'१६वीं शव्वल ११८२ हि०'। इस पुस्तक के ४३१ वें पृष्ठ पर लेखक ने यह लिखते हुए पुस्तक समाप्त की है'। 'मूल प्रति से तुलना करते हुए, यह प्रति बहुत ही सावधानी से की गई है। ५वीं जिलकादह ११८२ हि० को समाप्त हुई।'[1] डा० चटर्जी इस पुस्तक का रचनाकाल सन् १६०५ के पूर्व मानते हैं।[2]

तुहफत-उल-हिंद नामक व्रजभाषा व्याकरण का सबसे पहले उल्लेख सन् १८७४ में जोन्स साहब ने अपने एक लेख में किया है। इस पुस्तक के विषय और विवरण की प्राप्ति उसी लेख से होती है। इस रचना का उद्देश्य फारसीविद् लोगों को व्रजभाषा का शुद्ध और व्यावहारिक उच्चारण फारसी के माध्यम से कराना था। इस कृति के चार अध्याय[3] और सात मूल विषय हैं। इस पुस्तक की एक प्रति बोदेलियर पुस्तकालय, पेरिस (फ्रांस) में भी उपलब्ध हुई है। इस रचना का मूल विषय विविध[4] है।

इस व्रजभाषा व्याकरण के पश्चात् भी अनेक व्याकरण लिखे गए जिन्हें इस देश के साहित्यकारों ने विदेशियों के, विशेषतः अंग्रेजों के, हिंदी-भाषा-ज्ञान को विकसित करने के उद्देश्य से रचा। सन् १८१० में लाला लल्लू लाल जी ने

१. हिजरी सन् में ६०० वर्ष जोड़ने से प्रायः ईसवी सन् निकल आता है।

२. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ११५।

३. अध्याय (१) १८ ध्वनियों का विवेचन जो अरबी फारसी और भाषा में समान हैं।
 ,, (२) १७ ,, ,, जो अरबी फारसी में नहीं हैं।
 ,, (३) हिंदी वर्णों की संख्या और परिचय।
 ,, (४) स्वरों और उनके प्रतीकों का अध्ययन।

४. (१) छंदःशास्त्र या पिंगल विषयक।
 (२) तुक विषयक।
 (३) रसालंकार विषयक।
 (४) शृंगार—नायक-नायिका-भेद विषयक।
 (५) संगीत विषयक।
 (६) काव्यशास्त्र विषयक।
 (७) सामुद्रिक ज्योतिष।

'ब्रजभाषा व्याकरण के सिद्धांत' लिखा। तदुपरांत भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता ने एक छंदोबद्ध संक्षिप्त (१० पृष्ठों का) व्याकरण निर्मित किया था।

ब्रजभाषा का व्याकरण।

इसके प्रथम विभाग में 'भाषा का परिचय' दिया गया है—संसकिरत, पराकिरत और भाखा।

१ संस्कृत—कला और विज्ञान की अनेक पुस्तकें हैं। हिंदुओं का भी विश्वास है कि यह देवभाषा है और इसे वे आकाशवाणी या देववाणी भी कहते हैं।

२ प्राकृत - इस भाषा का उपयोग मुख्यतः राजा, महाराजाओं तथा मंत्रियों की प्रशंसा करने के लिये हुआ है। इस भाषा का संबंध पाताल से बताया जाता है। हिंदू इसे पातालवाणी या नागवाणी भी कहते हैं। यह भाषा 'संसकिरत' और 'भाखा' के मिश्रण से बनी है।

३ भाखा—'भाखा' में जो काव्य मिलते हैं, वे अलंकृत काव्य हैं। उनका मुख्य विषय प्रेमी प्रेमिका की कथा है। यह व्यवहार की भाखा है। संसकिरत और पराकिरत को छोड़कर प्रायः सभी बोली भाखाओं का इसमें मिश्रण है। विशेषतः यह ब्रजवासियों की भाखा है। ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है जो मथुरा को केंद्र मान कर ८४ कोस के बीच मंडलाकार स्थित है (आइने अकबरी भी देखिए)। ब्रजवासियों की भाखा सब भाखाओं से अधिक मधुर, प्रवाहशील और प्रचलित है। गंगा यमुना के बीच समस्त प्रदेश की भाखा यही प्रचलित भाखा है। 'चंदवार' (एक प्रसिद्ध जिला) भी इसमें संमिलित है।

द्वितीय उपविभाग

(अ) शब्द की परिभाषा और शब्द के प्रकार :
- १ संपादन (सब्सटैंटिव)
- २ करतब (कर्तव्य, द वर्ब)
- ३ करता (कर्ता, द नामिनेटिव)

(आ) संपादन की परिभाषा, संपादन के दो भेद—
- १ संपादन, इसे अरबी में 'रस्म' कहते हैं।
- २ विर्त, इसे अरबी में 'हर्फ' कहते हैं।

(इ) करतब क्रिया को कहते हैं इसके पांच भेद है :
'भूत', 'बरतमान (वर्तमान)', 'भविक्ख' (भविष्य) किरिया (क्रिया), किरत (कृत)

कालविवेचन : ३ भूतकाल, वरतमान काल, भविक्ख काल।
किरिया का विवेचन ४ भेद—१ संभव, २ – असंभव, ३—भाव, ४—अनभाव।
(ई) कर्ता के २ भेद—स्वाधीन, पराधीन—विवेचन बहुत विस्तृत है।

तृतीय उपविभाग। लिंगविचार

१ पुलिंग (पुल्लिंग) इसके दो भेद किए गए हैं :

(क) निश्चित

(ख) अनिश्चित

चतुर्थ उपविभागः स्त्रीलिंग २ अस्त्रीलिंग, इसके ३ भेद –

(क) निश्चित

(ख) अनिश्चत

(ग) अनियमि (अस्त्रीलिंग)

अनिश्चित के दो भेद :

१ – एक वह जिसकी तुलना पुलिंग से हो जैसे—तुरंगिमी (तुरंग)

२—दूमरा वह जिसकी तुलना पुलिंग से नीं हो जैसे—बयार

(ग) अनियमि (अस्त्रीलिंग)

इसके बाद पुलिंग से स्त्रीलिंग बनाने के नियम दिए गए हैं, इसमें उन प्रत्ययों की सूची दी गई हैं जिन्हें यदि पुलिंग में जोड़ दिया जाय तो स्त्रीलिंग बन जाएँगे। वे प्रत्यय हैं :

१ (आ) : जैसे बिर्ध (वृद्ध) बिर्धा (वृद्धा)

२ (ई) : जैसे देव से देवी

३ (आनी) : जैसे रुद्र से रुद्राणी

४ (नी : जैसे तुरंग से तुरंगिनी

पंचम उपविभाग : नपुंसक लिंग :

सामान्य परिचय दिया गया है। यह संस्कृत में प्रयुक्त होता है, भाषा में नहीं।

छठा उपविभाग : बहुवचन

इस विभाग में वचनों पर विस्तार से विचार है। साथ ही इस प्रकार के प्रत्ययों का भी विवेचन है जिनके जोड़ने से एकवचन का बहुवचन बन जाता है जैसे—'न'; पग (एकवचन) से पगन (बहुवचन)।

सातवाँ उपविभाग : संकेतवाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के सात प्रयोग दिए हैं — ये संकेतवाचक सर्वनाम दोनों लिंगों (स्त्रीलिंग, पुलिंग) में समान रहते हैं : —

१. (वा) (दैट) एकवचन, अन्यपुरुष
२. (ता) (दैट) ,, ,,
३. (या) (दिस) ,, मध्यमपुरुष
४. (जा) (हू एवर) ,, अन्यपुरुष
५. (उन) (दे) बहुवचन ,,
६. (इन) (दीज) ,, मध्यमपुरुष
७. (जिन) (हू एवर) ,, अन्यपुरुष

आठवाँ उपविभाग : पद्विर्त (पद-वृत्ति) वाक्य:

इसके दो तत्व रहते हैं जैसे राम आया।

नवाँ उपविभाग : संबंध

विस्तार के साथ विवेचन है—अरबी से स्थान स्थान पर तुलना की गई है।

दसवाँ उपविभाग।

उपसर्ग तथा प्रत्ययों का विवेचन है, साथ ही इनकी एक बड़ी तालिका भी दी गई है।

ब्रजभाषा व्याकरण—दोहा

संस्कृत के मधि रहति, जैसे सरत विभक्ति।
ते 'भाषा' कहँ होतिहैं, लिखति तिन्हनि की पंक्ति॥

आडिल्ल (अरिल्ल)

प्रथमा, द्वितीया, बहुरि तृतीया जानियें।
बहुरि चतुरथी पंचमी, षष्ठी मानियें।
सप्तमी सात विभक्ति, दुही सिगरे भनें।
एकवचन, बहुवचन, और संबोधनें।

इनके रूप

जो, सो, जे, ते, तको, सों, तसों, कों, तें, तनें, कों, में, तमें, ए विभक्ति सात जानियें।
करता, करम, करन, संप्रदान, अपादान संबंधी सुअधिकरन सातों नाम मानियें॥
संबोधन बीच होत है ओ; एकथन, पूर्व कहूँ परी विभक्ति लोप कहँ जानियें।
अद्ध लोप कहूँ देव अरे कहें तहां, देव देवन कहें हू अर्थ आनियें॥

अब आकारांत स्त्रीलिंग शब्द

सिया, तिया, सैना, प्रिया, नारि लिंग आदि।
होइ सुधाता शब्द सम, समझौ कनि मरजादि ॥
आकारांत सियादि कौं, कहुँ कपि कहहिं हलंत।
सात सब्द सम रूप तब, होत लखो कवि-कंत ॥
गंगा-जमुना कों को कहें गंग, जमुन सब कोइ।
दोऊ सिद्ध प्रयोग हैं, जहें थल जैसो होइ ॥

अथ ईकारांत स्त्रीलिंग—नदी शब्द

ईकारांत नदी सबद, नारि लिंग है जोइ।
ग्यानी के सम रूप सब, तनै भाषा होइ ॥
सखी, लच्छमी, मोहनी, वोनी, रौनी और।
लाली, काली, कांमनी, नदी सरस सब ठौर ॥

स्फुट नियम :

ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, होत हैं, स य इकार।
तेसेंहिं होत हलंत सब, आकारांत निरधार ॥
भाषा के इमि जानिऐं, शब्द - नियम - परकार।
विसहु, पढ़हु, कविता करह, बरनत गिरिधरदास ॥

इति भाषा व्याकरण संपूर्ण

१० पृष्ठों का व्याकरण।

अकबर के राज्यकाल (सन् १६०८) में भारत में थोड़ी स्थिरता आई थी और (सन् १६५८) में औरंगजेब के राज्यकाल में जब मुसलमान शासकों का शक्तिपूर्ण अपनी चरम सीमा को स्पर्श कर रहा था उसी समय भारत में कुछ यूरोपीय व्यवसायी और सिपाही आए थे। उस समय साहित्य की भाषा व्रजभाषा तथा जनता की 'भाषा' का विकास हो रहा था। इसी काल में हिंदुस्तानी का पहला व्याकरण भी निर्मित हुआ, पर जो एक यूरोपियन द्वारा डच भाषा में रचित है तथा जिसका मुद्रण भी विदेश में ही हुआ है। वस्तुतः हिंदुस्तानी का यह प्रथम प्राचीन उपलब्ध व्याकरण है। इसमें ग्रंथ की प्राचीन प्रति भी उपलब्ध है जो हालैंड के पुस्तकालय

में सुरक्षित है। इस व्याकरण के निर्माता जॉन जोशुआ केटेलर हैं।[1] यह व्याकरण सन् १७४३ में हालैंड के प्रसिद्ध नगर लाइडेन से दावीद मिल मिल्यूस द्वारा प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण को लोग प्रायः विस्मृत कर चुके थे। सन् १८६५ के जनवरी महीने में इटली के एक विद्वान् सिग्नर एमिलियो तेजा ने रोम की एक सभा रियल एकेडेमिर डेई लिन्सेइ में इस व्याकरण की ओर इटली के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में काफी विलंब हुआ। वस्तुतः यह ग्रंथ डा० फोगल[2] के अनुसार हिंदुस्तानी और फारसी भाषा में लिखा गया था। इस व्याकरण की प्रतिलिपि हालैंड के एक निवासी इसाक फान दर हू फेर[3] ने लखनऊ में सन् १६६८ में की थी और यह कृति हेग नगर के राजकीय पुस्तकालय में अभी तक वर्तमान है।

१. जॉन जोशुआ केटेलर ने हिंदी का प्रथम व्याकरण लिखा जो लूथरान धर्म का अनुयायी था तथा प्रसिया के इलबिनजेन नगर में उसका जन्म हुआ था। डच एलची की हैसियत से शाहआलम बहादुरशाह (१७०८–१७१२) और १७११ में जहाँदारशाह से संमानित वह डच ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यवसाय का सूरत नगर में संचालक था। वह लाहौर जाने के मार्ग में देहली और आगरा गया था परंतु उसके आगरा में रहने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। आगरा में डच कंपनी की एक फैक्टरी थी, जो सूरत के मातहत थी। यह मिशन १० दिसंबर, १७११ को लाहौर पहुँचा और जहाँदारशाह के साथ दिल्ली लौटा और पुनः वहाँ से १४ अक्टूबर, १७११ को चला और २० अक्टूबर को आगरा पहुँचा, आगरा से वह सूरत गया। १७१६ तक वह डच कंपनी का सूरत में संचालक रहा उसके बाद उसकी नियुक्ति परसिया में हुई और वह २० वर्षों तक डच कंपनी की सेवा करता रहा। वह ज्वर से पीड़ित होकर गेमब्रूथ इस्फान से लौटते हुए परसियन गल्फ में मरा। उसने हिंदुस्तानी का प्रथम व्याकरण और कोष लिखा जिसे डेविड मिल ने १७४३ में प्रकाशित किया।

—एल० एस० आव इंडिया—जान जोशुआ केटेलर, वाल्यूम १, पैरा १, पेज ६।

२. डा० जे० पी० एच० वोगल, कर्न इंस्टिट्यूट, लाइडेन।

३. इस्सक वांदेर होइव।

इस पुस्तक की प्राचीनता का उल्लेख दावीदे पील ने इस व्याकरण की भूमिका में किया है। वे कहते हैं कि पुस्तक डच भाषा में थी और उसका लैटिन भाषा में अनुवाद कर उसे १७४३ में मैंने हालैंड के प्रसिद्ध नगर लाइडेन से प्रकाशित किया। स्पष्ट है कि इस व्याकरण का निर्माण १६६८ के कुछ पूर्व हो चुका था और हम अनुमान से इसे १६७५ का व्याकरण मान सकते हैं।

केटेलर का व्याकरण एक छोटा सा ३२ पृष्ठ का व्याकरण है, आद्यंत रोमन लिपि में। हिंदुस्तानी शब्द भी रोमन लिपि में हैं। केटेलर की मातृभाषा जर्मन थी पर उसने डच भाषा में डच लोगों के लिये पुस्तक लिखी। पुस्तक के पहले पैराग्राफ में उसने नामराक्षर के संबंध में विचार किया है। उसका कहना है कि ब्राह्मणों में वर्णमाला अक्षर नागरी कहलाती है। केटेलर का तात्पर्य कदाचित संस्कृत और हिंदी से है। उनका कथन है कि हिंदुस्तानी भाषा दो प्रकार की है। १ — पडनाई २ — देखनी। पुस्तक में नागरी अक्षरों के प्रत्यक्षर इस प्रकार दिए गये हैं :—

अं	ang	ट	tha	प	pa
अः	gha	ठ	tcha	फ	pha
क	ka	ड	dha	ब	ba
ष (ख)	ka	ढ	dhgja	भ	bhan
ग	ka	ण	nrha	म	ma
घ	dgja	त	ta	य	Ja
ङ	nia	थ	tha	र	ra
च	tgja	द	dha	ल	la
छ	tscha	ध	dh	व	wa
ज	dhea	न	na	श	sgang
झ	dgja			ष	tscho
ञ	nia			स	ssa
				ह	ha

क्ष — k, cha ळ — rang

Beetha — बेटा, Boedia — बुढ़िया Admi

शब्द—रूप

१—नामिनेशंस(कर्त्ता) बेटा – बेटे बुढ़िया – बुढ़िये आदमी–आदमियों

२—जेनिटिवस बेटाका–बेटोंका बुढ़ियाका–बुढ़ियोंका आदमीका,के–आदमियों का (संबंध कारक)

३—डैटिवस बेटों का-बेटों को बुढ़िया कों-बुढ़िया को आदमी कों-आदमियों कों
(संप्रदान कारक)
४—एक्यूजेटिवस ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(कर्मकारक)
५—वोकेटिवस(संबोधन,ऐ बेटा-ऐ बेटा ए बुढ़िया-ए बुढ़ियेंए आदमी-एआदमियों
६—एब्लैटिवस बेटा से-बेटे से बुढ़िया से-बुढ़िया से आदमी से-आदमियोंसे
(आपादान कारक)

बेटी बेटियाँ जोरा जोरुओं बाप बापे आँख आँखें
Bethi Butia Dejoroe Dijoreeon bash babe

क :—शब्द-रूप में कर्तृ कारक और अन्य कारकों के प्रातिपदिक में पार्थक्य नहीं है का, के, की का भेद नहीं बताया गया है। सर्वनाम शब्दों के रूप इस प्रकार हैं।

१—N – में – हम ; तू – तुम	वह – इन	सर्वनाम के
२—G – मेरे-अपरे ; तेरे-तेक्मारे	इसका – इनके	उत्तम और
३—D – मुकों हमको ; तेरेकों-तुमकों	इसकों-इनकों	मध्यपुरुष
४—A – मेरा-हमारे ; तेरा—तुम्हारे	वह – इनका	के कर्मकारक
५—V – ऐ मैं-ऐ हम; ऐ तू ऐ तुम	ऐ वह-ऐ इन	के रूप "मुझ
६—A – मेंसे-हमसे; तूसे-तुम से	इससे – इनसे	'तुझे' कर्म
		वाच्यक्रियापद
		विवेचन में लाये
		गये हैं।

ख :—प्रश्नसूचक सर्वनाम व्यक्तिवाचक बताए गए हैं क्या, क्यों, कौन। सर्वनाम के प्रयोग कौन है—कौन है उधर, कौन दौड़ता, कौन बोलता, क्या खबर, क्या चाहता, क्यों नहीं, किस वास्ते, क्यों, किचा।

ग :- सर्वनाम षष्ठी विभक्ति से संबद्ध पद स्त्रीलिंग होने से षष्ठी में कोई प्रत्यय आता है उसका उदाहरण।

मेर बात, तेरे बाप-मेरी माँ, तेरी माँ, हमारा भाई, तुम्हारी बहन।

घ :—नयर्थक अनुज्ञा में क्रियापद के साथ मत अव्यय का प्रयोग दिखाया है। मत जाओ, मत खाओ, दौड़े मत, कहो मत, रोये मत।

इस प्रकार सर्वनाम के बाद ई तद्धित के संयोग से विशेषण शब्द किस रीति से विशेष्य बन जाते हैं उसके उदाहरण दिये हैं।

खूब, खूबी-गुस्सह,गुस्सी-दिवाना-दिवानी;जोरावर,जोरावरी-चंगा,चंगाई-अल्लाह, अल्लाही। इसके बाद विशेषण पर्याय है। इस्द् और सबद् से हिंदुस्तानी

का काम चलता है। उदा०—इससू काल, गहरा, इससू गहरा, मोहर इससू मोटा, सबसू खूब, सबसू कड़वा।

दार, गार ची, वाला दाज प्रत्ययों के योग से कर्तृवाचक विशेष्य बनाने की रीति सोदाहरण बताई है।

कर्ज़ — कर्ज़दार, दाढ़ी — दाढ़ीदार, चौकी — चौकीदार।

तोप — तोपची, बन्दूक — बंदूकची,

लकड़ी — लकड़ीवाला, पत्थर — पत्थरवाला।

तीर — तीरंदाज, सोना — सुनार (दार प्रत्यात्त में लिखे गये हैं) ईकारांत शब्दों के उत्तर स्त्रीलिंग में इन प्रत्यय होता है। धोबी—धोबिन, माली - मालिन, मोची — मोचिन।

आदरार्थ — जीव शब्द का व्यवहार किया गया है। बापजीव, बहनजीव, दोस्तजीव, दोस्तानीजीव। इसके बाद सू और से अनुसर्ग से कैसे तारतम्य प्रदर्शित होता है उसके दो उदाहरण देकर विशेषण पर्याय समाप्त किया गया है।

आदमी घोड़ा सू खूब है, हाथी बैल से बड़ा है।

चः — इसके बाद क्रियापद की आलोचना की गई है। हो धातु का रूप सबसे पहले है।

वर्तमान — में है : हम हू : तू है : तुम हू : वह है। इने हू।

भूत — में हुआ : हम हुए : तू हुए : वह हुआ : इने हुए

भविष्य — में हूँगा : हम हूँगे : तू हावोंगा : तुम होवोंगे :

करता : करते : करता था : करते थे : कर चुका : कर चुके।

छः — पाँच धातुओं के रूप भी प्रदर्शित किए गए हैं।

(१) ख — धातु — खाता, खाते, खाता था, खाते थे, खाया, खाये दो प्रकार के भविष्यकाल — खाऊँगा, खाउँगे खाविगा, खाविगे।

अनुज्ञा — तू, तुम खाओ।

(२) पी — धातु — पीता, पीते, पिये थे, पिये था, पिया, पिये पिये था, पिये थे, पिऊँगा, पिऊँगे।

(३) गाना — धातु — गावता, गाइया, में गावता था चुका गावोंगा, तू गाव, गाव ना।

(४) हँस धातु — हँसते, हँसता था, हँसा, हँसे, हँसोगा।

क्रियापदों के रूप, प्रयोग, दृष्टांत—

तद में खाय चुका; में नमाज कर चुका; में सच बोल चुका था; में लड़ूगा; में समझताऊँगा; में जीऊँगा; में लिखता।

कर्मवाच्य की क्रिया में सर्वनाम मुझे और तुझे का प्रयोग

मुझे प्यार करते ; तुझे पकड़ता है ; एक को फुसलावते ; हमको दिलासा देते ; तुमको जलाया ; जर में कपड़र पहने हुआ ; जद में मूआ हुआ ; जद तू खड़ा हुआ ; जद व्याह करा हुआ ; जद हम पुकारे हुए। ईसाई धर्म के कुछ उपदेश और विनय देकर पुस्तक समाप्त की गई है। उपदेश की भाषा दर्शनीय है।

जुम्मा का दिन तुम याद और साफ राखे छे दिन तुम काम और तुम्हारे खेजमत करो, वारे कि सातमी दिन है खुदा साइब तुम्हारे अल्लाह का, तद तुम मत काम करो, तुम और तुम्हारे बेटा, और तुम्हारी बेटी, और तुम्हारी लौंडी, और तुम्हारे जानवर और तुम्हारे मुसाफर, वह हमारे तुम्हारे दरवाजे में है, वास्ते छे दिन में खुश आसमान ओ जमीं बनाया, दर्या और सबके अंदर है: और सुस्ताई सातमी दिन, इस वास्ते साहब नाम रखे, और इन्हें साथ रखते। इसके बाद फारसी व्याकरण फारसी हरफों में है।

सन् १६७५ के पश्चात् हिंदुस्तानी भाषा का एक व्याकरण सन् १७४५ में शूल्ज नामक किसी यूरोपीय विद्वान् ने लिखा थी जिसका उल्लेख एशियाटिक सोसाइटी की प्रोसीडिंग्स में मिलता है।[१]

केटेलर के समान अन्य विदेशी विद्वानों ने अपने देशवासियों को हिंदुस्तानी भाषा का ज्ञान कराने तथा राजनीतिक क्षमता की वृद्धि के उद्देश्य से कई व्याकरण बनाए और मुद्रित किए। केटेलर के व्याकरण के उपरांत हिंदुस्तानी व्याकरण की जैसे झड़ी लग गई और पचासों व्याकरण के ग्रंथ छापे गए और उनमें कुछ व्याकरण बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त कर सके और उनके आठ आठ, दस दस संस्करण भी निकले जो व्याकरण की लोकप्रियता का परिचायक है। इन व्याकरणों में जार्ज हैडले[२], शेक्सपियर[३], विलियम येट्स[४] मोनियर विलियम्स, जेम्स बेलेनटाईन के व्याकरण

१. प्रोसीडिंग्स आव एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल, १८६१।

२. जार्ज हैडले ग्रैमेटिकल रिमार्क्स आन द प्रैक्टिकल एंड वल्गर डाइलेक्ट आव द हिंदुस्तानी लैंग्वेज १७७२, १७७४, १७८४, १७९०,१८०१,१८०४, १८०९।

३. जान शेक्सपियर—ए ग्रामर आव हिंदुस्तानी लैंग्वेज १८१३, १८१८, १८२६, १८४१, १८५८।

४. विलियम मारेस इंट्रोडक्शन आव द हिंदुस्तानी १८२८, १८४३,१८४७,१८५५।

के अनेक संस्करण उपलब्ध हुए हैं। ये सभी संस्करण लंदन से प्रकाशित हुए जिनमें अंतिम तीन संस्करण लखनऊ के मिरजा मुहम्मद फितरत द्वारा परिमार्जित और शुद्ध किए गए हैं।

विलियम शेक्सपियर और येट्स द्वारा लिखित व्याकरण के ६ संस्करण हुए हैं और सभी लंदन से। मोनियर विलियम्स और बैलनटाइन द्वारा रचित व्याकरण के दो संस्करण हुए हैं। इन्होंने ब्रजभाषा का भी एक व्याकरण लिखा है। जौन गिलक्राइस्ट साहब का सन् १८६० हिंदुस्तानी व्याकरण तथा रोएबेक का सन् १८१०का अंगरेजी और हिंदुस्तानी व्याकरण जो फोर्ट विलियम कालेज में शिक्षार्थियों को पढ़ाया जाता है और टेलर के अनुसार उस युग का सर्वोत्तम व्याकरण समझा जाता था। उनके अतिरिक्त लवेडफ[१] का व्याकरण, पादरी रोजम साहब का हिंदी व्याकरण जो हिंदी में लिखा गया था तथा फोरब्स और डनकन[३] का हिंदुस्तानी भाषा का एक व्याकरण है जो लंदन में मुद्रित हुआ तथा जिसकी एक प्रति कलकत्ता के पुस्तकालय में जीर्ण शीर्ण अवस्था में पड़ी है और उल्लेखनीय है। एथरिंगटन साहब का व्याकरण अंगरेजी भाषा में लिखा गया किंतु वह अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ तथा बहुत लोकप्रियता प्राप्त कर सका। केलाग के हिंदी व्याकरण के भी अनेक अनुवाद हुए हैं और ग्रंथ की लोकप्रियता आज भी है।

जब शिक्षा के प्रचार और विकास के कारण व्याकरण के निर्माण में प्रगतिशीलता आई, शिक्षाधिकारियों ने अच्छे व्याकरण की आवश्यकता का अनुभव किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ऐडम साहब का हिंदी भाषा व्याकरण (प्रश्नोत्तरी के रूप में) स्कूलों में अध्ययन के लिये निर्वाचित किया गया। पर बाद में भारतीय विद्वानों का ध्यान इस ओर गया तथा अनेक अच्छे व्याकरण निर्मित हुए।

इस प्रयास का प्रथम श्रेय बिहार के पं० श्री लालजी को है जिन्होंने सन् १८५६ में 'भाषाचंद्रोदय' की रचना की। सन् १८५८ में रामजसन पंडित ने भाषा-तत्व-बोधिनी नामक व्याकरण की रचना की जो उत्तर प्रदेश के

१. मोनियर विलियम्स—ए प्रैक्टिकल हिंदुस्तानी ग्रामर १८६८, १८७६।
२. जेम्स आर बैलेन्टाइन—ग्रामर आव द हिंदुस्तानी लैंग्वेज १८३८, १८३४, १८६८।
३. हिंदुस्तानी ग्रामर १७६०।
४. द इंग्लिश ऐंड हिंदुस्तानी डिक्शनरी ऐंड ग्रामर प्रेफिक्स्ड, १८१०।
५. एथेरिंगटन भाषाभास्कर।
६. फार्बेस ऐंड डंकन—ए ग्रामर आव हिंदुस्तानी लैंग्वेज।

स्कूलों में काफी चली।[1] श्री नवीनचंद्र राय ने अपने 'नवीनचंद्रोदय' में एक 'उर्दू मार्तंड' नाम के व्याकरण का उल्लेख किया है। इन्हीं के अथक उद्योग से पंजाब विश्वविद्यालय में प्रोफिशिएन्सी और हाई प्रोफिशिएन्सी नाम की परीक्षाएँ हिंदी में नियत हुईं। उन्हीं परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के लिये सन् १८६८ में 'नवीनचंद्रोदय' का जन्म हुआ।"[2] इसकी विशेषता यह थी कि इस व्याकरण में, जिसमें तत्सम शब्द के लिये नियम भी दिए गए हैं। एथरिंगटन साहब ने भी पं० विष्णुदत्त जी की सहायता से भाषाभास्कर प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त उन्नाव उच्च शिक्षा विद्यालय के हेडमास्टर ने शब्दप्रमाणिका नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा, जो नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से मुद्रित हुआ।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के हिंदी-व्याकरण-निर्माण के उपरांत दो परंपराएँ मिलती हैं। एक में हिंदी और उर्दू को एक माना गया है और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने हिंदी को पूर्ण स्वतंत्र भाषा मानकर व्याकरण रचे। बिहार-बन्धु प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८७७ में अयोध्याप्रसाद खत्री ने एक व्याकरण प्रकाशित कराया जो दोनों भाषाओं का मिला जुला व्याकरण था। इसके पाँच खंड हैं—वर्णविचार, शब्दविचार, वाक्यविचार, चिह्नविचार और छंदविचार। सन् १८८५ में बाबू रामचरण सिंह ने खड्गविलास प्रेस से भाषाप्रभाकर नामक व्याकरण प्रकाशित किया था। यह ग्रंथ विशुद्ध हिंदी का व्याकरण है। लेखक ने ग्रंथ की पादटिप्पणी में लिखा है 'इस हिंदी भाषा से लोग यह न समझें कि मुसलमानों की नष्ट की हुई भाषा, जिसे उर्दू कहते हैं, वही यहाँ पाई गई है। नहीं, कदापि नहीं। उस भाषा का मूल संस्कृत से कोई प्रधान संबंध नहीं रखता। परंतु और भाषाओं से अनेक प्रकार का शब्दसंग्रह करके भी वह उस फारसी और अरबी के बल से स्थिर है, जो नितांत विदेशी भाषा है। इसलिये उस त्याज्य भाषा का नियम कहना 'भाषाप्रभाकर' का उद्देश्य नहीं है।......[3]

भारतेंदुकाल में हिंदी और उर्दू के व्याकरण अलग अलग निर्मित हुए। सरस्वती के संपादन से एक नए युग का समारंभ होता है। इस युग के वैयाकरणों

१. यह 'व्याकरण' श्रीमान अति दयावान नारद पाठशालाध्यक्ष क्रेशप साहब की आज्ञा से रामदीन पंडित ने बनाया और जो बनारस नारमल कालेज में छापी गई (१८६६ में)।

२. हिंदी शब्दानुशासन, पृ० ३।

३. काव्यानुशासन, पृ० ७।

में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को भूलना नहीं चाहिए, यद्यपि उन्होंने कोई व्याकरण नहीं लिखा था। भारतेंदुयुग की भाषा तद्भवप्रधान थी और उसका लक्ष्य उच्चारणसंमत था। द्विवेदी जी वस्तुतः उच्चारणसंमत के पक्षपाती न थे बल्कि वे व्याकरणसंमत भाषा के आकांक्षी थे। इसी उद्देश्य की पुष्टि के लिये उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक निबंध लिखा और पं० बालमुकुंद गुप्त ने उनकी प्रेरणा से कई लेख 'भारत मित्र' में लिखे। परिणाम यह हुआ कि भाषा को व्याकरणसंमत बनाने का श्रीगणेश हुआ। इस काल के व्याकरण रचयिताओं में महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, शीतलप्रसाद त्रिपाठी,[1] दामोदर सप्रे, केशवराम भट्ट जी के व्याकरण भी काफी प्रसिद्ध हुए।

भारतेंदुयुग और द्विवेदीयुग में व्याकरण की एक नव्य पीठिका तैयार हो चुकी थी। इस काम में ना० प्र० सभा, काशी का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। सभा ने बाबू गंगाप्रसाद और बा० रामकर्ण शर्मा से व्याकरण लिखवाए किंतु उनके ग्रंथ चल नहीं सके। फलतः आचार्य द्विवेदी और माधवराव सप्रे के अनुरोध से पं० कामताप्रसाद गुरु से व्याकरण लिखवाया गया, जो अब तक एकदम प्रामाणिक और उत्तम व्याकरण पाया जा रहा है। इस व्याकरण का प्रकाशन होने के पूर्व एक व्याकरण 'हिंदी कौमुदी' अंबिकादत्त व्यास ने भी प्रकाशित किया था परंतु वह भी चल नहीं सका और आज तक गुरु जी का व्याकरण अपने आपमें एक है।

ना० प्र० सभा द्वारा व्याकरण लिखवा देने के बाद भी पचासों व्याकरण आज हिंदी में मौजूद हैं। किशोरीदास वाजपेयी ने तीन व्याकरण लिखे हैं[3]। प्रो० नलिन,[4] प्रो० वासुदेव,[5] अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी[6] आदि के सैकड़ों व्याकरण ग्रंथ बन चुके हैं और बनते जा रहे हैं।

❀

१ स्वतंत्र हिंदी व्याकरण।

२ दि एलिमेंटरी ग्रामर आव हिंदी एंड उर्दू, १६०६

३. ब्रजभाषा का व्याकरण, राष्ट्रभाषा का व्याकरण, हिंदी शब्दानुशासन।

४. हिंदी रचनाकोष।

५. आधुनिक हिंदी व्याकरण।

६. अभिनव हिंदी व्याकरण।

पौराणिकी

[इस स्तंभ के अंतर्गत ऐतिहासिक महत्त्व की अप्रकाशित मूल सामग्री का प्रकाशन किया जाएगा। इस अंक में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुछ पत्र सभा संग्रह से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ऐसी सामग्री इस स्तंभ के लिये आमंत्रित हैं।]

[१]

१६५८

श्री प्रयाग
२०-४-०६

प्रिय मित्र

जिस गद्य और पद्य प्रणाली का आप बलात्कार हिंदी में प्रचार करने पर आरूढ़ हुए हैं उसका मैं अपने तईं बहुत विरोधी पाता हूँ। मैं आपके इस मत को बिलकुल पसंद नहीं करता, हिंदी की उन्नति इससे कदापि संभव नहीं है। अफसोस है कि मुझे आपके खिलाफ लिखना पड़ेगा, परंतु मैं आशा करता हूँ कि आप बुरा न मानेंगे। मेरे लेख व्यक्तिगत आक्षेपों से रहित होंगे और भा० मि० अथवा किसी दूसरे पत्र में छापे जायंगे, क्योंकि आप लिखी चुके हैं कि आपके मत के विरुद्ध लेख सरस्वती में न छप सकेंगे। अभी तो मैं बीमार हूँ; अच्छा होने पर शीघ्र ही इस विषय को हाथ में लूँगा—

कृपापात्र

श्रीधर पाठक

कार्ड का पता

Pandit Mahavir Prasad Diwedi
Editor "Saraswati"
J U H I, cawnpore

यह पत्र गिरिधर पाठक, ४ प० खुसरोबाग, प्रयाग से प्रकाशित सूक्ति कार्ड पर लिखा गया है जिसके एक ओर पता लिखने का स्थान छोड़कर कुछ पुस्तकों के विज्ञापन और कुछ सूक्तियाँ मुद्रित हैं। पत्रसंख्या द्विवेदी जी द्वारा अंकित है।

कार्ड पर मुद्रित विज्ञापन की पुस्तकें—

सरस कविता

एकान्तवासी योगी	=)
ऊजड़ ग्राम	॥)
श्रांत पथिक	।=)
मनोविनोद (१म खण्ड)	॥)
मनोविनोद (२य खण्ड)	।)
काश्मीर सुखमा	=)
सूक्तिकार्ड (विविध उपदेशमय) १००	।=)

कार्ड पर मुद्रित सूक्तियाँ

"जो तनमन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है।

सारी वसुधा का क्रम क्रम से सर्वस उसको मिलता है।

"योग्यता उपेक्षित रहती है, विज्ञता अनादृत होती है।

आपस का नेह नष्ट जाने से शिष्टता भ्रष्ट होती है।"

"बुद्धि को अपने काम में लाओ है मनुष्य है बुद्धि-निधान।

गिरधर पाठक,

४ प० खुसरो बाग, प्रयाग।

[२]

आजमगढ़

२७-३-०६

सज्जनवर!

दुःख है कि आपका कृपापत्र मिलने पर भी मैं आज तक कविता को समाप्त करके सेवा में न भेज सका। आज कल यहाँ ऐसी हलचल है कि किसी काम में जी नहीं लगता—और इसी से विलंब हो रहा है। तथापि अब जहाँ तक शीघ्र हो सकेगा मैं उसको समाप्त करूँगा।—आप विलंब को क्षमा करें।

गऊघाट, मिर्जापुर काटकर Juhi P.O. Cawnpore

पता लाल स्याही से लिखा है।

भवदीय

अ० सिं०

कार्ड का पता

श्रीयुत बाबू काशीप्रसाद

करकमल

गऊघाट

मिर्जापुर

Mirzapur

[३]
१६६०

आजमगढ़
६-५-०१

मान्यवर !

प्रणाम;

कृपा कार्ड आया, इस कार्ड के अंतिम पैरे का यह वाक्य पढ़कर कि 'आज्ञा हो तो हम नोटिस दे दें कि आज से हमारे पक्ष में कोई कुछ न लिखे,' मैं दुखी हुआ। इसलिये दुखी नहीं हुआ कि आपने मुझपर कटाक्ष किया है—वरन इसीलिये दुखी हुआ कि इच्छा न होने पर भी मुझसे कोई ऐसा वाक्य लिख गया है कि जिस कारण आपको ऐसा लिखना पड़ा। यदि भ्रम और प्रमादवश भी मुझसे कोई ऐसा वाक्य लिख गया है, तो उसके लिये मैं लज्जित हूँ और आपसे क्षमाप्रार्थना करता हूँ।

अ० सिं०

कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का द्विवेदी जी के नाम है। द्विवेदी जी के हाथ से इस पर उसका अंकित है।

कार्ड का पता
श्रीयुत् पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी
करकमल
स्थान जूही
कानपूर

[४]
१६६४

Controversy

मिर्जापुर
१०-३-०६

प्रिय पं० जी,

होली का संमिलन और प्रणाम। 'प्रेमघन' चौधरी का उपनाम है उनकी एक कविता 'राघवेंद्र' में छपी है। नहीं मालूम कौन वह राघवेंद्र हमारे पास आया नहीं लेकिन जहाँ तक चौधरी की जबानी मालूम हुआ वह उनकी किसी कविता की नकल है जिसे उन्होंने इधर छापी है।

आपका
का० प्र०

पत्रसंख्या और ऊपर अंग्रेजी में 'कंट्रोवर्सी' शब्द द्विवेदी जी ने लिखा है। पत्र उनके यहाँ छप कर पुनर्प्रेषित किया गया है।

कार्ड का पता
Pt. Mahavir Prasad Dwivedi
Dowlatpur
P. O. Bhojpur
Rai Bareili

[५] नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
१७१७ ता० १८ दिसम्बर १८९७ ई०

मानवीय महोदय,

आपका कृपापत्र झाँसी के हस्ताक्षर सहित मिला, अनुगृहीत किया—मैं अनेक सांसारिक उलझावों के कारण उत्तर न दे सका क्षमा कीजियगा।

आप ऐसे भाषा के कवि और विज्ञ महोदय के सभा में न सभासद रहने से सभा में बड़ा अभाव है, क्या मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि यदि कोई कारणविशेष न हो तो आप सभ्यों की नामावली को अपने नाम से सुशोभित करें, केवल आप ही सरीखे गिने सज्जनों ही से तो कुछ इस कार्य में सहायता की आशा है नहीं तो शेष लोगों की दशा आपसे छिपी नहीं है।

यदि अवकाश हो तो पत्रिका के लिये कोई गद्य या पद्य लेख भेजिए। मेरे योग्य कार्यों और कुशलसमाचार से सदा स्मरण करते रहियेगा।

भवदीय
श्री राधाकृष्ण दास

पत्र द्विवेदी जी को संबोधित है और नागरीप्रचारिणी सभा के शीर्ष-मुद्रित कागज पर लिखा गया है। पत्र-संख्या द्विवेदी जी के हाथ की है।

[६)
१७२० १८२१

श्री वेंकटेश्वर प्रसन्न
श्री वेंकटेश्वर प्रेस—मुंबई
प्रे- नं० ६३३६ ता० ११-६ स. १८९८
श्रीयुत पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी
सुपारी बाजार, झाँसी

मान्य महाशय,

आपका कृपापत्र ता० ३।३।९८ का मिला पूर्णाशय जान प्रसन्नता भई उत्तर में सादर निवेदन है कि—

पेपर के विषय जो ६।।≈ का तकाजा आपसे किया गया सो वास्तव में भूल से किया गया है क्षमा करना—अब आपसे दाम न मांगा जायगा—यदि ताजी चुटपुटो खबरें भेजते रहिए तो कृपा होगी।

आपका कृपाभिलाषी—खेमराज श्री कृष्ण दास,
श्री वेंकटेश्वर प्रेसाध्यक्ष
खेतवाडी—मुंबई

इस पत्र में रेखांकित अंश लाल रंग में मुद्रित है। कागज के दोनों ओर लाल रंग का बार्डर भी मुद्रित है। शीर्ष की पत्र-संख्या द्विवेदी जी द्वारा दी गई है।

(पत्र की दूसरी पीठ पर)

बा० रामदास को तो आप अच्छी प्रकार जाने रही है यहाँ भी अपनी कीर्ति फैलाने में कसर नहीं रक्खी—यहाँ योग्य काम काज सदैव लिखावें और कृपादृष्टि रक्खें।

भवदीय शुभचिन्तक
(ह०) खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष, श्री वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई

[७]

१७२१

'Bharat Kirt office,
P. O. Girgaon
Bombay the 17th Octo. 1898

श्रीमान् पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, झाँसी

मान्यवर !

आपको यह समाचार सुनकर वास्तव में आश्चर्य हुआ होगा कि मैंने अनुमान एक मास हुआ श्री वेंकटेश्वर समाचार के संपादक का पद त्याग कर दिया है। अब मैंने 'भारतकीर्ति' नामक एक स्वतंत्र मासिक पत्रिका का यहाँ से प्रकाशन करने का दृढ़ विचार ठान लिया है। आप इस विषय को स्वयं भी स्वीकार करेंगे कि साप्ताहिक पत्र की अपेक्षा हिंदी में एक उत्तम मासिक पत्रिका की कितनी आवश्यकता है।

मैंने श्री वेंकटेश्वर प्रेस क्यों छोड़ा, बस इसे कुछ न पूछिए। उसे कहने में मेरी कृतघ्नता प्रमाणित होगी। किसी अवसर पर यह प्रगट कर दूँगा। बंबई नगर में बैठकर मुझ सरीखे असहाय पुरुष के लिये मासिक पत्र भी प्रकाशित करना कितना गुरुतर विषय है जिसे आप भलीभाँति समझ सकेंगे पर मैंने यह साहस केवल आप ही सरीखे कृपालु मित्रों की सहायता की आशा पर किया है। बस अब इसका निर्वाह आप ही के हाथ है।

क्या आप अनुग्रहपूर्वक हमारी मासिक पत्रिका के आनरेरी सहकारी संपादक का पद स्वीकार कर हमें बाधित करेंगे? कृपा कर लिखियेगा।

यहाँ के योग्य कार्य से आपका सच्चा मित्र आज्ञा बाधित करते रहियेगा।

आपका मित्र
रामदास वर्मा

यह पत्र शीर्ष मुद्रित कागज पर लिखा गया है। पत्र संख्या द्विवेदी के हाथ की है।

श्री वेंकटेश्वर प्रेस के संबंध में मुझसे जो कुछ अपराध बन पड़ा हो वह क्षमा के योग्य है क्योंकि मैं परतंत्र था।

[८]

१७२२

१७२२ 'भारतकीर्ति' कार्यालय, पोष्ट गिरगाँव,

बंबई, ता २३-१०-१८६८

श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, झाँसी

महाशय !

कार्ड आपका मिला समाचार जाना—आपने लिखा कि 'हम आपकी पत्रिका के आनरेरी सहकारी संपादक होने के सर्वथा अयोग्य हैं'—

प्रिय मित्र। मैं समझ नहीं सका कि इसका तात्पर्य क्या है? इतना मैं आपके इस कथन से अवश्य समझा हूँ कि आप मुझसे अप्रसन्न हैं—भाई अब तो अपराध क्षमा करो मैं आपका पुराना मित्र हूँ और आपको यह विश्वास दिलाकर कहता हूँ कि यह श्री वेंकटेश्वर प्रेस की नीति थी जिसने आप सरीखे परम योग्य मित्रों को मुझसे अप्रसन्न कर दिया। केवल आपके नाम मात्र से हमारी पत्रिका की प्रतिष्ठा होगी और मुझे अभी अभी आपके सारगर्भित लेखों द्वारा सहायता मिलते रहने के अतिरिक्त भाषा तथा देश का बहुत कुछ हित होगा अतएव मेरी प्रार्थना स्वीकार करने योग्य है।

आपने यथासंभव हमारा कामकाज करने को लिखा, इस हेतु हम आपके कृतज्ञ हैं और आपको अनेक धन्यवाद देते हैं।

अँगरेजी के नोट पेपर तथा लिफाफों पर आपने Bharat Kirt के स्थान में Bharat Kirti कर देने की अनुमति दी इस हेतु आपको धन्यवाद है। वास्तव में भूल रह गई है जो सुधार दी जायगी—

यहाँ के योग्य कार्य लिखते रहियेगा।

आपका मित्र
रामदास वर्मा

पत्रशीर्ष मुद्रित कागज पर लिखा गया है। लेखक ने एक स्थान पर भूल से 'कभी कभी' के बदले 'अभी अभी' लिख दिया है। पत्रसंख्या द्विवेदी जी द्वारा अंकित है।

[६]

१७३६ खंडवा

२१-३-९९

प्रियप्राया वृत्तिर्विनय मधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदम विपर्यासित रसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते।

—भवभूति।

प्रियवर

यों तो जब से आपकी कविता हमारे दृष्टिपथ में आती है तभी से आपकी सेवा में एक निवेदन करने की लालसा उत्पन्न हुई है पर इधर जब से पत्र द्वारा आपके साथ कुछ स्नेह हो गया है तब से हमारी उक्त लालसा विशेष दृढ़ हो गयी है। कई दिनों से विचार करते २ आज वह निवेदन करने का साहस करते हैं और भरोसा करते हैं कि आप हमारी चिरोचित लालसा को पूर्ण करने के हेतु यत्नवान हो यथाशक्ति बढ़ोरेंगे।

आप चाहें मानें चाहे न मानें पर हमें सुदृढ़ विश्वास है कि कविता के यथार्थ तत्व को आज दिन उत्तमता के साथ समझनेवाले हिंदी भाष

एक सादे कागज पर लिखा गया है। पत्रसंख्या द्विवेदी जी के हाथ की है।

के प्रेमियों में आप जैसे सहृदय बहुत ही थोड़े हैं और जो हैं वे भी स्वमत दूषित हैं। ऐसी अवस्था में यदि आप चाहें तो हिंदी पर एक विराट् उपकार कर सकते हैं अर्थात् उसके करने की शक्ति आपमें विद्यमान है। अब रहा उसका करना, सो आपके अधीन है। करें अथवा न करें।

अंग्रेजी, संस्कृत मराठी और भाषा के काव्य तथा काव्यनियम प्रधान ग्रंथों के पठन द्वारा आपने जो काव्यामृत पान-पटुता प्राप्त की है उसका साफल्य हम तभी समझेंगे कि जब आप डाक्टर जॉनसन् के कविचरित्र की नाईं हिंदी भाषा के कवियों की जीवनी तथा उनके ग्रंथों की यथार्थ समालोचना स्वरूप एक उपयुक्तग्रंथ लिपिबद्ध कर हिंदी भाषा को भेंट करेंगे। यह कार्य वास्तव में बड़ा प्रचण्ड कार्य्य भार है। पर यदि आप हमारी प्रार्थना पर विचार कर उसे स्वीकृत करेंगे तो आज दिन हिंदी भाषा की कविता में जो अव्यवस्था देख पड़ती है वह दूर हो जायगी और यथार्थ कवि तथा उनके गुणविशिष्ट ग्रंथों का परिचय सर्वसाधारण को अल्प प्रयास में ही हो जायगा।

'रसिकवाटिका' के द्वितीय भाग की ११वीं क्यारी के १६वें पृष्ठ में 'रसविवेचन' शीर्षक लेख तथा 'कोमल कोकिला' में 'तृ, दृ' के संयुक्ताक्षर माने तथा न माने जाने के प्रश्नोत्तर पढ़ परम प्रसन्नता हुई। अनुभव से बोध होता है कि संस्कृत के कवियों ने ऋ को स्वर ही माना है अतः तदाश्रित व्यंजन के पूर्वस्थ वर्ण को प्रायः गुरुता प्राप्त नहीं होने दी है। पर मराठी तथा हिंदी के कवियों ने इस मत का अनुधावन नहीं किया है एतद्भाषा छंदोग्रंथ के प्रणेतृगणों ने यह नियम बाँध दिया है कि जहाँ वर्ण पर आघात हो वहीं गुरुता मानी जाय अन्यथा न मानी जाय, यथा—

'शरद जुन्हैया मोदप्रद कान्ह कन्हैया राम' उक्त पद्य में यदि 'जु' और 'क' गुरु मानें जाँय तो छंदःशास्त्र की अवज्ञा कर उक्त अर्धाली में मात्रा की संख्या बढ़ी हुई पाई जाती है पर 'जु' और 'क' पर आघात नहीं होता अतः छंदोनियमानुसार उन्हें अगुरु मान उक्त अर्धाली शुद्ध मानी जाती है। सारांश संयुक्त वर्ण के भी पूर्ववर्ण का गुरु अथवा लघु होना उसके आघात पर निर्भर माना गया है।

समालोचनादर्श के देखने का अवकाश मिला हो तो उसकी सूचना दीजियेगा। पत्रोत्तर तो आप देवें होंगे। आज एक लंबा चौड़ा पत्र आपको लिख परिश्रम दिया है तदर्थ आपसे क्षमा प्रार्थी होते हैं।

भवदीय

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

[१०]

१७१७

२७-१-११

प्रियवर नमस्कार,

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। उसे पढ़ प्रसन्नता और खेद का आविर्भाव साथ ही साथ हुआ। प्रसन्नता का कारण आपका स्नेह संमिलित अनुग्रह है और खेद का कारण आपके नेत्रों का अस्वास्थ्य है। आपके इस नेत्रास्वास्थ्य को हम आपके देहप्रारब्ध का अभीष्ट फल न कहकर दुखिया हिंदी के मंदभाग्य का ही कारण मानेंगे।

आपने निज की योग्यता के विषय में जो कुछ लिखा है सो सब पंडित जी ने लिखा है। जो यथार्थ में पंडित होते हैं वे यह कदापि नहीं मानते कि हम पंडित हैं। वे तो सदा यही समझा करते हैं कि अमुक व्यक्ति हमसे अधिक ज्ञाता है। रमेशचंद्र दत्त वास्तव में महान् पंडित हैं और आपने अपनी जन्मभाषा की प्रशंसार्ह सेवा की है। पर हमने जिस समय आपसे प्रार्थना की उस समय हमारी दृष्टि के समीप केवल हिंदी की दशा विद्यमान थी। यदाकदा हिंदी के वर्तमान अभिभावक कहानेवाले लोगों का विचार करते समय हमें उक्त प्रार्थना के लिये आपही उचित दाता प्राप्त हुए। अब आपकी बहिरंग अवस्थाओं ने हमारी प्रार्थना स्वीकृत करने के लिये आपको असमर्थ कर दिया इसका कारण हिंदीपठित समाज की अरसिकता का उचित दंड कहा जा सकता है या बापुरी हिंदी का दुर्भाग्य माना जा सकता है।

अस्तुः

'केरल कोकिला' विषयक draft प्राप्त हुआ। अभी पढ़ने का अवकाश नहीं मिला है। पढ़के लौटा देंगे।

आपकी समालोचना भी प्राप्त हुई। वास्तव में हमें आपसे जितनी आशा थी उससे कहीं बढ़के आपने हमारा उत्साह बढ़ाया है। एतदर्थ हम आपके अत्यंत अनुगृहीत हैं और भरोसा करते हैं कि भविष्य में भी आप हमारा ऐसी ही कृपा की दृष्टि बनाए रखेंगे।

आपको परिश्रम तो होगा पर उससे हमें बहुत लाभ होगा। अतः सानुनय निवेदन करते हैं कि निबंधमालादर्श की भाषा जहाँ जहाँ उद्वेग-कारिणी हो गई है वहाँ वहाँ की सूचना उचित सुधार के साथ दे हमें बाधित कीजिएगा।

कृपा बनी रहे।

भवदीय
गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

पत्र द्विवेदी जी को संबोधित है। पत्र संख्या उन्हीं के हाथ की है। इस पत्र के साथ उत्तर के लिये द्विवेदी जी का एक नोट भी है जो रेलवे रजिस्टर के कागज के एक टुकड़े पर लिखा गया है।

द्विवेदी जी का उत्तर के लिये नोट

इस ग्रंथ में महाकवि भवभूति की यथार्थ जीवनी तथा उससे संबंध रखनेवाली लौकिक दंतकथाओं का सविस्तर उल्लेख देने के अनंतर इस बात का निर्णय किया है कि वह कालिदास का समकालीन था अथवा नहीं। इसमें कवि भवभूति प्रणीत मालती माधव आदि तीनों नाटकों की परमोत्तम आलोचना भर की गई है तथा इसके कवित्व के सब प्रसिद्ध गुण, यथा पदों का लालित्य, करुण रस की उद्दामता, सृष्टि के दृश्य और मानसिक वृत्तियों के विपाकादि विषयों के मनोहर वर्णन भी नितांत गंभीर एवं प्रसादसंपन्न भाषा में उदाहरणसहित किए गए हैं। यह ग्रंथ भी 'कालिदास' नामक ग्रंथ के समान हाथों हाथ बिका जाता है।

इस नोट में बहुत काट छांट हुई है।

[११]

१७८८

उपन्यास-मासिक-पुस्तक आफिस,

ज्ञानवापी, बनारस सिटी।
ता० २३-१२-१९०२

नं० ५...

महाशय

कृपा कार्ड पाया, मैंने बाबू गिरिजाकुमार घोष महाशय को अवश्य लिखा था। अप्पय दीक्षित की तो बात जाने दीजिए—आपने राजा लक्ष्मणसिंह के मेघदूत पर कुछ कहने के समय आदरणीय व्यक्ति का नामोल्लेख कहीं कहीं केवल—(पंडित किशोरीलाल) कहकर क्या नहीं किया है! क्या गोस्वामी शब्द के निकाल देने से कुछ लाघव हुआ? और क्या जो व्यक्ति जिस पोजीशन का हो, उसका उल्लेख तदनुकूल करना अनुचित है? आप निज लेख की लिखावट, जो हिंदी प्रदीप जि० २३ सं० ६ में है, देखें और यदि इस विषय में मैंने कुछ अयोग्य लिखा हो तो कृपा कर क्षमा करें।

भवदीय
श्री किशोरीलाल गोस्वामी

कार्ड का पता

श्री युत पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदीजी
Jhansi
झाँसी

यह पत्र उपन्यास पोस्टकार्ड नामक छोटे मुद्रित कार्ड पर लिखा गया है। इसके दूसरी ओर उपन्यास मासिक पुस्तक का विज्ञापन भी मुद्रित है। झांसी से 'झांसी' हस्तलिखित से संभवतः डाक विभाग द्वारा लिखा गया है। पत्रलेखक द्विवेदी जी के द्वारा ही नहीं है।

कार्ड पर मुद्रित विज्ञापन

"उपन्यास-मासिक-पुस्तक" को निकलते यह दूसरा वर्ष है, और बराबर हर महीने निकलती है। दाम दो रुपये साल डाक महसूल कुछ नहीं। 'हिंदी बंगवासी' आदि हिंदी के सभी प्रसिद्ध समाचारपत्रों ने इसकी तारीफ की है। यकीन न हो तो मँगाकर खुद देख लीजिए। नमूने का नंबर चार आने के टिकट भेजने से भेजा जाता है। लीलावती उपन्यास दाम सवा रुपया। प्रेममयी उपन्यास दाम तीन आने।

[१२]

१७६१

खड्गविलास प्रेस
बाँकीपुर
१४।१२।१९०२

पूज्यवर पंडितवर कविवर
महावीरप्रसाद द्विवेदी जी

झाँसी

प्रणाम—आपका कृपा कार्ड पाया। अत्यंत प्रसन्नता हुई। सरस्वती में आपका लेख भी प्रतिभावाला पढ़ा था। पण्डितवर प्रतापनारायण मिश्र जी के जीवनचरित्र मेरे यहाँ उनका लिखा हुआ कुछ है वह ब्राह्मण में छपा था इसमें से आप भी कुछ ले रहे हैं। कुछ चिट्ठियाँ और ब्राह्मण का पूरा फाइल मैंने पंडित प्रभुदयाल पांडेय को दिया था परंतु उन्होंने उनकी जीवनी नहीं बनाई और न कागजों को लौटाया। मैंने उनकी जीवनी लिखने को पं० प्रभुदयाल पांडे तथा शेठ बालमुकुंद गुप्त भारत मित्र के संपादक और सुदर्शन के संपादक पंडित माधव मिश्र को कहा है परंतु अब तक किसी ने नहीं लिखा। संभव है कि अब कुछ लिखा जाय।

हमने बाबू गोकर्ण सिंह को कहा है कि जो कुछ वस्तु उन्हें मिले प्रकाश कर दी जाये। उसके अनुसार छपना प्रारंभ हो गया है। एक फार्म कंपोज हो गया है। जो कुछ चिट्ठी है उसके छपने पर और जो कुछ बातें होंगी वह छप जायँगी। तब उनकी जीवनी बननी उचित है। एक अँगरेज ने भी कुछ लिखने को कहा है। फिर आप भी कुछ लिखेंगे तब जीवनचरित्र पूरा होगा। अब जीवनी की सामग्री इकट्ठी होगी। मेरी राय है कि तब आप लिखें।

पंडित अंबिकादत्त व्यास की जीवनी उनकी लिखी हुई छपी है। उनके बाप की जीवनी भी उनके हाथ की लिखी हुई छपी है। ये दोनों भेजता हूँ। संस्कृत कवियों की जीवनी भी जाती है। और ८ या १० जीवनी की पुस्तक (संस्कृत कवियों की) शीघ्र ही—छपकर मिलेगी।

पत्र सादे कागज पर लिखा गया है। पत्रसंख्या द्विवेदी जी के हाथ की है।

विद्याविनोद ६वाँ खंड आता है। शांकुतल भी आता है। आठ खंड और भी छपा है।

यदि उचित हो तो कृपा कर पत्रव्यवहार रखिएगा, यह मेरी प्रार्थना है।

समस्तीपुर से मुझे भी एक कार्ड मिला है परंतु उनके हाथ की जीवनी मेरे पास नहीं है। उनकी चिट्ठियों से बहुत कुछ बातें उनकी मालूम होंगी। मझौली के महाराजकुमार लाल खड्गबहादुर की जीवनी है।

ब्राह्मण के लिये मैंने प्रतिज्ञा की थी कि निकालूँगा परंतु खेद की बात है कि मैं उसे पालन नहीं कर सका। ५० ग्राहक होने पर भी उसे निकालने को मैं तैयार हूँ। उनकी लिखी और संग्रहीत बहुत सी पुस्तकें तय्यार है। संभव है कि ३।४ वर्ष क्या १० वर्ष तक ब्राह्मण चल सकता है। इस पर भी ध्यान रखियेगा। विशेष पत्र आने पर लिखूँगा।

आपका स्नेहाभिलाषी
रामदीन सिंह

❁

विमर्श

संत नामदेव की हिंदी पदावली : एक आलोचना

माताप्रसाद गुप्त

'संत नामदेव की हिंदी पदावली' नाम से एक बहुत उपयोगी और सुसंपादित कृति अभी निकली है, जिसके संपादक हैं, डा० भगीरथ मिश्र और डा० राजनारायण मौर्य और जिसका प्रकाशक है पूना विश्वविद्यालय। नामदेव हिंदी के अति प्राचीन संतों में से हैं, कबीर तथा परवर्ती प्राय समस्त हिंदी संतों पर उनका व्यापक प्रभाव रहा है और एक अन्य भाषाभाषी होते हुए भी अपनी मान्यताओं का प्रचार करने के लिये अपनी भाषा के अतिरिक्त उन्होंने हिंदी का भी आश्रय लिया, उनकी ये विशेषताएँ ऐसी हैं कि उनकी हिंदी बाणी का एक प्रामाणिक रूप प्रस्तुत होना हमारे शोध की बड़ी भारी आवश्यकता थी। बड़े हर्ष की बात है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से पूना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने इस आवश्यकता की पूर्ति की है और प्रशंसनीय ढंग पर की है।

ग्रंथ का प्रथम खंड भूमिका है जिसके अंतर्गत युगीन परिस्थितियों और संत नामदेव के जीवनवृत्त का निरूपण करते हुए प्राप्त संपादन सामग्री की परीक्षा की गई है और संपादन सिद्धांतों का निर्धारण किया गया है। द्वितीय खंड संत नामदेव की बाणी का है, जिसमें विभिन्न प्रतियों में प्राप्त उनके समस्त पदों और साखियों का निर्धारित पाठ पूरे पाठांतरों के साथ दिया गया है। परिशिष्ट में कठिन शब्दार्थ, सहायक ग्रंथसूची तथा नामानुक्रमणिका दिए गए हैं। इसलिये यह प्रकट है कि प्रयास को अधिक से अधिक पूर्ण और उपयोगी बनाने का यत्न किया गया है और इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये हमें पूना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का आभारी होना चाहिए।

नामदेव जैसे पुराने संत की बाणी विभिन्न पाठशाखाओं में जिनमें परस्पर संकीर्ण संबंध नहीं ज्ञात होता है—बहुत स्वल्प पाठभेद के साथ सुरक्षित रह सकी है, इस संस्करण से यह जानकर आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई। काश कि यही स्थिति कबीर आदि उनके परवर्ती संतों और भक्तों की बाणियों की भी होती।

इस सुंदर प्रयास को देखने के अनंतर निर्धारित पाठ और शब्दार्थ के संबंध में संशोधन के कुछ सुझाव देना आवश्यक प्रतीत हुआ है, जो नीचे दिए जा रहे हैं। प्राचीन रचनाओं के पाठ और शब्दार्थ के संबंध में मतभेद होना एक अति सामान्य बात है। पाठसंशोधन के सुझाव बहुत कम दिए जा सके हैं, क्योंकि विभिन्न पाठशाखाओं में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पाठांतर एक प्रकार से नाममात्र को ही है। शब्दार्थसंशोधन के सुझाव संख्या में कुछ अधिक हैं। किंतु जितने भी ये हैं, नीचे इसी दृष्टि से दिए जा रहे हैं कि कृति के योग्य संपादक और प्रेमी पाठक इनपर विचार करें

और इनमें से जो भी स्वीकार्य हों उन्हें स्वीकार करें।

पाठसंशोधन के सुझाव

(१) अर्थ धरम की कहा मोषि मागे।
दास नामदेव प्रेम भगति अंतरि जो
आगे ॥३.३

इसके पूर्व की पंक्तियाँ हैं :—
देव दानव जाहि संपदा करि मानै।
गोविंद सेवग ताहि आपदा करि
जानैं ॥ ३.२

'मोषि' के स्थान पर पंढर० में 'मोषीन' (मोषि न) पाठ है। मध्ययुग का भक्त मोक्ष भी नहीं माँगता है। तुलसीदास ने रामचरित-मानस' में यह बात बार बार कही है :

(१) अरथ न धरम न काम रुचि
पद न चहौं 'निरबान'
जन्म जन्म रति राम पद
यह बरदान न आन ॥ अयोध्या २ ४।
अति दुरलभ 'कैवल्य' परम पद।
संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अन इच्छित आवइ बरियाईं।
अस बिचारि जे परम सयाने।
मुकुति निरादर भगति लोभाने।
॥उत्तर० ११६।

और 'अरथ धरम की कहा' से प्रकट है कि आगे जो पदार्थ गिनाया जा रहा है वह इनसे भी महत्वपूर्ण होते हुए ऐसा ही हो सकता है जिसकी कामना न की जाय, फलतः पाठ 'मोषि न' होना चाहिए।

(२) रतन पारषूं मीरा रे।
'सुलमा' मंके हीरा रे ॥ २७ टेक ॥

बाद की पंक्तियाँ हैं—

संष पारषूं निरषी जोई!
बेरागर क्यूँ षोटा होई॥

'शंख के पारखी ने जो देखा तो [हीरे को खोटा बताया किंतु] बैरागर [का हीरा] कैसे खोटा हो सकता है?' यह भाव है बाद की पंक्तियों का। विवेच्य पंक्तियों में 'रतन पारखी' का साम्य उल्लिखित है, वह अवश्य ही शंख पारखी से भिन्न होना चाहिए, इसलिये 'सुलमा' के स्थान पर पाठ 'सुलमा' नहीं होना चाहिए, जो पंढर में मिलता है।

(३) अनिल बेडा बेरम बाचूं।
पार दे पार दे बीठला ॥ ३ ॥

'अनिल' अर्थहीन है, 'अनिल' के स्थान पर पाठ 'आनिले' पटि०, 'आनिदे' सभा, आंथि दे कुमार०, अनी (आनि) दे पंढर में मिलता है। इसलिये पाठ एक तो 'आनिले' या आनिदे' होना चाहिए। दूसरे, 'बेडा' पाठ संभवतः ग्रंथ० के आधार पर दिया गया है, क्योंकि जिन छह प्रतियों में यह पद मिलता है, उनमें से पाँच का पाठान्तर 'भेला' (जिनमें से एक में 'भेला' है दिया हुआ है। कबीर ने भी शब्द के 'भेला' ही रूप का प्रयोग किया है—

मेला' पाया श्रम (अप) सौं—
ग्रन्थावली, साखी १.७३

'भेरा देख्या जरजरा—
वही, १.२५

अतः 'भेला' पाठ अधिक प्रामाणिक लगता है।

(४) सहजै सुषमन लाग मंडल।
रह विधि निरतो पार्था ॥६५.१

इसके तीन ही चरण बाद आता है।
गगन मंडल में रहनि हमारी।
'सहजि' सुनि गृह मेला।

'सहज' और 'शून्य' का 'युग्म' कबीर में प्रायः मिलता है।

सहज सुन्नि में जिन रस चाखा—
ग्रंथावली, गौडी ७२।
सहज सुन्नि महँ रह्यो समाइ—
वही, भैरूं ४।
गंग जमुन के अंतरै सहज सुन्नि की घाट।
वही, साखी १०. ३।

और प्रथम चरण के 'सहजै' के स्थान पर पाँच प्रतियों में से—जिनमें पद पाया जाता है—तीन में 'संजम' (जिनमें से एक पंढर में उसका विकृत रूप सञ्जन' है) पाया जाता है। इसलिये पुनरुक्तियुक्त गृहीत पाठ के स्थान पर

पाठांतर के रूप में प्राप्त पाठ 'संयम' ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

शब्दार्थ संशोधन के सुझाव

हरि मांव आती हरि मांव पाँती।
हरि मांव इकझ जीवन में 'क्रांती' ॥१.१॥

'क्रांती' का शब्दार्थ किया गया है 'कांति परिवर्तन'। मध्ययुग में क्रांति शब्द 'कांति' के स्थान पर भी प्रयुक्त होता था, यथा :

सूरुज 'क्रांति' करा जस निरमल नीर सरीर
पदूमावत ४६८, ८:

सूरजी 'क्रांति' करा निरमली।
वही, ५८१. ६।

चमकहिं चंद्र 'क्रांति' आकार।
छिताई वार्त्ता ४५६। १।

सूर क्रांति' बरनी सुख जोती।
नलदमन २१.४।

'आईन ए-अकबरी' में भी 'सूर्यकांत' को 'सूरज क्रांत' कहा गया है। अंग्रेजी अनु० जिल्द १, पृ० ५०।

'जीवन क्रांति' के आधुनिक अर्थ में संत नामदेव ने शब्द का प्रयोग किया होगा, यह संदिग्ध लगता है, इसलिये मेरा सुझाव है कि 'कांतिवाले' अर्थ पर भी विचार किया जाए। 'जीवन में कांति' का आशय होगा जीवन में चेतना, ओज, दीप्ति आदि जोकि जीवन के अनिवार्य तत्व हैं।

नामदेव कहै मेरे क्रिसन सोई।
'कूंत मसाहति' करै न कोई ॥२.३

'कूंत मसाहति' का शब्दार्थ किया गया है 'तर्कवितर्क, मीनमेष'। 'कूंत का अर्थ होता है 'किसी परिमाण का अनुमान या अंदाज' और 'मसाहत' (अ०) का अर्थ होता है नाप-जोख। पद की टेक से प्रकट है कि उक्तियाँ 'खेती बारी' और 'धनसंपदा' से ली गई हैं।

राम नाम 'खेत' राम नाम 'बारी'।
हमारे 'धन' बाबा बनवारी ॥ २ टेक

इसलिये 'कूंत मसाहत' से 'अटकल और नाप जोख' का अर्थ लेना अधिक संगत होगा।

(३) लोक कहैं 'लोकाइ' रे नामा। १७ टेक

'लोकाइ' का शब्दार्थ 'निंदा करना, लोकापवाद' किया गया है, किंतु 'लोकाई' का अर्थ 'लोकप्रवृत्त होना' ज्ञात होता है।

(४) आगा पर नहिं चीन्हीला।
सो चित्त 'चितारै इहकीला ॥२० टेक

'चितारै' का शब्दार्थ किया गया है 'चारों ओर'। यह 'चितार' क्रिया है और 'ढोला मारूरा दूहा' में अनेक बार आया हुआ है।

कूंझां लाख वचांह ज्यउं,
खियाखियां 'चीतारेह' ॥ १६८. २।
चुगइ 'चितारइ' भी चुगइ,
चुगि चुगि 'चितारेह'।
कुरझो बचचा मेल्हि कर,
दूरिथका पालेह ॥ २०२॥

'चीतारंती' चुगतियाँ, कुंझी रोवहियाँह।
दूर हुँता तउ पालइ, अज न मेल्हइ हियाँह
॥ २०१ ॥

'चीतारंती' सज्जणाँ, नीद्दालंती भग्ग।
घण कुंझांह बचाहि जिउँ, झाँखा हुया पग्ग ॥ २०५ ॥

इस 'चितार' को 'चित' चिंता करना, याद करना से व्युत्पन्न किया गया है। 'चित्' का एक अर्थ ध्यान करना भी होता है। विवेच्य स्थल पर 'चित र्' शब्द का प्रयोग 'ध्यान करने' के अर्थ में ही किया गया ज्ञात होता है।

(५) नामदेव का स्वामी मानिले भगरा।
रांम रसांइन पीव रे 'भगरा'
॥२६, ३॥

'भगरा' का शब्दार्थ 'पागल, भांग पीनेवाला, भांग' किया गया है। यह 'भगरा' 'बराक' शब्द लगता है जिसका अर्थ 'अर्ध मनुष्य' या 'असंस्कृत व्यक्ति' होता है।

(६) साचे आचरि गोठि बिनासे।
'भाजै' हाड अभावै हासै ॥

'भाजै' का शब्दार्थ (म०) भाजणें जलना' किया गया है' यह 'भन्ज्-भूनना' से व्युत्पन्न न होकर 'भज्' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ

'टूटना' होता है। हड्डी तोड़ी जाने का ही मुहावरा है हड्डी जलाई जाने का नहीं।

(७) नामदेव कहै थे 'संष' सरापी।
पुंडरीनाथ न सुमिरै पापी॥

'संष' का शब्दार्थ 'मूर्ख' किया गया है। 'शंख' में ध्वनि कदाचित् उसके ऊपर से उजले किंतु भीतर से हाहाकारपूर्ण होने की है। कबीर ने इसी ध्वनि का उपयोग निम्नलिखित प्रकार से किया है—

रैंणाइूर (रैंणाईरः) बिछोहिया,
रहुरे संष मझूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी,
देसी ऊगे सूरि॥
॥ ग्रंथावली, साखी ॥ ३,२४

(८) राम 'जुहारि' न और 'जुहारों'
॥३०, टेक॥

'जुहारों' का शब्दार्थ 'याचना करूँगा, चाहूँगा' किया गया है। 'जुहारना' का अर्थ 'नमस्कार करना' होता है और शब्द उसी अर्थ में यहाँ प्रयुक्त भी हुआ है।

(९) हरि हैं हमची नावरी।
हरि उतारै 'पैली तिरी'॥३४, १॥

'पैली तिरी' का शब्दार्थ किया गया है 'उस पार'। किंतु यह शब्द 'पेलि तरी' का किंचित् विकृत रूप लगता है, जिसका अर्थ होगा 'तरी (डोंगी या नाव) को पेल (या खे) कर।

(१०) 'आरो मांडि' राम रटि लेहूँ।
औरे बिसारौं तौ रोइ देहूँ॥३८,३

'औरो मांडि' का शब्दार्थ 'ध्यानस्थ होकर' किया गया है। 'आरो' 'आ+रव' है जिसका अर्थ है 'आवाज'। 'आरो मांडि' का अर्थ होगा 'आवाज ऊँची कर'।

(११) राम राइ 'उलगू' और न जाचूं
॥ ३८, टेक ॥

'उलगू' का शब्दार्थ किया गया है '(म०) औलगें होकर'। 'उलगना-ओलगना' का अर्थ 'सेवा करना' और 'ऊलग' का सेवा' होता है और इसी अर्थ में यह प्राचीन साहित्य में बहुशः प्रयुक्त हुआ है।

कुलीय छत्तीसइ रे ऊलगइ'।
(बीसलदेव रास ६, ३)
'ऊलग' कइ मिसि गम करउं।
(वही १५,५)
लेइमरि घणीय किउं 'ऊलग' जाइ।
(वही, ३७, १)
ऊलग' जाण कहइ धणी कउण।
(वही ३६, १)
किणि दुष देवर 'ऊलग' जाइ।
(वही ४६, ६)
'ऊलग' जाण कउ घरउ कुसूत।
(वही ४८, २)
स्वामी 'ऊलग' जाण की घरीय जगीस।
(वही ६०, १)
सखीय हुणि कलिनाइ कोइ 'ऊलग'
जाइ। (वही, ६५, ६)
तिहि घरि 'ऊलग' काइं करेइ।
(वही ७४, ६)
'ऊलग' पुणि घरि आवियउ
भरतार। (वही १२१, १)
म्हाकउ वार्‌यउ तूं किउं 'ऊलगइ'
जाइ। (वही, १२५, ४)
पंथी एक संदेस डउ,
मल माणस नइ मरुख।
आतम तुम पासइ अछइ,
'ओलग' रूड़ा रक्ख॥
(ढोलामारू रा दूहा, ११४)

(१२) 'बीहौं बीहौं तेरी सबल माया।
६६, टेक

'बीहौं' का शब्दार्थ किया गया है 'बीठल', किंतु 'बीह' का अर्थ होता है 'भय खाना' कबीर ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

सूतक कूँ धरजौं नहीं' मेरा मन 'धीहै'।
बाजै बाव बिकार की, भी मूवा जीवै ॥
(ग्रंथावली, साखी २१)

(१३) डाइन डिंभ सकल जग 'खाधा'।

'खाधा' का शब्दार्थ किया गया है 'नष्ट किया'। 'खाधा' प्राकृत 'खद्ध' है, जिसका अर्थ होता है 'खाया' या 'खाया हुआ'। कबीर ने शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

संसै खाया सकल जग,
संसा किनहु न 'खद्ध'।
जे बेधे गुरु अक्खिरां,
ते संसा चुनि चुनि 'खद्ध' ॥
(ग्रंथावली, साखी १, २२)

(१४) कंपे पीर पैकंबर देव
रिसि कंपै चौरासी 'जेव'।
४४.२

'जेव' का शब्दार्थ 'जितने' किया गया है। किंतु 'जेव' 'एव' का ही प्राकृत रूप है। देखिए 'पाइअ सद्द महण्णवो':

(१५) भगति न आवै तौ तन 'आडौं':
कोटि करै तो भगति न छाडौं ॥
४६.१

'आडौं' का शब्दार्थ किया गया है 'नष्ट करूँगा' हठ करना। किंतु इसके ठीक उलटे 'आडना' का अर्थ होता है 'रखना', 'रोकना', 'रक्षा करना'।

(१६) 'बोलिधौं' निर्वाणी पद राम नाम।
ठाली जिभ्या कौणे है काम ॥
५६. टेक

'बोलिधौं' का शब्दार्थ दिया गया है 'बोलूँगा। कहूँगा'। किंतु 'बोलिधौं' में दो शब्द हैं—'बोलि' तथा 'धौं'। 'बोलि' 'बोल' क्रिया का विधि रूप है — 'तू बोल', 'धौं' ब्रजभाषा का चिरपरिचित अव्यय है।

(१७) आणिलै केसरि 'सूकडि' समसरि
बाल गोविंदहि पोखि रचूं।
पहली बास भुवंगम लीन्ही
जूंठयि मैला कांइ करूं ॥११.१

'सूकडि' का शब्दार्थ (म०) 'मिट्टी का एक पात्र, सुगड' किया गया है, किंतु यह 'शुक्ल चंदन' का पर्याय है, चंदन की ही वासना भुजंग ने लेकर उसे जूठा कर रखा है, 'केसर' से तो भुजंग का कोई संबध होता नहीं है। शब्द का इतिहास कदाचित है : सुकड—सुक+डा=शुक्ल (चंदन)। 'समसरि' का अर्थ है बराबर बराबर मात्रा में। अतः पहले चरण का अर्थ होगा 'केसर और शुक्ल (श्वेत) चंदन बराबर बराबर लाकर बालगोविंद के (मस्तक पर) तिलक लगाने की सामग्री निर्मित करता हूँ।'

(१८) भीतरि मैला 'धूतिग' फिरै
क्यूं उतरै भव पार ॥ ६४. टेक

'धूतिग' का शब्दार्थ 'गंदा' किया गया है। किंतु 'धूतिग' कदाचित 'धाव्' धातु से है जो प्राकृत में 'धुव' या 'धुव' हो जाती है और अर्थ होगा 'धोया हुआ'। चरण का आशय होगा 'जो (ऊपर से) धोया हुआ फिर रहा है और भीतर से मैला है, वह भव के पार कैसे उतर सकता है?'

(१९) सींगी जटा बिभूति लगावै।
'संबर' सिध कहावै है ॥ ६७.२

'संबर' का शब्दार्थ किया गया है 'म० सौ० बार'। यह 'संबर' संभवतः 'सैंबर-सेमल-शाल्मली' है। शाल्मली का वृक्ष फूलने पर अपने वर्णसौंदर्य में अद्वितीय होता है। 'सेमल सिद्ध' से तात्पर्य इसी प्रकार की 'रंगी हुई वेश भूषा के सिद्ध' से है।

(२०) देवा नाग्री को तनमन
'बाँसा' बरता माँहिरे।

'बाँसाँ' का शब्दार्थ किया गया है 'बसता है, रहता है'। 'बाँसां' संज्ञा है और 'बास-वास' का बहु० है जिसके साथ 'माँहि' विभक्ति उसी प्रकार लगी हुई है जैसे 'बरतां' बरत-व्रत के बहु० के साथ। इस 'बास' का आशय तीर्थादि में 'वास' है, प्रयाग में माघ में एक मास

तक जो 'वास' किया जाता है वह कल्पवास कहलाता है।

(२१) मृग खेत बिभूका देखै।
मैचकि मैचकि पेखै॥
निकट गया सुधि पाई।
'अडवा थै' कहा डराई॥ ७२.३

'अडवाथै' का शब्दार्थ 'व्यर्थ में' किया गया है। 'थै' तो 'ते' 'से' है ही, 'अडवा' है 'अद्‌-व-अद्रव्य = अवस्तु, वस्तु का अभाव'। खेत में जो बिभूका (धोखा) खड़ा किया जाता है वह इसी प्रकार का 'अद्रव्य' होता है।

(२२) 'महणारंभ' होत घट भीतरि।
रवि ससि नेत बिलोके॥ ७४.२

'महणारंभ' का शब्दार्थ 'नाद' किया गया है। यह है 'मथन रंभ = मथन का वृहद् आयोजन'। यथा:

नीर होइ तर ऊपर सोई।
'महनारंभ' समुंद जस होई॥
(पद्‌मावत १५९.४)

धरती लोखी कुरंभ खरभरा।
'महनारंभ' समुंद मह परा॥
(वही, ४६९.३)

(२३) मनसा को दरस परस।
गुरु थैं 'गम' होई॥ ७७.२

'गम' का शब्दार्थ 'संतोष, शांति' किया गया है, यह 'गम' अरबी 'गम' नहीं है, 'शांति' के अर्थ में प्रयुक्त सं० की 'शम्' धातु से व्युत्पन्न है।

(२४) सजीवन मूरि सोई 'नटारंभ' संगि गाई।
राम नाम बिन नाहीं आन उपाई॥
८३.२

'नटारंभ' का शब्दार्थ किया है 'सृष्टि के आरंभ का नद' — आशय कदाचित् ईश्वर से है। 'नटारंभ' है 'नाटारंभ — नृत्य अथवा अभिनय का वृहद् आयोजन'।[1]

पहले चरण का अर्थ होगा 'वही संजीवनी मूल है। इसलिये उसका गान नृत्य का विशाल आयोजन करके सोत्साह कीजिए।

(२५) जल सींचें करि जतन 'प्रवालै'।
आंब बबूल न फलही रे नर॥ ६२, टेक

प्रथम चरण का अर्थ किया गया है। 'यत्न करके मूँगे के पानी से सींचे'। 'मूँगे का पानी' कोई होता नहीं है। 'प्रवालय्' कदाचित् है 'प्रपालय्' = पालना, पालन पोषण करना। आशय होगा 'बबूल को जल से सींचा जाए और यत्न करके पाला पोसा जाए तो भी वह आम नहीं फल सकता है।'

(२६) आव कलंदर केसवा।
धरि 'अवदालव' मेष बावा॥
९४ टेक

'अवदालव' का शब्दार्थ किया गया है 'साधु या फकीर जैसा', किंतु 'अवदालव' है अवदालिय — अवदालित = विकसित, विजृंभित' (दे० पाइय सद्द महण्णवो)

(२७) अवखा को बल कहा गुसाईं।
परतषि 'जाइ न पेली'॥ ९६, टेक

'जाइ न पेली' का शब्दार्थ किया गया है 'सही नहीं जाती है'। 'पेलना' है 'प्रेरय् = ठेलना, हटाना।

आपुहुँ तात बचन मैं पेली।—मानस
यह सिद्धांत अपेल।—मानस

अतः 'जाइ न पेली' का अर्थ होगा' हटाई या मिटाई नहीं जा सकती है'।

---

१. 'पुरातन - प्रबंध - संग्रह' (भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित) के 'पृथ्वीराज प्रबंध' में पृथ्वीराज के एक घोड़े का नाम 'नाटारंभ' बताया गया है जो रणवाद्यों को सुनकर नाचने लगता था और जिसके नृत्य में पृथ्वीराज को युद्ध का स्मरण नहीं रहता था। (पृ० ८७)

(२८) किन हूँ तुम 'हरिकारी' कीन्हीं।
बिथा और नहीं ब्यापी ॥६६,२

'हरिकारी' का शब्दार्थ किया गया है 'औषधि, दवा'। 'हरि'—'हड' है 'काठ की बेड़ी (दे० पाइम सद्द महण्णवो), इसलिये हरिकारी करने का अर्थ होगा 'बंधन या दासता में डालना।'

(२६) राज सभा मिलि मत्र उपायो।
बालिक बुधि 'घणेरी' ॥११८, १

'घणेरी' का शब्दार्थ किया गया है 'गहरी'। 'घणेरा' है 'घना', 'सघन'।

(३०) दिवस चारि का 'गोवलि' बासा।
तामे तोहिं क्यों आवे हासा॥
१२२.१

'गोवलि' का शब्दार्थ किया गया है 'अस्थाई, दोपहर में गायों के ठहरने की जगह'। 'गोवल' है 'गोकुल'। इस 'गोकुल' से कदाचित् तात्पर्य है 'सुख समृद्धिपूर्ण समाज' से।

(३१ ये बांभण मोहि सुद्र कहत हैं।
तेरी 'पैज' पिछौड़ा होई हो।
१३१.२

'पैज' का शब्दार्थ किया गया है 'दरवाजा', 'पैज' है 'प्रतिज्ञा'। यथ -

जानहुँ नहिं कि 'पैज' पिय खाँचौं।
पिता संपथ हौं आजु न बाँचौं॥
(पद्मावत ३३३.४)

'पैज' टेकि तब पंडितन्ह बोला।
झूठा बेद बचन जौं डोला।
(वही, ४४७.२)

तेहि बर भए पैज कै कहा।
झूठ होइ सो देस न रहा॥
(वही, ४४७.७)

अत उद्धृत चरण का अर्थ होगा 'ये ब्राह्मण जो मुझे शूद्र कहते हैं, इससे तेरी (मानव मात्र को समभाव से उत्पन्न करने और जीवनोपाय देने की) प्रतिज्ञा पिछड़ रही है।'

(३२) नाम भयो मैं सेवग तेरा।
जनमि जनमि हरि 'उरगिला'॥
१३१.२

'उरगिला' का शब्दार्थ किया गया है 'रक्षा की बचाया'। किंतु यह है उस 'उरगु—उलगु' का भूत काल, जो पद ३८ में भी आया है और जिसके संबंध में ऊपर विचार हो चुका है।

(३३) गगन मंडल म्हारो 'वैषणो' है
सावो भाई बाजै अनहद तूरो ऐ॥
१३५.१

'वैषणो' का शब्दार्थ 'बैठना बैठकर' किया गया है। किंतु यह 'पेखणों' की भाँति 'प्रेक्षणक' =खेल, तमाशा, नाटक का प्राकृत रूप लगता है।

(३४) तोपहि दुगुनी मजूरी देहउँ।
मोकउ 'बेढ़ी' देहु बताई हो॥
१४३.२

'बेढ़ी' का शब्दार्थ 'कारीगर' किया है। 'बेढ़' है बेष्ट= वेष्टन करना, लपेटना' अत 'बेढ़ी' का अर्थ होगा 'वेष्टन करनेवाला' अर्थात् 'आवरण निर्मित करनेवाला।'

आंचलिक उपन्यास

डा० पुष्पा दुबेजा

सन् १९५४ में फणीश्वरनाथ 'रेणु' के मैला आँचल नामक उपन्यास का प्रकाशन हिंदी उपन्यास साहित्य के लिये एक अद्भुत घटना बन गया। लेखक ने उपन्यास की भूमिका में इसको आंचलिक संज्ञा दी थी और उसमें बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज नाम के एक गाँव को वहाँ के अनेक पिछड़े हुए ग्रामों का प्रतीक मानकर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उसके भले और बुरे सभी रंगों में सजीव कर दिया था। प्रयोग तथा उद्देश्य की दृष्टि से 'मैला आँचल' ने हिंदी उपन्यास को एक नवीन दिशा का संकेत किया और रेणु द्वारा प्रयुक्त आंचलिक शब्द को आलोचकों ने इस नवीन दिशा की संज्ञा मान लिया। 'अंचल' शब्द का अर्थ है जनपद अथवा क्षेत्रविशेष और किसी अंचलविशेष के जनजीवन का समग्र चित्रण करना ही आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य है। इनमें किसी विशेष अंचल की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक वैभव, सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचों, राजनीतिक हलचलों, वहाँ रहनेवालों के जीवन की समता, विषमता, आशा, निराशा आदि का छोटे छोटे विवरणों के साथ ऐसा चित्रण किया जाता है कि वह अंचल अपनी भेदक विशेषताओं में प्रत्यक्ष हो उठता है। विषय की दृष्टि से हिंदी के उपन्यासों को जिस प्रकार सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि कोटियों में वर्गीकृत किया गया है ठीक उसी प्रकार अंचलविशेष की कथा के आधार पर उपन्यास का आंचलिक वर्गीकरण स्वीकार किया गया।

अंचल शब्द अंग्रेजी के रीजन शब्द का पर्याय है। इंगलैंड में सर्वप्रथम टामस हार्डी और आर्नल्ड बैनेट ने अपने अपने उपन्यासों में क्रमशः वेसेक्स और स्टैफोर्डशायर अंचलों के जनजीवन का यथातथ्य एवं कलात्मक चित्रण किया था। इन दोनों ने अपने अपने अंचलों में जीवनयापन करनेवालों की प्रकृति का सूक्ष्म विस्तृत अध्ययन किया था और उनके चरित्रों को यथार्थ एवं विश्वसनीय बनाने के हेतु उनकी क्षेत्रीय बोलियों, उनके रीति रिवाजों, अंधविश्वासों आदि का सजीव चित्रण किया था। हार्डी के उपन्यासों में तो अंचल एक पात्र बन गया है। चित्रण की उपर्युक्त विश्वसनीयता के कारण ही हार्डी के उपन्यास आज तक लोकप्रिय हैं। बाद में यूरोपीय और अमेरिकी साहित्य से इस कोटि की अनेक रचनाएँ आईं। मार्क ट्वेन के उपन्यास अपने अपने अंचल की संस्कृति के जीते जागते इतिहास हैं। उनके लाइफ आन मिसीसिपी उपन्यास में मिसीसिपी नदी घाटी की निवासी आदिम जातियों के जीवनचित्रण में वहाँ के आंचलिक शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है और वहाँ की भौगोलिक स्थिति का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसी प्रकार औद्योगिक केंद्रों, नगरों प्रदेशों और वर्गों को लेकर अमरीकी उपन्यासकारों ने प्रचुर आंचलिक उपन्यास लिखे। किंतु हिंदी उपन्यास में आंचलिकता की प्रवृत्ति को पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। आंचलिकता की प्रवृत्ति हिंदी साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति है। इसका प्रादुर्भाव प्रेमचंद के पूर्व ही हिंदी साहित्य में हो चुका था परंतु इतने घनीभूत रूप में नहीं जितना स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांतवाले दशक के उत्तरार्ध में हुआ। आंचलिकता का आंदोलन वस्तुतः प्रगतिवादी आंदोलन का अंग था, जिसकी माँग थी कि जनजीवन एवं जनपदीय भाषाओं को महत्व दिया जाय। जनवादी विचारधारा के तीव्र प्रसार के फलस्वरूप प्रेमचंद और उनके युग के उपन्यासकारों ने आज से तीन दशक पूर्व ही साहित्य को कल्पना और रोमांस से दूर करके यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया था। परंतु प्रेमचंद

शिवपूजन सहाय अथवा वृंदावनलाल वर्मा प्रभृति उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्थानीय रंगत और क्षेत्रीय भाषा के संस्पर्श केवल सामाजिक एवं ऐतिहासिक यथार्थ को उभारने के साधन ही हैं, जनपदविशेष के बहुरंगी व्यावहारिक जीवन के उद्‌घाटन के प्रयास नहीं। प्रेमचंद के ग्रामजीवन को लेकर लिखे गए उपन्यासों में आदर्शवाद का मोह बराबर बना रहा है। इस प्रकार के उपन्यासों की विषय वस्तु और कथाकल्प में एक पुरानापन भी था जिससे ऊबकर सामाजिक यथार्थ के विशिष्ट रूप को चित्रित करने और अनेक मानवीय संवेदनाओं को प्रत्यक्ष करने के लिये प्रायोगिक नव्यता के साथ आंचलिक उपन्यास लिखे गए। एक प्रकार से आंचलिक उपन्यास प्रेमचंद की ही परंपरा के परवर्ती विकास हैं जो स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की परिस्थितियों में पूर्णतः पल्लवित हुए। आंचलिकता प्रेमचंद के कथासाहित्य में आ तो गई थी परंतु उसके व्यापक उद्देश्य, युग प्रतिनिधित्व और कथानक की सूत्रबद्धता में वह पूर्णतः पल्लवित नहीं हो पाई थी। उसका वास्तविक पल्लवन नागार्जुन के 'बलचनमा' एवं रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यासों के प्रकाशन के बाद हुआ।

रेणु के मैला आँचल के पूर्व ही अनेक ऐसे उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे जो आंचलिक संज्ञा से अभिहित न किए जाकर भी आंचलिक ही थे जैसे शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा,' 'निराला' का 'बिल्लेसुर बकरिहा' और नागार्जुन के 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसर-नाथ'। निराला ने आंचलिकता का माध्यम अपनाकर प्रेमचंद के आदर्शवाद के विरुद्ध ग्रामीण जीवन और जनजीवन की दुर्बलता को उभारा है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिला का अंचल साकार कर दिया है। परंतु फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल, और 'परती परिकथा' ये दो उपन्यास आंचलिक शब्द के वास्तविक अर्थों में आंचलिक हैं। इनके उपन्यासों में पूर्णिया अंचल के बहुविध यथार्थ के अविकल विघात्मक चित्रण को लेकर आलोचना जगत् में उठ खड़ी होनेवाली चर्चाओं एवं परिचर्चाओं ने अनेक लेखकों को इस दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। प्रत्येक लेखक ने अपने चिरपरिचित अंचल का यथातथ्य चित्र उरेहने का प्रयास किया और फलस्वरूप देश के अनेक चीन्हें अनचिन्हे विशिष्ट अंचल अपनी भाषा, वेश भूषा, धर्म, जीवन, समाज, संस्कृति, आर्थिक एवं राजनीतिक जागरण आदि के प्रश्नों को लेकर हमारी संवेदनाओं के भागी बने। वस्तु और शैली की नवीनता भी संमुख आई। नई पीढ़ी के अनेक तरुण कलाकारों ने इस कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत कर हिंदी के उपन्यास अंग को पर्याप्त समृद्धि प्रदान की। उपरिनिर्दिष्ट उपन्यास-कारों के अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' तथा 'लोक परलोक', देवेंद्र सत्यार्थी कृत 'दूधगाछ' एवं 'ब्रह्मपुत्र', भैरवप्रसाद कृत 'गंगा मय्या' बलभद्र ठाकुर कृत 'आदित्यनाथ' शैलेश मटियानी कृत 'चिट्ठी रसैन' एवं 'होलदार' राजेन्द्र अवस्थी तृषित कृत 'जंगल के फूल' और 'सूरज किरण की छाँव' रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूँ' अमृत लाल नागर कृत 'बूंद और समुद्र' तथा 'सेठ बाँके लाल' आदि ने हिंदी उपन्यास साहित्य की श्रीवृद्धि करके इस भ्रमपूर्ण नारे को कि उपन्यास में गतिरोध आ गया है, समाप्त कर दिया। आंचलिकता की प्रवृत्ति वस्तुतः सामाजिक चेतना की एक अत्यंत स्वस्थ प्रवृत्ति सिद्ध हुई है।

किंतु यह भी सत्य है कि आंचलिक नाम से प्रस्तुत किए जानेवाले सभी उपन्यास आंचलिक शब्द के यथार्थ अर्थ में आंचलिक नहीं है। ऐसा आंचलिक शब्द के अनावश्यक अर्थविस्तार की चेष्टा के कारण है। सामान्यतः आंचलिक उपन्यास हम उनको कहते हैं जिनमें अपरिचित भूमिखंडों एवं अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। असभ्य और पिछड़ी हुई आदिम जातियों के जीवन में नैसर्गिक प्राणशक्ति का बाहुल्य होता है, जिसे आंचलिक उपन्यास का आधार बनाया जा सकता है, परंतु यह कहना ठीक नहीं कि आंचलिक उपन्यासकार एक पिछड़े अंचल या आदिवासियों के प्रदेश को ही अपनी रचना का

आधार बनाए। आरंभ में प्रस्तुत सफल आंचलिक उपन्यासों में क्योंकि ग्रामजीवन को ही आधार बनाया गया था, अतः यह भ्रांति अवश्य उत्पन्न हो गई है कि आंचलिक उपन्यास केवल ग्रामीण जीवन पर ही आधारित हों और वहाँ की संस्कृति का चित्रण करें; परंतु अन्य आंचलिक उपन्यास परंपरा में प्राप्त वैविध्य से, जिसमें नगर के जीवन को लेकर भी ऐसे प्रयास हुए हैं, यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि आंचलिक उपन्यास किसी भी अंचल की समग्रता को भी आधार बना सकता है और किसी जातिविशेष के जीवन को भी। अंचल एक ग्राम भी हो सकता है, एक नगर भी। किसी बड़े नगर का एक मुहल्ला भी और इन सबसे दूर कोई एकांत पर्वतीय उपत्यका भी। रेणु के दोनों उपन्यास यदि ग्रामीण अंचल का चित्रण करते हैं, अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' नगर का। रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' यदि नटों के जीवन का अंकन करता है तो उदयशंकर भट्ट ने 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मछुओं के जीवन का चित्रण किया है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों में गृहीत अंचल विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। फिर भी आंचलिक शब्द के अर्थविस्तार पर सतर्क दृष्टि रखना आवश्यक है। प्रेमचंद और वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों को आंचलिक उपन्यासों की कोटि में गिनने से आंचलिकता का अभिप्राय ही लुप्त हो जाता है। इनकी रचनाओं में सार्वभौमता है, आंचलिकता मात्र नहीं। इनमें आंचलिकता एक क्षुद्र साधन है, स्वयं में एक साध्य नहीं।

आंचलिकता की इस प्रवृत्ति ने प्रेमचंदोत्तर काल के हिंदी उपन्यास साहित्य में दृष्टिगोचर होनेवाली दो प्रबल धाराओं के मध्य एक सेतु बनाने का कार्य किया। प्रथम धारा थी प्रेमचंद की ही परंपरा को नए रूपविधान एवं शिल्प देकर देशकाल के बोध्य बनाने की और द्वितीय थी व्यक्ति की सत्ता को सर्वोपरि मानकर उसे साहित्य में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न की। आंचलिकता की इस नई धारा ने प्रेमचंदयुग की पिछड़ी हुई परंपराओं को त्यागकर व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा से उत्पन्न विनाशकारी तत्वों के विरुद्ध नए युग की नई चेतना और नए मूल्यों को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। आधुनिक कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के प्रबल आग्रह ने व्यक्ति के मानस के आलोडन विलोडन, अवसाद और कुंठाओं के नीरस चित्र यहाँ से वहाँ तक भरकर संवेदनात्मक रसानुभूति को सुखा सा दिया था। चेतना और उपचेतना की इन भूल भुलय्यों में भटककर थके हुए पाठकों को आंचलिक उपन्यास में मानवता के सहज और सरस स्पंदनों में सुख का आभास सा हुआ। नवीनता या अछूतेपन की माँग को आंचलिक उपन्यासों ने पूरा किया, साथ ही उनके मूल में आज के वैज्ञानिक युग की एक अन्य देन भी वर्तमान है — वह है अणुवीक्षणीयता के दृष्टिकोण की। सामान्य के स्थान पर विशेष के प्रति आग्रह की प्रवृत्ति आज अंचल को उसकी सभी भेदक विशेषताओं में प्रत्यक्ष कर लेना चाहती है। समग्र मानव जीवन पर ऊपर से नीचे तक दृष्टि डाल लेने के उपरांत अब उसके प्रत्येक अंग का अलग अलग वैज्ञानिक निरीक्षण अनिवार्य लगने लगा है और आंचलिक उपन्यास इसी दृष्टि का परिणाम है। इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए श्री रामरतन भटनागर का कथन द्रष्टव्य है — 'विश्लेषण के इस युग में जीवन की विराट् संवेदना अथवा संश्लेषणात्मक जीवनबोध देना असंभव हो गया है। विज्ञान ने हमारे शिल्प को ही विघटित नहीं किया है हमारी सहज दृष्टि को भी विश्लेषण के बोझ से दबा दिया है। तथ्य को ही हम सत्य मानने लगे हैं। इसलिये आज अखंड जीवनदृष्टि का अभाव है। आधुनिक उपन्यास में खंड जीवन का आग्रह विशेष है जो आंचलिक उपन्यासों, रिपोर्ताजों, स्केचों आदि भावात्मक मनोलेखों में द्रष्टव्य है।'[1]

राष्ट्रीय चेतना की जागृति ने भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। आत्म न्वेषण एवं

---

१. हिंदी उपन्यास : सिद्धांत और विवेचन पृष्ठ ६०–६१.

आत्मपरीक्षण की प्रवृत्ति ने हमारा ध्यान उस लोकसाहित्य की ओर आकृष्ट किया जिसमें मौखिक परंपरा का प्रत्येक रूप आ जाता है। लोककथाएँ, लोकगीत, लोकोक्तियाँ, बुझौवल, टोने टोटके, मंत्रोच्चार, लोकवार्ता, लोकोत्सव आदि अलग अलग तो विशेष अध्ययन का विषय बने ही, साथ ही इन तमाम लोकोपकरणों का प्रयोग लोकजीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति के लिये आंचलिक उपन्यासों में किया गया। स्वतंत्रताप्राप्ति के अनंतर समाजवादी चेतना से भी जब जब निम्न वर्ग के उत्थान का प्रश्न उठाया तब तब राष्ट्र के विभिन्न प्रांतों के विभिन्न अंचलों में बिखरी हुई संस्कृति को सँजोने की दिशा में आंचलिक उपन्यासों ने पर्याप्त योग दिया है। देश की वास्तविक स्वतंत्रता वस्तुतः अंचलों की जागृति पर निर्भर है। यह जनपदीय भाषाओं के आंदोलन से आगे की स्थिति है। स्थानीय भाषा का प्रयोग यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासों में आज से बहुत पहले ही हो चुका था, तथापि अब लोकजीवन के प्रत्येक पार्श्व का चित्रण प्रमुख हो गया। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यास हमारे सांस्कृतिक उपादान सिद्ध होते हैं। श्री रामरतन भटनागर की दृष्टि में प्रेमचंद के बाद उपन्यास अपने स्वस्थ और संतुलित क्लासिकल दृष्टिकोण को पीछे छोड़कर जिन रोमांस की भूमियों को अपना चुका है। आंचलिकता भी उनमें से एक है। यह मानव की उस दृष्टि का विकास है जो अनेकरूपता में मानव जीवन का आभास पाना चाहती है।

आंचलिक उपन्यासों के विषय और उद्देश्य के विवेचन के उपरांत उसके स्वरूप का प्रश्न उठता है। उपन्यास होने के नाते आंचलिक उपन्यासों के मानदंड भी उपन्यास के ही मानदंड होते हैं। अंतर केवल इन उपन्यासों की अंचलकेंद्रित दृष्टि का है जो अंचल को ही उपन्यास के सभी तत्वों का दृष्टिकेंद्र बना देती है।

आंचलिक उपन्यास में कथा के संगठन का आधार कथानक, पात्र अथवा उद्देश्यविशेष न होकर एक विशिष्ट भूभाग होता है, अतः कथानक अंचलकेंद्रित होता है। कथा का आरंभ और अंत भी जनपद विशेष के चित्रण से ही किया जाता है। श्री जैनेंद्र के शब्दों में आंचलिक प्रवृत्ति वह दृष्टि है जिसके केंद्र में कोई पात्र या चरित्र उतना नहीं जितना वह भूभाग स्वयं है। अतः अंचल की रूपरेखा को उभारने के लिये वर्णनात्मकता का विशेष महत्व होता है और कथाविकास की दृष्टि से अनुपयोगी दृश्य का भी समावेश कर दिया जाता है। वर्णनात्मकता की स्थिरता कथा की गतिशीलता को मंथर कर देती है। इसमें अंचल विशेष का व्यवस्थित और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है, फलस्वरूप उपन्यासकार को अपने कथाक्षेत्र की एक एक इंच भूमि से अभिज्ञता का विश्वास दिलाना पड़ता है। उसे अपनी आँखों देखे परखे तथा अनुभूत जीवन का चित्रण करना पड़ता है तभी वह अपने निर्दिष्ट अंचल के व्यावहारिक जीवन की वास्तविकता का विश्वास दिला सकता है।

वर्णनात्मकता का यही आग्रह आंचलिक उपन्यास में नायक की अवतारणा नहीं होने देता। नायकशून्यता आंचलिक उपन्यासों की एक विशेषता कही जा सकती है, यद्यपि कुछ आंचलिक उपन्यासों में उसे (नायक को) खोजा जा सकता है। अंचलकेंद्रित कथानक के आस पास पात्रों की एक भीड़ उपस्थित कर दी जाती है। क्योंकि कथा व्यक्तिविशेष की न होकर संपूर्ण अंचल की होती है, अतः इन बहुसंख्यक पात्रों की अपनी अपनी कहानी होती है। विभिन्न पात्रों की अलग अलग विशेषताएँ मिलकर अंचल के सामूहिक चरित्र को प्रदर्शित करती हैं। इनमें से अनेक पात्र वर्गगत होते हैं और उनके चरित्र की स्थानीय विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है। इनके व्यक्तिगत चरित्र का अध्ययन भी आंचलीय परिस्थितियों से उनके योगदान को प्रधानता देते हुए किया जाता है। यदि किसी एक पात्र को प्रधानता मिलती भी है तो अंचल से उसका तादात्म्य दिखाने के निमित्त ही। वस्तुतः इन उपन्यासों में अंचल स्वयं एक वैशिष्ट्यवान् नायक बन जाता है और इस

विशिष्ट पात्र के बाह्य रंग रूप का चित्रण और उसकी आंतरिक चेतना को उभारकर रखना ही लेखक का लक्ष्य बन जाता है। फलस्वरूप एक ओर तो वह अंचल की भौगोलिक स्थिति, उसकी प्राकृतिक विभूतियों, बाधाओं आदि का यथातथ्य चित्रण करके उसके बहिरंग का मानचित्र प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर वहाँ के वासियों के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विचारों और उनकी परंपराओं का अंकन करके उस अंचल की आंतरिक चेतना को निरूपित करता है।

देशकाल का उपयोग भी इन उपन्यासों में अन्य उपन्यासों की भाँति कथा और पात्रों को वास्तविकता प्रदान करने के लिये केवल पृष्ठभूमि रूप में नहीं किया जाता, अपितु उसे प्रमुखता दी जाती है। अंचल का वैशिष्ट्य उसकी स्थानीय रंगत में ही है और इस स्थानीय रंगत के वातावरण को यथार्थ और सजीव बनाने के लिये लेखक लोक-उपादानों का पर्याप्त प्रयोग करता है। लोककथाएँ, लोकगीत कथाएँ, लोकगीत, लोक पहेलियाँ, कहावतें, लोकपर्व, लोकभाषा आदि मिलकर लोकजीवन की समग्रता का वातावरण प्रस्तुत कर देती है। इसे उभारने में सबसे अधिक योग रहता है स्थानीय बोली और लोकोच्चारणों का, जो सामान्य कथन को भी अंचल का वैशिष्ट्य प्रदान कर देते हैं। स्थानीय रंगत की प्रगाढ़ता ही एक अंचल से दूसरे अंचल के प्रभेद की स्थापना करती है।

आंचलिक उपन्यासों की भाषा केवल भाषा ही न होकर वातावरण भी बन जाती है। वातावरण-विधान के निमित्त आंचलिकता का समावेश हिंदी के अन्य उपन्यासों में भी किया गया है, परंतु आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय बोलियों और शब्दों का खुलकर प्रयोग किया जाता है, पात्रों के वार्तालाप में तो संपूर्णतः आंचलिक भाषा का प्रयोग कराया ही जाता है, कुछ उपन्यासों में उपन्यासकारों की भाषा में भी अक्षयदीय शब्दों का बाहुल्य है, जिनमें से कुछ के अर्थ लेखक दे देता है कुछ के नहीं देता। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग लेखक के अपने अंचल से घनिष्ठ संबंध की प्रतीति अवश्य कराता है और यथार्थता को बढ़ाता है, परंतु इसमें क्लिष्टता भी आ जाती है। बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जो अपने ठेठपन के कारण प्रसंग से भी स्पष्ट नहीं हो पाते और उनके कारण संप्रेषणक्षमता में व्याघात पहुँचता है। किंतु यह भी सत्य है कि आंचलिक बोलियों, उच्चारणों एवं ध्वनियों का चित्रण पाठक को उस अंचल में विचरण की सी अनुभूति कराने में भी सफल हो जाता है।

आंचलिक उपन्यास शैली के क्षेत्र में भी एक नवीनता लेकर आए। किसी ठोस कथानक के अभाव को तथा कथासूत्रों की विच्छिन्नता के दोष को शैलीपक्ष द्वारा ढकने की कोशिश की गई। संस्मरण शैली, डायरी शैली, आत्मकथा शैली, रिपोर्ताज और अनेक कथासमूहों की शैली में शिल्प के नए प्रयोग किए गए हैं। उपन्यासकार के लिये अब अनिवार्य मानी जानेवाली तटस्थता इन उपन्यासों की विशेषता है। इसी निर्वैयक्तिकता के कारण ये उपन्यास प्रेमचंद के उपन्यासों से अलग उभरकर आ सके हैं। लेखक तटस्थ रहता है और अंचल की कथा अंचलीय पात्रों के दृष्टिकोण से ही कही जाती है। चित्रण से ही उद्देश्य की व्यंजना कर दी जाती है। तटस्थता से तात्पर्य दृष्टिराहित्य से नहीं, कलात्मक व्यंजना से है।

आंचलिक उपन्यासकार विशिष्ट अंचल तक अपने को सीमित अवश्य रखता है पर जहाँ तक जीवन के मौलिक पहलुओं के चित्रण का संबंध है, वह किसी परिमिति के अंतर्गत कार्य नहीं करता। मनुष्य की जितनी भी सार्वभौम एवं सर्वजनीन समस्याएँ हो सकती हैं उनका चित्रण आंचलिक उपन्यासों में विशद रूप से किया जाता है और उनमें किसी न किसी चिरंतन सत्य का प्रतिपादन अवश्य किया जा सकता है।

सब मिलाकर उपन्यासकार जनजीवन को अधिक तटस्थ और यथार्थवादी ढंग से

चित्रित करने का प्रयत्न करता है। आंचलिक प्रवृत्ति जनजीवन को तटस्थ दृष्टि से देखने की प्रबल आकांक्षा का ही परिणाम है और इनके माध्यम से हिंदी उपन्यास को एक नई सक्रियता और उत्साह मिला है।

परंतु ये विशेषताएँ होते हुए भी इनमें अनेक ऐसी कमियाँ भी हैं जो इन आंचलिक उपन्यासों की उपलब्धियों के आगे प्रश्नचिह्न लगा देती हैं। सबसे अधिक विचारणीय है इनमें किसी सुनिश्चित कथाधारा का अभाव, वर्णनात्मकता का आधिक्य और नायक की अनुपस्थिति। इनके बिना न तो पाठक के ऊपर कोई समन्वित प्रभाव पड़ता है और न लेखक का कथ्य पाठक तक पहुँच पाता है। उपन्यासकार छोटे छोटे विवरणों को प्रस्तुत करने में इतना रत हो जाता है कि पाठक इन्हें पढ़ते पढ़ते ऊब जाता है फलस्वरूप उपन्यास के कलेवर में अनावश्यक विस्तार आ जाता है। अंचल की संस्कृति को समग्र रूप से प्रस्तुत करने की धुन में कथासंगठन की उपेक्षा भी चिंतनीय है। उपन्यासकार का इष्ट कथानक और उसमें भी मानवीय संवेदना, होना चाहिए। ठोस कथानक भले ही गौण हो, परंतु मानवीय संवेदना का विस्तार उपन्यासकार का लक्ष्य होना चाहिए। नवीन तथा विविध जीवनखंडों को लेखक अपनी कला से उभारे, परंतु वैचित्र्य सर्जना मात्र उनका लक्ष्य न बन जाय। पिछड़ी हुई जातियों की संस्कृति को भारतीय संस्कृति की धरोहर बनाकर उसे पिछड़ेपन से चिपका न रहने दें अपितु उनको पिछड़ेपन से उबारने के संकेत भी प्रस्तुत करें। तब कहीं ये उपन्यास विभिन्न अंचलों में बिखरी हुई हमारी संस्कृति का एकीकरण कर सकते हैं और उनमें उपलब्ध समान तत्वों, समान विचारों और समान प्रश्नों की खोज कर उन्हें हमारे स्वाधीन देश की अमूल्य थाती बना सकते हैं। अनजाने मनुष्यों के भीतर जानी पहचानी मनुष्यता का बोध कराने में ही इन उपन्यासों की सार्थकता है।

आंचलिक उपन्यासों की भाषा का प्रश्न भी अत्यंत विवादास्पद है। विवाद इस बात को लेकर है कि उनमें आंचलिक भाषा का प्रयोग किस सीमा तक किया जाय? किसी भी कृति का मूल्य उसकी सरसता और सुबोधता पर निर्भर होता है, विशेषतः कथासाहित्य में तो कथासूत्र की सरसता में व्याघात पहुँचानेवाला हर तत्व बाधक ही माना जायगा चाहे वह भाषा संबंधी हो अथवा शैली संबंधी। यह ठीक है कि आंचलिक उपन्यासों ने बड़े सुंदर शब्द हिंदी को दिए हैं, जो न केवल अपने अर्थों में, अपितु ध्वनियों में भी आकर्षक लगकर हिंदी की अनुपम निधि बन गए हैं। परंतु यह देखना होगा कि इन उपन्यासों की भाषा अंचलविशेष के बाहर भी क्या उतनी ही लोकप्रियता प्राप्त कर सकेगी जितनी अंचल से अभिज्ञ पाठकों में उसे मिली है। आंचलिक भाषा में जिस अनगढ़पन और अटपटेपन की आपत्ति हिंदीवाले प्रायः उठाते हैं उसकी अति को मर्यादित करना चाहिए। जहाँ तक हो इस अटपटेपन को टाला जाय और अर्थ की गंभीरता तथा ध्वनिसौंदर्य से युक्त सुबोध आंचलिक शब्दों, लोकोक्तियों और मुहावरों की अवहेलना न की जाय। प्रेमचंद के उपन्यासों की भाँति भाषा में आंचलिकता का आभास मात्र भी न हो और उसका घटाटोप भी नहीं। किसी मध्यम मार्ग का अवलंबन निश्चय ही हिंदी के शब्दभांडार को भरेगा और देश की भावात्मक एकता में योग देगा।

इसी अतिवाद से देशकाल के चित्रण में बचना चाहिए। स्थानीय रंग की प्रगाढ़ता ऐसी न हो कि उपन्यास उपन्यास न रहकर भूगोल बन जाए। आंचलिकता हमारा जीवनदर्शन बनकर राष्ट्रीय चेतना में विसंवादी स्वर न बनने लग जाए। इसी प्रकार किसी भी शैली का अवलंबन करते समय रोचकता और जीवन की संवेदना की अभिव्यंजना की कसौटियों पर उसे अवश्य कस लेना चाहिए। निराला से लेकर रेणु तक आंचलिक उपन्यासलेखन में अनेक शैलियों का उपयोग हुआ है। उपयुक्त मात्रा में एवं औचित्य का ध्यान रखते हुए उन सभी शैलियों का उपयोग संभव है। बचना उस एकरसता से है जो किसी भी शैली के

आत्यंतिक प्रयोग से उपन्यास की रोचकता में क्षति पहुँचाए।

यह भी ठीक है कि आंचलिक उपन्यासों में मनुष्य की विविध आंतरिक अनुभूतियों एवं जीवन की विविध दार्शनिक समस्याओं से उलझना नितांत आवश्यक नहीं, किन्हीं नीति-सिद्धांतों का खंडन मंडन करना या नए मानव मूल्यों का अन्वेषण करना आवश्यक नहीं है; परंतु किसी एक अंचल के जीवनस्पंदन का पर्यवेक्षण तटस्थ दृष्टि से कर देना मात्र भी आंचलिक उपन्यासकार का कर्तव्य नहीं है। साहित्य की लोकप्रियता लोकमंगल की आधार-शिला पर अवस्थित होती है। मतवाद से उसे बचना चाहिए और अंचल के यथार्थ को भी एक संभावित स्थिति तक ही मुखरित करना चाहिए। साथ ही नवीन के निर्माण और अवांछनीय के ध्वंस के लिये जनता को तैयार करना इन उपन्यासों का लक्ष्य होना चाहिए।

इन त्रुटियों के परिहार की दिशा में सतर्क रहने पर आंचलिक उपन्यास निश्चय ही कथा-साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध होंगे। सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता लाने में इनका योग स्तुत्य है ही; भाषा, शिल्प एवं रूपविधान के क्षेत्र में भी इनकी उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये उपन्यास जनजीवन की पहचान कराने में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुये हैं और इस क्षेत्र में असीम संभावनाएँ हैं। हिंदी उपन्यास की इस विकासशील परंपरा का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल प्रतीत होता है।

जोधराज : हम्मीररासो के रचयिता या परिष्कारक ?

मूलचंद 'प्राणेश'

•

इतिहासविश्रुत शरणागतपाल रणथंभौराधिपति चौहान हम्मीरदेव के समुज्वल चरित्र को आधार बनाकर कवि जोधराज ने १८८५ वि० में 'हम्मीररासो'[1] की रचना की। हम्मीररासो के समालोचक श्रीतोमर ने उक्त रचना को चंदकृत पृथ्वीराज रासो तथा तुलसीकृत रामचरितमानस से प्रभावित बताया है;[2] परंतु रासोकार जोधराज ने अपनी कृति में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है, बल्कि नीमराणा के चौहान वंशीय राजा चंद्रभान की जिज्ञासा के पूर्त्यर्थ 'हम्मीररासो'

१. सं० श्री श्यामसुंदरदास बी. ए., काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित।
२. श्री तोमर, हिंदी वीर काव्य, पृ० ५१–५२।

की रचना का उल्लेख करते हुए अपनी कृति को सर्वथा मौलिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[३] तत्कालीन कविसमाज तथा अपने आश्रयदाता को उक्त कृति के माध्यम से आकर्षित करके जोधराज ने प्रचुर मान एवं धन की प्राप्ति के साथ साथ प्रधानी पद प्राप्त कर लिया था,[४] परंतु अभी अभी कवि महेश कृत हम्मीररासो की उपलब्धि ने जोधराज के छद्म कविस्वरूप को छिन्न कर दिया है। महेशकृत हम्मीररासो से तुलना करने पर जोधराज कृत हम्मीररासो उसका रूपांतर मात्र प्रतीत होता है। जिससे जोधराज ने धन एवं पदलोलुपता के वशीभूत होकर अपने नाम से प्रसिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

महेशकृत हम्मीररासो की दो त्रुटित प्रतियाँ श्री अभय जैन ग्रंथालय में तथा इस ग्रंथ की अन्य पूर्ण प्रतियाँ जोधपुर, जयपुर के भंडारों में उपलब्ध हैं। हम्मीरायण के संपादक श्री नाहटा इसे अपने ग्रंथ के परिशिष्ट में देना चाहते थे पर अत्यधिक पाठभेद होने के कारण अन्य उपलब्ध प्रतियों के साथ इसका संपादन[५] करना उचित समझकर प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को सौंपा गया। महेशदासकृत उक्त रासो का पाठ संपादित करते समय जोधराज कृत रासो के पाठ में साम्य प्रतीत होने लगा। दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उपर्युक्त तथ्य प्रकट हुआ।

यद्यपि महेश कृत हम्मीररासो में रचनाकाल का उल्लेख नहीं है, फिर भी हम्मीररासो की उपलब्ध प्रतियों में एक प्रति में लिपिकर्ता ने — मिति आसोज सुदि ३ सं० १८२३ वि० प्रतिलिपिकाल दिया है जिससे सिद्ध होता है कि जोधराज (रचनाकाल १८८५) से ६२ वर्ष पूर्व तक महेशकृत रासो का पर्याप्त मात्रा में प्रचार था। उपलब्ध प्रतियों के पाठभेदों को देखते हुए इसका रचनाकाल अनुमानतः अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का कोई वर्ष होना चाहिए।

३ नृप अेक समय दरबार माहि, रसो हम्मीर कहि हुन्यो माहि।
नृप प्रस्न करिय यह उसे बात सब कहो वंम उत्पति सु तात।
अरु कहो साहि हम्मीर वैर, किहि भाँति कक बढ्यो सु फेर।
तब कही प्रथम यह कल्प आदि, जल सेष सैन जब हूँ अनादि।
—हम्मीररासो, छं० सं० १२–१४

४ सुनत राव हम्मीर जस, प्रीति सहित नृप चंद।
मनसा बाचा कर्मना, हरे जोध के द्वंद ॥
\+ \+ \+
नृप करी कृपा तिहि पर अपार, धन धरा बाजि गृह बसन सार।
बाहन अनेक सतकार भूरि, सब भाँति अयाची कियो सूरि।
—वही, छं० सं० ११–१२

५ श्री भँवरलाल नाहटा — श्री सादूल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर से प्रकाशित।

६ श्री भँवरलाल नाहटा, हम्मीरायण, पृ० १२।

जोधराज का हम्मीररासो महेशकृत हम्मीररासो का रूपांतर मात्र है। केवल धन एवं यश की लालसा से जोधराज ने कतिपय घटनाओं एवं छंदों को परिष्कृत करके अपने नाम से प्रचारित किया ज्ञात होता है। महेशकृत हम्मीररासो केवल ३२४ छंदों की लघुकाय रचना है। इसमें सबसे अधिक चौपाई (चार चरणोंवाली) छंद का प्रयोग हुआ है। दोहा तथा पैअक्खरी छंद का यत्र तत्र प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार वचनिका एवं वार्ता का प्रयोग भी हुआ है। जोधराज ने अपने काव्य में कतिपय दोहे एवं वचनिकाओं को तो हूबहू स्वीकार कर लिया है एवं चौपाई छंदों के स्थान पर उन्हीं चार पदों को लेते हुए 'छप्पय' बना दिया है या फिर कहीं कहीं भावविस्तार करने लिये अन्य स्वतंत्र छंदों की योजना कर ड ली है जैसा कि निम्नलिखित कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है।

महेश—

रतनभँवर रिखि पदम उगर तप तेज कराई
यंद्रासन डगमगो सुरपति संक्या खाई
यंद्र सहेत सब देवता दे सराप कहि येह
बरस सहस लौं पदम रिखि रहो आप की देह।[७]

जोधराज—

रथत भँवर ऋषि पदम उग्र तप तेज कराए
इन्द्रासन डिगमिगिय देवपति सका खाए
तब कामादिक जोध सक ऋषि पास पठाए
करो विघ्न तब जाय भंग परकाज भलाए
तब पश्चयत मार निज सेन जुत ऋतु बसंत प्रगटिय तुरत
बह त्रिविध पवन अद्भुत महा करहिं गान रंभा सुरति।

जोधराज ने ऋषि के तपभंग का आधार लेकर ऋतुवर्णन करके रासो का विस्तार किया है[९]। महेशकृत रासो में एक भी छंद ऋतु संबंधी नहीं है।

महेश—

समय येक पतिसाहि सिकार खेलन बन आई
जिसी साहि की इलम [illegible] बन में भरमाई
हुरम साहिके संगि हुतो बन गई भुलाई
खिखिया खेल नसीब का मिले अ महिमा साहि[१०]।

७. महेश, हम्मीररासो, छं० सं० २१।
८. जोधराज, हम्मीररासो, छं० सं ३६।
९. वि० दे० जोधराज कृत ह० रा०, छं० सं० १००—१०१।
१०. महेश, ह० रा०, छं० सं० २७।

जोधराज ने इसी भाव को विस्तार देकर सैन्य वर्णन आदि से युक्त कर दिया है तथा शेख एवं हुरम के वार्तालाप को उपदेशप्रधान बनाने का भी प्रयत्न किया है।[11]

महेश—

> जैसे गंध बसि कुरम भया भई मीर मति मंद।
> सेर मारि करि सेख रह्यो साहिकी हुरम संग[12]॥

जोधराज ने 'सेर मारि करि सेख' भाव को विस्तार देकर शिकार वर्णन तथा मूषक की कथा को लेकर हास्य वर्णन भी प्रस्तुत किया है। मूषक वाली लोककथा राजस्थान में बहुत प्रचलित है जिसका उपयोग कवि ने किया है।[13]

कवि महेश के रासो में सर्वत्र चार चरणवाले छंद का प्रयोग है जिसमें दो चरण रोला के तथा दो उल्लाला के हैं; पर इन्हीं छंदों को जोधराज ने 'छप्पयों' में बदल दिया है। उदाहरणार्थ दो चार छंद तुलनात्मक अध्ययन के लिये उद्धृत किए जाते हैं—

महेश—

> कहै हमीर सुनि दूति बचन सति असतन भाखौं।
> मोहि बिन अवर न कोय सेस को सरणै राखै॥
> गह तेग पतिसहि सौं जुडौं जंग छाडौं न हठ।
> कहियो मिरसक यों जायके रह्यो सेख रणथंभगढ़[14]॥

जोधराज—

> कह हमीर सुनि दूत बचन निज असत न भाखौं
> मो बिन और न कोय सेख को सरने राखौं
> गहूं खाग सनमुक्ख हुहूँ अति गर्व सुदृढ़ दृढ़
> कहै मुक्ति मग सत्य किधौं रणथंभ महा गढ़
> कहियो मिरसक पतिसाहि सौं सेख सरनि हम्मीर किय
> सामान सुद्ध जेते कछू सो अनंत दुग्गह जु लिय[15]।

११. त्रि० दे० जोधराज कृत ह० रा०, छं० सं० १६०–२११।
१२. महेश ह० रा०, छं० सं० २८।
१३. जोधराज–ह० रा०, छं० सं० २१२—२२१।
१४. महेश—ह० रा०, छं० सं० ४१।
१५. जोधराज—ह० रा०, छं० सं० ३११।

महेश—

सुनि हमीर के बचन दूत दिल्ली दिसि धाया।
करि सलाम साहिकौं जोरि कर सीस नवाया॥
उत्तर दखिन पूरब पछिम सबै सेख फिरि थाकियो।
कोल बचन हम्मीर करि वो रणथंभोर गढ राखियो॥[16]

जोधराज—

सुनि हमीर के बचन दूत दिल्लीय दिस आयव
करि सलाँम कर जोरि साहि कौं सीस नमायव
पूरब दच्छिन देस और पच्छिम दिसि आयव
सबै सेख फिरि थकि, कहूँ काहू न रखायव
तब सेख आय रणथंभ गढ, दीन बचन हम भक्खियो।
सुनि हमीर करुणा सहित, सेख बचन दे रक्खियो।[17]

महेश—

समंद पार गया सेख बार हजरति वो नाहीं।
राव सेख क्यों रखै रहै हजरति की हदमांही॥
हमे बचन पतिसाहि सौं दूत न कहियो बहोरि फिरि।
नहीं तुझै सुधि वा सेख की तूं खबरदार नहीं बेखबरि॥[18]

जोधराज—

समदपार गय सेख, बार हजरत वह नाहीं
राव शेख क्यों रखै, बार हजरत घर माही
फिर न कहो यह बचन, वृथा कबहू मनआ
दूत साह के बचन सुने सत्कार सुमाने
महरम्मसौं हम उच्चरै, खबरदार नहिं बेखबरि।
कहियो जु बात निज नगन लखि, असी बात नहिं कहो फिरि।[19]

इसी प्रकार महेश के अन्य छन्दों को जोधराज ने छप्पयों में बदला है। विस्तारभय से केवल छं० सं० दी जा रही है—

१६. महेश—ह० रा०, छं० ५६।
१७. जोधराज—ह० रा०, छं० ३१७।
१८. महेश—ह० रा०, छं० सं० ५७।
१९. जोधराज—हम्मी० रा०, छं० सं० ३१८

महेश कृत रासो छंद

४८, ५०, ५१, ५२, ६२, ६३, ७०, ८५, ८६, ८७ ८६, ६० , ६१, ६२, ६४ ६७, १०६, १०७, १०८, १०६, ११०, १३०, १३१, १३४, १३५, १३६, १४१, १४६-१५१, १५३, १५४, १५६, १७५, १७६, १८२, १८३, २१३, २१४, २१६, २१७, २१८, २१६, २२०, २२१, २२३, २२५, २२६, २२७, २२८, २२६, २३१, २३३, २३४, २३५, २३६, २३६, २४०-२४२, २४५, २४७, २४६, २५०, २६८, २६६, २७०, २८० २८१, इत्यादि

जोधराज कृत रासो छंद

३२०, ३२४, ३२५-२६, ३२७, ३२८, ३२६, ३३६-३६, ३६४, ३६५, ३६६-६७, ३६८ ३७०, ३६३, ३७१-७२, ४०८, ४०६, ४११, ४१२, ४१३, ४७२, ४७३-७५, ४७६, ४७७, ४७६, ४६२, ४६५-५०३, ५०५, ५०६, ५०७, ५६०, ५६१, ५८७, ५८८-५६०, ६३८-३६, ६४२, ६४३, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६५०-६५२, ६५८, ६५६, ६६०, ६६१, ६६२-६६३, ६६४, ६६६, ६७०-६७२, ६७३, ६७४ ६७७ ७८, ६७६-६८८, ६६५ ६६७, ७००, ७०१, ८२७, ८२८, ८२६, ८४८, इत्यादि।

इतना ही नहीं, जोधराज ने भव विस्तारीकरण में भी पटुता दिखाई है। कवि महेश कृत रासो के मीर महिमाशाह तथा मीर गाभरू के परस्पर वर्तालाप के भाव को जोधराज ने रूपांतरित करके विस्तारीकरण किया है, यथा —

महेशकृत वर्णन—

तब मीर गाभरू कहै, सार गहे महिमा भाई।
हुकुम धनी का मेटु अदलि सिर ऊपरि आई।
मोदिसी साहि अलावदी तुम दिलि राव हमीर।
अपने अपने निमक की ना तजिये तासीर॥

दोऊ बीर सफ जंग जुरे सार मिलि सनमुख बाहै।
धनि धनि कहै हमीर साहि मुख आप सराहै।
चलतै महिमा बोलिया सुनो अलावदी साहि।
हमतो पहुँचे भिसति में दिखो उलटि तुम जाहि॥[२०]

जोधराज कृत वर्णन—

चौपाई छंद

कहै मीर गाभरू ये बातैं। गहै सार नहिं करिये घातैं॥
हुकम धनीकै को प्रति पालो। आई अदलिअ सीस पर चालो॥
सुनि गाभरू के बचन सुभाए। महिमा फूलि खेत में आये॥
सनमुख सार सम्हाय सुभाई, माया मोह त्यागि जग कहूँ॥

२०—महेश—हु० रा०, कुं० सं० २०५-२०६

दोहरा छन्द

दोऊ बंधु रिसाई कै, लई बाग हुमि संग।
उतरि खेत मैं मिलि उभै, कीनौ हरख उमंग॥
मीर गाभरू पायँ परि, हुकुम माँगि कर जोरि॥
स्वामी काज तन खंडियै, लगै न कबहूँ खोरि॥

हनूफाल छंद

मिलि बंधु दोऊ आय, बहु हरख कीन सुभाय।
अब स्वामी धर्म सुधारि, दोऊ उठे बीर हंकारि॥
असमान लग्गिय सीस, मनौ उभै काल सवीस।
इत कोप महिमा कीन्ह, हम्मीर नौम सु चीह्न॥
उत मीर गाभरू आय, मिलि सेख कै परि पाँय।
कर तेग बेग समाहि, रहे दुहुँ सेन सचाहि॥
कम्माँन लीन सु हत्थ, जनु सार कार सुपत्थ।
धरि स्वामि काज समत्थ, दोऊ उभै जुद्ध सपत्थ॥
दुहुँ द्वंद जुद्ध सुकीन, मनु जुटे मल्ल नवीन।
तरवारि बज्जिय ताय, मनु लगि ग्रीष्म लाय॥
कटि परत सीसरु हत्थ, परि लुत्थ जुत्थ सुतत्थ।
घमसाँन थाँन सु धीर, धर धरत खेलत बीर॥
गजराज लुट्टत भुम्मि, बहु तुरंग परत सु झुम्मि।
बिब बीर बज्जिय सार, तरवारि बरसहु धार।
दोउ आव सकाँम, जग में किये अति नाम।
दोहुँ बीर देखत हूर, उ[illegible] गए सुख अति नूर॥
दल दोय निक्खत बीर, पहुँचे बिहस्त गहीर॥

दोहरा छन्द

तिल तिल भे अंग दुहुन कै, हनै बाजि गजराज।
हजरत राव हमीर कै, सबै सँवारे काज।
मुसलमाँन हिंदवाँन कौं चलै सेख सिर नाय।
चढि बिमान दोऊ तहाँ, बिहस्त पहुँचे जाय॥[२१]

२१ जोधराज—ह० रा० हं० सं० ८३७-८४८

इस प्रकार जोधराज ने अन्य भी कई स्थानों में भावों का विशदीकरण किया है। फलस्वरूप महेश कृत ३२४ छंदों के रासो का कलेवर बढ़ाकर ९६९ छंदों का कर दिया है। रासो संज्ञक काव्यों के काव्यविस्तार का सबसे अच्छा नमूना इस रचना में उपलब्ध है। हम्मीर रासो की एक शती की अवधि में यदि इतना परिवर्तन परिवर्धन हो सकता है तो सूक्ष्मकाय चंदकृत पृथ्वीराजरासो में चार पाँच शताब्दियों में आकाश पाताल का परिवर्तन हो जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है।

हम्मीररासो के मूल रचयिता महेशदास ने अपनी रचना में पूर्वप्रख्यात कविवर चंद के प्रभाव को स्वीकार किया है। यथा—

कछु भवानी वर दियो, कछु अपनी बुध उनमान।
कछु बचन सुनि चंद के, कवि गुन कह्यो बखानि।[22]

कवि ने अपना तथा अपने आश्रयदाता का कुछ भी परिचय अपनी कृति में नहीं दिया है। संभव है, कवि ने उक्त रचना स्वांतःसुखाय लिखी हो और वह किसी का आश्रित न रहा हो।

कवि महेशदास का उद्देश्य केवल इतिहासविश्रुत वीरवर हम्मीर तथा अलाउद्दीन का यशोगान करना है।[23] जोधराज की तरह अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना नहीं है। तभी 'महेश' की रचना अपने आप में एक उत्कृष्ट रचना बन गई है। इस रचना में कवि ने तत्कालीन समाज में बहुप्रचलित कथा को आधार माना है। यदि इस रचना के सन् संवत् इतिहास से मेल नहीं खाते हैं तो भी इसमें रचयिता का इतना दोष नहीं है जितना आज समझा जा रहा है। रासो काव्य है, इतिहास नहीं, और उन दिनों आज की तरह जनसाधारण में ऐतिहासिक अभिरुचि भी नहीं थी।

जोधराज ने अपने चातुर्य से महेशकृत रासो का लाभ उठाया। जीवितावस्था में प्रचुर धन एवं यश उपलब्ध किया। मरणोपरांत वर्तमान काल के आलोचकों के मिष्ट कटु निर्णय प्राप्त किए, परंतु सत्य को छुपाने का लाख प्रयत्न करने पर भी वह छुप नहीं सकता है। आज जोधराज 'हम्मीररासो' का रचयिता नहीं रहा। हाँ, अलबत्ता जोधराज को हम्मीररासो का परिष्कारक कहा जा सकता है, क्योंकि इन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति के योग से महेशकृत रासो को सुंदर से सुंदरतम बनाने का प्रयास किया है। रस, अलंकार भाव, भाषा छंद सभी में कुछ न कुछ नवीनता उत्पन्न करने की चेष्टा की है। 'मौलिक प्रतिभा जोधराज में नहीं थी,'[24] श्री तोमर का यह आलोचनात्मक निर्णय आज प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध हो गया है।

*

२२ महेश—ह० रा०, छं० सं० १३

२३— आदि भवानी अंबिका, बरदे सुरसति माय।
अलाउद्दीन हम्मीर के, कहूँ कछु गुन गाय ॥—छं० सं० १८

२४. श्री तोमर—हिंदी वीरकाव्य, पृ० ५३।

राम-काव्य-धारा का एक दुर्लभ बृहत् काव्य

डा० गोपीवल्लभ नेमा

गोस्वामी तुलसीदास जी के पश्चात् राम-चरित्र को लेकर अनेक काव्य विरचित हुए। रीतिकालीन मुक्तक प्रवृत्ति के साथ साथ प्रबंध-कारिता के उदाहरणस्वरूप ये काव्य अपना महत्व रखते हैं। इस संदर्भ में 'रामरसामृतसिंधु' (कृपानिवास) प्रबंधकाव्य उल्लेखनीय है। यह रचना ऐसे रचनाकार की है जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल कल्पित कवि घोषित कर चुके हैं तथा जिसे परवर्ती इतिहासकार स्वीकार कर भी कृतित्व की दृष्टि से नगण्य समझते आए हैं। आज से छह वर्ष पूर्व डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एवं डा० भगवतीसिंह द्वारा जिसका संक्षिप्त परिचय ही हिंदी संसार को प्राप्त हो सका है। इस उपेक्षा का प्रमुख कारण था कवि का रामानंदी संप्रदाय की शृंगार धारा से संबद्ध होना। वास्तव में कवि का 'रामरसामृतसिंधु' संप्रदाय से ऊपर उठकर जीवन की मार्मिक अनुभूतियों को हृदयंगम कराने में समर्थ है। क्योंकि संप्रदाय की शृंगारधारा कवि के बहुत पहले ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी, इस कारण उसे कल्पना के असीम साम्राज्य में झाँकने का पर्याप्त अवकाश था। अतः 'रामरसामृतसिंधु' 'रामचरितमानस' की भाँति चरितकाव्य न होकर कल्पना प्रधान काव्य है।

रचनाकार एवं रचना का परिचय

'रसिकप्रकाश भक्तमाल' (जीवाराम युगलप्रिया) में कृपानिवास जी का उल्लेख रामसखेजी (रचनाकाल सं० १८०४) के पश्चात् किया गया है। इसकी पुष्टि उनकी 'रासपद्धति' से होती है जो रामसखेजी की इसी नाम की संक्षिप्त रचना का अनुसरण कर भाव एवं कल्पनायोजना की दृष्टि से उससे आगे है। इसी भक्तमाल की टीका में महादेव सिंधिया नरेश की उज्जैन में आपसे भेंट का भी उल्लेख हुआ है। यह नाम महादाजी सिंधिया का ही रूपांतर है जिनका मृत्यु सं० १८४१ है। अतः इस समय तक कृपानिवास जी अपनी रचनाओं के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इस कारण उनका रचनाकाल सं० १८०५ से १८४५ के मध्य है। मिश्रबंधु उनका रचनाकाल अनुमानतः सं० १८४३ मानते हैं। इस निश्चित सं० के विरोध में संप्रदायमान्य 'कृपानिवास जी को रहस्योपासना' ग्रंथ की मान्यता है कि कृपानिवास जी का निधन सं० १८३५ है अतः तथ्यों की एकता की दृष्टि से उनका रचनाकाल सं० १८०५ से १८३५ तक ठहरता है। कृपानिवास जी की उन्नीस रचनाएँ मेरे देखने में आई हैं। इनमें से निम्नांकित सात रचनाएँ काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं—

(१) रामरसामृतसिंधु	(५) रासपद्धति
(२) प्रार्थनाशतक प्रीतिप्रार्थना	(६) रहस्योपास्य
(३) युगलमाधुरी प्रकाश	(७) वसंतविहार
(४) लगन पच्चीसी	

लगनपच्चीसी और रासपद्धति बहुत पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी है। प्रीतिप्रार्थना का प्रकाशन गत वर्ष ही 'भारतीय साहित्य' में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा हुआ है। शेष सब हस्तलिखित हैं। 'रामरसामृतसिंधु' की एक प्रति उज्जैन में, एक छतरपुर में तथा दो अयोध्या में उपलब्ध है। छतरपुरवाली प्रति का प्रतिलिपिकाल सं० १९५२, हनुमत्निवास, अयोध्या की प्रति का सं० १९४६ और उज्जैन के कृपानिवास मंदिर की प्रति का सं० १८४३ है। हनुमत्निवास की प्रति की पत्रसंख्या १९५, आकार १३ ५"+६-५" एवं अनुष्टुप छंद सं० ११९९२ है। ग्रंथ की भाषा अवधी है।

इस ग्रंथ में श्रीराम का जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक का वर्णन किया गया है। इसका प्रधान उद्देश्य श्रीराम की दिव्य प्रेम-भावना का निरूपण करना है। इस निरूपण में

कवि ने अपनी कल्पनाशक्ति का भी सम्यक् प्रयोग किया है। मुख्य कथा में समिलित ऐसे प्रसंगों में से कतिपय इस प्रकार है—

(१) श्रीजानकी का श्रीराम को शुकी द्वारा प्रणयपत्रिका भिजवाना एवं योग-माया द्वारा श्रीराम-जानकी-मिलन एवं रास तथा स्वस्थानगमन।

(२) विश्वामित्र ऋषि को राम-प्राप्ति-हेतु दिव्य प्रेरणा होना।

(३) पुष्पवाटिका-मिलन के पश्चात् श्रीराम-जानकी का संकेत स्थल पर मिलन।

(४) धनुर्भंग के पश्चात् श्रीराम एवं लक्ष्मण द्वारा विवाह कार्य में बाधक राजाओं का दलन।

(५) वनवास-वर-प्रसंग के स्थान पर श्रीराम, सीता एवं लक्ष्मण का वनविहार के लिये चित्रकूट को प्रस्थान।

उपर्युक्त प्रसंगों में से प्रथम तीन सीताराम प्रणय की पीठिका उपस्थित करते हैं। इनके कारण उनके प्रेम के क्रमिक विकास की व्यंजना हुई है जिससे शेष कथा अधिक भावमय एवं सशक्त बन गई है। चौथा प्रसंग श्रीराम के वीरत्व का परिचायक है। जनकपुर-वासी उनके सौकुमार्य एवं शील पर तो मुग्ध थे ही परंतु उन्हें इस प्रसंग द्वारा श्रीराम की अकल्पनीय तेजस्विता के भी दर्शन हुए। अतः श्रीराम के अद्भुत नायकत्व के प्रतिपादन में इस प्रसंग का विशेष महत्व है।

पाँचवें प्रसंग की योजना द्वारा कवि ने कैकेयी महारानी को कलंकित होने से बचा लिया है। कवि ने राम की वनविहारेच्छा को वनवास का कारण बताया है। यद्यपि ऐसा करने से कथा की ऐतिहासिकता का विरोध हुआ है। परंतु आनंदवादी भावना को ध्यान में रखते हुए यह घटना आपत्तिकर नहीं है। ध्वन्याचार्य श्री आनंदवर्धन ने इतिवृत्त की अपेक्षा मूल भावनानुकूल कथासंघटना पर बल दिया है।[२]

रसयोजना—

इस काव्य में बीभत्स और भयानक रसों को आनंदवादी भावना के कारण स्थान नहीं दिया गया है। वात्सल्य, शृंगार और वीर काव्य के मुख्य रस हैं। संसार की नश्वरता के परिचय के लिये अत्यंत प्रासंगिक रूप में शांत एवं करुण को स्थान दिया गया है। वात्सल्य का का परिपाक विशेषतः हनुमान के साथ बालक राम की क्रीडा में परिलक्षित है—

कबहिं नचावै हँसि किलकावै।
मोदक कर कौतुक ललचावै॥
करि शृंगार प्यार भर प्यारे।
थकि रहे तकि रहे संकित बारे॥३

शृंगार रस तो काव्य का मूल आधार ही है। उसमें पूर्वराग, संयोग और विप्रलंभ के मौलिक चित्रों का भावपूर्ण अंकन किया गया है। प्रेम के प्रथम वर्णन से ही रास का वातावरण उसका अभिन्न अंग हो जाता है। यहाँ रास को दिव्य-चेतना-बोध के लिये इतने अनिवार्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह दिव्य चेतन पूर्व से ही जड़ चेतन में बीजवत् विद्यमान है। केवल आदर्श प्रेमी राम के सांनिध्य से उसमें भावमयता आ जाती है। संचारी, अनुभाव और हाव को मूर्तिमान करने की क्षमता रास की अपनी विशेषता है। इस कारण उसे आनंद-वादी कवि ने रामचरित्र के साथ विशेषतः सांकेतिक दृष्टि से जोड़ दिया है।

इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कवि का सजीव प्रेमांकन है। पूर्वराग की स्थिति में एक दिन व्याकुल होकर सीता अपने हृदयहार को शुकी द्वारा प्रणयपत्रिका भेजती हैं। पत्रिका की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

प्रीति रावरी आनि मोहिं
करी बावरी प्रान।
बेगि भाँवरी जोरि प्रिय
तोरि दाँवरी कान॥४

यह प्रेम उभयपक्षीय है। श्रीराम की भी यही स्थिति है—

सिय दृग-कमल छक्यो मन मधुकर॥
किधौं चंद्रमुख लग चकोर वर॥
प्रीति फाँस फँस दुमन बटोई।
जार जार गसि के जमि सोई॥५

विवाह के पश्चात् भी यह आकर्षण बना रहता है। रूपासक्ति की भावना रूपजल से तृप्ति नहीं मानती। रति और सौंदर्य का अद्भुत भाव यहाँ भी देखने को मिलता है। अतः विप्रलंभ केवल मान एवं मानांतर्गत श्रीराम के अदृश्य होने के प्रभाव तक सीमित है। यह वियोगानुभव जानकी-प्रेम-प्रसंग में न होकर सुरकन्याओं के साथ रास के प्रसंग में वर्णित है। रावण द्वारा छाया जानकी के हरण के कारण यहाँ भी वियोग पूर्णतः उपस्थित नहीं है।

रामरसामृत में वीर रस के भी प्रसंग उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ जब धनुर्भंग करने पर भी क्रूर एवं दुष्ट नरेश सीता को बलपूर्वक छीन लेना चाहते हैं और एकत्र होकर श्रीराम-लक्ष्मण को ललकारते हैं तो रंगभूमि युद्धभूमि में परिणत हो जाती है। निम्न पंक्तियों में राजाओं का युद्धोत्साह चित्रित किया गया है—

वाहन चढ़ि सब साज समाजा।
अस्त्र शस्त्र धरि ठाढ़े राजा॥
सेना सहित निसान बजाये।
धुज पताक अगनित फहराये।
+ + +
मार मार धर रव सब करहीं।
बायू भइ रोगी जनु मरहीं॥[६]

प्रकृति का रसमय रूप —

प्रस्तुत ग्रंथ में प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप का प्रायः वर्णन हुआ है। रास की जो प्रकृति सजीव हो शृंगार चेष्टा सी करती प्रतीत होती है वही अन्तर्ध्यान लीला में दंशकारक प्रतीत होती है। शीतल मलयानिल सर्प के निश्वास सा शरीर को दग्ध करता है।[७] काव्यसौष्ठव की दृष्टि से प्रकृति के आलंकारिक वर्णन की ओर भी कवि सचेष्ट रहा है। एक उदाहरण देखिए—

पूरण चंद चाँदनी छाई।
मनु दशरथ की रति सुधराई॥
प्रसर मरीचि दिशा दस मंडित।
मनु स्यामा कुच कुंकुम रंजित॥
कर पीयूष कन पुहुमी पोषी।
नाह नेह नव लाजनु तोषी॥
दमकै सलिल धरा प्रतिबिंबित।
मुकुर लसै रति मुख जनु चुंबित॥
विकसे कंज कमोद सरिता सर।
नाह निरखि जनु नेही हगवर॥[८]

उपासना तत्व—

भजनमहिमा, सखी भाव-महिमा, अवध-महात्म्य आदि के वर्णन भी काव्य में यत्र तत्र स्थान पा गए हैं। विभीषण की राज्यप्राप्ति के पश्चात् इस ओर कवि की विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है। संभवतः वह आनंदभावना के साधना पक्ष को भी समान महत्व देने के लिये इन्हें अंत तक प्रतिपादित करता है।

अंततः रामरसामृतसिंधु के अनंदवादी दृष्टिकोण की सीमाओं के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि रीतिकालीन हिंदी साहित्य में वह स्वस्थ्य एवं आध्यात्मिक प्रेरणा का वाहक है।

संदर्भ

१. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ७६८।
२. इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट – रसोचित – कथोन्नयः
– ध्वन्यालोक, ३।११।
३. रामरसामृतसिंधु, पत्रसंख्या—४५ (प्रथम प्रवाह)
४. वही, पत्रसंख्या — ७२ (प्रथम प्रवाह)
५. ,, ,, — ७१ (प्रथम प्रवाह)।
६. ,, ,, — ५६ (तृतीय प्रवाह)।
७. ,, ,, — १० (द्वितीय प्रवाह)।
८. ,, ,, — १४ (प्रथम प्रवाह)।

साँया झूला कृत नागदमण

डॉ० अंबाशंकर नागर

चारण कवि साँया झूला कृत नागदमण पवाडा काव्य है। कवि ने मंगलाचरण में कहा है—

पौवाडो पन्नगां तणों अनुपति कीनो आय

गुजराती और मराठी भाषाओं में इस काव्यरूप का विशेष प्रचलन है। पवाडा शब्द संस्कृत प्रवाद, प्र०पोढ से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। इन काव्यों में ओजस्वी शैली में वीरों के आक्रमणों का वर्णन स्तवन रहता है। जनकवि जगनिक कृत आल्हा भी एक तरह से पवाडा ही है। प्राचीन पवाडों में राव लूणकरण री पवडी, असाइत कृत हंसवच्छचरित पवाडो, संवत १४७२ तथा हीराणंद सूरि कृत विद्याविलास पवाडो (संवत १४८५) मुख्य हैं।

नागदमण काव्यपरंपरा

कृष्ण की लीलाओं में नागदमण, नागलीला, कालियादहनलीला अथवा कमललीला का विशिष्ट महत्व है। इसका वर्णन भागवतपुराण, विष्णु पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी प्राप्त होता है। इन विभिन्न सूत्रों से प्राप्त कृष्णजीवन के इस प्रसंग को हिंदी तथा गुजराती के कवियों ने अपने अपने दृष्टिकोण से ग्रहण करके अभिव्यक्त किया है।

हिंदी (ब्रजभाषा) में इस परंपरा का प्रारंभ सूरदास की कालियदमन लीला से होता है।[1] लोककंठ में समाया हुआ सूर का एक पद अवलोकनीय है—

तांडव गति मुंडन पर निर्तत बनमाली।
थंथंथं पग पटकत फंफंफं फनन ऊपर। बिंबिंबिं बिनती करत नागबधू आली।
संसंसं सनकादिक नंनंनं नारदादि। गंगंगं गंधर्व सभी देत ताली।
सूरदास प्रभु की बानी किंकिंकिं किहू न जानी। चंचंचं चरण धरत अभय भयो काली।

सूरदास के समकालीन गुजराती कवि नरसी मेहता ने भी इस लीला का संक्षिप्त किंतु हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी नरसीकृत नागदमण गुजरात के लोककंठ में समाया हुआ है।

१. देखिए—सूरसागर, ना० प्र० सभा, पृ० ४४० से ४६१।
२. देखिए—रागरत्नाकर, भक्तचिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० २१, कालीदमन-लीला, पद १२६।

नरसी मेहता के पश्चात् अनेक वैष्णव कवियों ने नागदमण विषय पर गुजराती में काव्य रचे हैं। कवि श्री दयाराम ने सूरदासकृत कालियदमनलीला का पद्यानुवाद किया है।[1] जिससे इस प्रसंग की लोकप्रियता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कविपरिचय

चारण कवि श्री साँया झूला का जन्म संवत् १६६२ में ईडर राज्यान्तर्गत लीलछा नामक ग्राम के चारण श्री स्वामीदास के यहाँ हुआ था और स्वर्गवास संवत् १७०३ में हुआ था। बाल्यकाल से ही ये बड़े प्रतिभासंपन्न एवं प्रत्युत्पन्न मतिवाले थे। भगवद्भक्ति में भी प्रारंभ से ही इनकी रुचि थी। बड़े होने पर इन सद्वृत्तियों का समुचित विकास हुआ और ये चारण समाज में समादृत हुए। इनके आश्रयदाताओं में दानवीर वीरमदेव जी और कल्याणमल जी का नाम उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम गोविंददास था।[2]

कवि श्री साँया झूला विरचित दो ग्रंथ उपलब्ध हैं एक रुक्मणीहरण और दूसरा नागदमण। ऐसा प्रसिद्ध है कि पृथ्वीराजकृत वेलीकृष्णरुक्मणीरी और साँया झूला के रुक्मणीहरण दोनों को सुनकर अकबर ने कहा था, पृथ्वीराज की वेली को साँया का हरण चर गया। इस उक्ति की प्रामाणिकता एवं सत्यता के संबंध में कुछ न कहकर हम इतना ही कहेंगे कि साँयाकृत रुक्मणीहरण भावसौंदर्य एवं भाषावैभव की दृष्टि से एक सुंदर रचना है। इसमें कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण वर्णित है। शकुन, संगीत, ज्योतिष आदि शास्त्रों की जानकारी से लेखक ने लोकप्रचलित कथा को एक नया रूप प्रदान किया है। अंगी रस वीर है। रसानुकूल पदयोजना एवं भावानुकूल भाषा के द्वारा कवि ने मार्मिक प्रसंगों का हृदयग्राही चित्रण किया है।

कृतिपरिचय

कवि का दूसरा ग्रंथ नागदमण है। जो अत्यंत लोकप्रिय एवं कलात्मक है। साँया झूला की प्रसिद्धि का आधार भी यही ग्रंथ है। इस ग्रंथ में ४ दोहे, १२५ भुजंगप्रयात और एक छप्पय, इस प्रकार कुल १३० छंद हैं। पूरा ग्रंथ एक सूत्र में गुंफित है। इस दृष्टि से देखने पर यह काव्य सुगठित लघु प्रबंध प्रतीत होता है, जिसमें मार्मिक प्रसंगों का संवादात्मक शैली में बहुत ही सुंदर एवं स्वाभाविक चित्रण हुआ है। काव्य की सबसे बड़ी विशिष्टता चित्रोपमता है। कवि जिस वस्तु, व्यक्ति, दृश्य अथवा प्रसंग को लेता है उसका हूबहू चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। उदाहरणार्थ कृष्ण का गायों को वन की ओर लेकर जाना, श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये गोपियों की विह्वलता, कृष्ण का सौंदर्यवर्णन, कालियनाग की विकरालता एवं क्रूरता, कृष्ण की कोमलता एवं कमनीयता, नागरानियों की कृष्ण को सीख, द्वंद्व-युद्ध वर्णन आदि प्रसंग बहुत ही प्रभावोत्पादक हैं।

१. प्राचीन काव्यमाला, भाग १३, पृ० १ से २६।
२. नागदमण पद नं० १२७।

कथासार

यशोदा श्रीकृष्ण को जगाती है। प्रेम से जिमाकर गोचारण के लिये भेजती है। मार्ग में गोपियाँ आ आकर अपनी गायों को श्रीकृष्ण के सुपुर्द करती है। कुछ उनकी रूपमाधुरी का पान करने के लिये चौराहों पर खड़ी हैं। कुछ अटारियों एवं झरोखों से झुककर झांक रही है। झुकने के कारण उनकी माँग का सिंदूर गिरकर श्रीकृष्ण के मार्ग को रागरंजित कर रहा है। कृष्ण यमुना तट पर पहुँचकर गोपवृंद के साथ गेंद खेलते हैं। गेंद कालियदह में गिर पड़ती है जिसे निकालने के लिये वे तुरंत कूद पड़ते हैं। यह देखकर गोपवृंद घबरा जाते है। कृष्ण के माता पिता तथा समस्त ब्रजवासी सूचना पाकर वहाँ दौड़ आते हैं और कृष्ण से लौट आने की प्रार्थना करते हैं पर कृष्ण नहीं लौटते। वे गहरे पानी में पैठकर नागरानियों के पास पहुँच जाते है। वे श्रीकृष्ण के अमल स्वरूप पर मुग्ध हो जाती हैं और उन्हें समझा बुझाकर लौटाना चाहती हैं पर श्रीकृष्ण नहीं मानते। नागरानियाँ अंत में नाग को जगाती हैं। दोनों में भयंकर युद्ध होता है। धरती धूजती है, पवन वेग से चलने लगता है। सारा वातावरण आतंकित हो जाता है। अंततोगत्वा कृष्ण विजयी होते है। वे नाग को नाथ लेते हैं और उसके फन पर नृत्य करते है। नागरानियों की प्रार्थना स्वीकार करके वे नाग को जीवनदान देते है। ब्रजवासियों की प्रसन्नता का पार नहीं रहता। प्र कारा ने सुना गानों हैं। यह देखत कंप चकित रह जाता है।

इस कथासार से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांयां झूला ने परंपरागत कथा में अपनी सूझबूझ के अनुसार थोड़ा परिवर्तन किया है। जिन प्रसंगों में उनका मन रमा है उनका उन्होंने सविस्तार वर्णन किया है, शेष का उल्लेख मात्र कर दिया है। श्रीकृष्ण के कालीदह में कूद पड़ने पर ग्वालबालों तथा नगरवासियों में जो खलभली मची उसका प्रभावपूर्ण वर्णन देखिए—

अवूनाथ काली सभी बाथ ओड़े,
यणो मांम चाली चड़ी बाल छोड़े,
ऊभा गाय गोवाल मूरंत ओर,
हहाकार हक्कार संसार सारे ॥ १५ ॥

सुखे बात आघात माता सनेही,
जशोदा ढली कदली खंभ जेही,
सबाहे सखी छार हाली सयाणी,
रहाणी विषाले थकी नंद राणी ॥ १६ ॥

तबे नंदरी नारि आहीर टोले,
खड़े आपड़े हेक हेका खलोले।
जुवे जोषिता जुथथ मेली जसूदा,
बपैयो हुई कावड़ो मेघ बूंदा ॥ १७ ॥

बहू लोचने नीर धारा बहंती,
कनैयो कनैयो जसोदा कहंती।
कालिंदी तणे आइ लोटंत कांठे
गयो जाणी चिंतामणी रंक गांठे ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण के जिस मनोमुग्धकारी रूप को देखकर नागरानियाँ मोहित हो गईं उसका वर्णन भी द्रष्टव्य है—

हुवे नासिका लग्ग दीपक्क पूरी।
कली चंप जाणे लखी छांप केरी ॥
नवे नेह दीरघ्घ पंकज्ज नेत्रे।
सुभा मीन खंजन्न मृग्गी सवेत्रे ॥ १६ ॥

इस रूप को देखकर नागरानियाँ कहती हैं—अरे तू यहाँ कहाँ से आ गया, यहाँ क्या काम है? क्या तू रास्ता भूलकर सर्प के घर आ गया है? हाय हाय, आज यह बकरी बाघ की गुफा में कहाँ से चली आई—

कठा हूंत आयो अठे काज केहा
अहा भूलियो बापरा साप गेहा
× × ×
महा काल काली न को बाल माने
पड़ी बोकरी आज हा काल पाने ॥ २१ ॥

नागरानियाँ बहुत समझाती हैं, डराती हैं, पर कृष्ण विचलित नहीं होते। वे कहते हैं—मैं कबसे प्रतीक्षा में हूँ, कहाँ है नाग? बुलाओ, जगाओ, हारना जीतना तो कर्तार के हाथ है, पर जरा हमारा द्वंद्वयुद्ध तो देखो —

कहूका खड़ा बाहरं नाग काछे
अमा बागणी पत्तरां कूक आछे।
बुलाओ जगाओ जुधो जुद्ध बाथे
हार्या जीतिआं बात कर्तार हाथे ॥ २१ ॥

नागरानियाँ नाग को जगाती हैं। भयंकर द्वंद्वयुद्ध होता है। इस युद्ध का वर्णन कवि ने बहुत ही ओजस्वी शब्दों में किया है। इस वर्णन में भावसौंदर्य के साथ साथ भाषावैभव एवं नादसौंदर्य भी देखने योग्य है। केवल सिद्धहस्त कवियों से ही इस प्रकार की विलक्षण शब्द-योजना की आशा की जा सकती है —

तिसी तंत ताती बजी ताल ताली
मँड्या आव धोरं भिर्यो बन्नमाली।
तताथै तताथै तताथै ततागं
डरं धंतये धंजयं धुम्म मागं ॥११०॥

गिड़्यो गिड्ड थी गिड्ड गाजे
काळी नाथियो उपरे नित्त काळी,
वळी रंभ नाटारंभ अंक वाळी ॥१११॥

छंदयोजना, अलंकारयोजना एवं रसनिरूपण की दृष्टि से भी यह काव्य एक सुंदर एवं सरस रचना है।

भाषाविवेचन —

नागदमण की भाषा डिंगल है। १७वीं शती की साहित्यिक डिंगल का यह अच्छा उदाहरण है। डा० टेसीटरी ने डिंगल को अनियमित, गँवारू तथा साहित्यशास्त्र का अनुसरण न करनेवाली भाषा कहा था। इस ग्रंथ की भाषा का अवलोकन करने से डिंगल के संबंध में फैलाई गई भ्रांतियों का [illegible] हो जाता है। डिंगल का जो स्वरूप इस ग्रंथ में उपलब्ध है वह नियमित, [illegible]-शास्त्र-संमत है।

कवि ने डिंगल भाषा के [illegible] छंद भुजंगप्रयात में इस काव्य की रचना की है। यह छंद डिंगल कवियों का प्रिय छंद है। यद्यपि डिंगल कवियों ने वर्णवृत्तों में से मंदाक्रांता शार्दूलविक्रीडित, उत्काराम आदि छंदों का प्रयोग किया है तथापि उनका सर्वाधिक प्रिय छंद गति के वैशिष्ट्य के कारण भुजंगप्रयात ही रहा है। साँया जी ने इस छंद का उचित प्रयोग एवं निर्वाह तो इस रचना में प्रारंभ से अंत तक किया ही है, साथ ही वयण सगाई से विभूषित करके छंद के गतिसौंदर्य के साथ नादसौंदर्य का भी समावेश कर दिया है। सारे ग्रंथ में वयण सगाई का निर्वाह सिद्धहस्त कवियों के द्वारा ही संभव हो सकता है, क्योंकि इसके लिये भाषा, छंद और अलंकार तीनों पर समान रूप से प्रभुत्व अपेक्षित रहता है। छंदयोजना और वयण सगाई के कुछ उदाहरण देखिए —

विहाणे नवे नाथ जागो वहेला,
हुवा दोहिवा धेन गोवाल हेला।
जगाडे जशोदा जदूनाथ जागो,
महीं माट घूमे नवे निद्धि मागो ॥ १ ॥

उपर्युक्त छंद के प्रत्येक चरण में प्रथम तथा अंतिम शब्द का प्रारंभ एक ही वर्ण से होता है। साधारण दृष्टि से इसे अनुप्रास अलंकार का एक भेद कहा जा सकता है, पर इस वर्णमैत्री को डिंगल कवियों ने वयण सगाई कहा है तथा उसका प्रयोग डिंगल-काव्य-रचना में अनिवार्य माना है। साँया जी ने १२५ छंदों के नागदमण काव्य में प्रारंभ से अंत तक इस नियम का पालन किया है।

वयण सगाई के अतिरिक्त काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग भी बहुत ही सुंदर एवं सुचारु रूप से किया गया है।

जैसा, ऊपर कहा जा चुका है, प्रस्तुत काव्य की भाषा साहित्यिक डिंगल है, जिसमें जूनी गुजराती का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में है, किंतु गुजराती के इस प्रभाव से भाषागत सौंदर्य की वृद्धि ही हुई है। गुजराती संज्ञाएँ, क्रियाएँ एवं विभक्तियाँ जहाँ कहीं प्रयुक्त हैं वहाँ बहुत ही उचित एवं भावाभिव्यंजक हैं।

शब्दों की तोड़फोड़ डिंगल के कवियों की सामान्य प्रवृत्ति है। इस काव्य को भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं कहा जा सकता। छंदयोजना, वयण सगाई एवं अनुप्रास के निमित्त यहाँ भी शब्दों को खूब तोड़ा मरोड़ा गया है जिससे भाषा में अत्यधिक क्लिष्टता आ गई है।

सारांशतः यह काव्य डिंगल भाषा में लिखा गया एक संक्षिप्त किंतु सरस प्रबंध (काव्य) है। जिसमें वीर रस की सरस निष्पत्ति, सुंदर, मनोरंजक भाव, चमत्कृत शैली, मनोरंजक कल्पना, चित्ताकर्षक चित्रोपमता, मधुर संगीतात्मक छटा है।

स्मृतिकाल में वैदिक एवं पांचरात्र विचारधारा का संबंध

प्रो० सिद्धेश्वर[illegible] अरे तू यहाँ

अनिश्चित काल से भारतीय सांस्कृतिक धरातल पर दो विचारधाराएँ—वैदिक एवं आगमिक-समानांतर रूप से प्रवाहित होती रही हैं जिनके उद्भव के बारे में मौन रहना ही उचित जान पड़ता है, यद्यपि इनके विकसित स्वरूप की झाँकी हमें तत्‌ तत्‌ ग्रंथों में उपलब्ध होती है। वैदिक विचार धारा का मूल स्थान वैदिक साहित्य है जिसमें चारों वेदों की संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों का समावेश होता है। स्मृतिकाल में यही विचारधारा, श्रौत, धर्म, गृह्य एवं दर्शनसूत्रों तथा रामायण महाभारतादि इतिहास ग्रंथों एवं पुराणों में प्रस्फुटित और विकसित हुई है। इस विचारधारा का मूल एवं प्रारंभिक स्वरूप सुनिश्चित है और इसके बारे में सामान्य पाठक को पर्याप्त जानकारी है। इसी को ब्राह्मण संस्कृति की संज्ञा प्रदान की गई है।

इसके विपरीत आगमिक संस्कृति का मूल एवं प्रारंभिक स्वरूप अनिश्चित और विवादास्पद है। आगमिक विचारधारा के सिद्धांतों, मान्यताओं, परंपराओं तथा धार्मिक क्रियाओं के बारे में जिन ग्रंथों से हमें आज जानकारी प्राप्त होती है, उनकी अतिप्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती, परंतु इसी आधार पर इसकी प्राचीनता का निषेध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः आगमिक विचारधारा उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक विचारधारा, और भारतीय संस्कृति पर इसका उतना ही गहन एवं विशद प्रभाव है जितना वैदिक संस्कृति का। हिंदू लोकधर्म या पौराणिक धर्म के निर्माण में आगमों का योग अमूल्य एवं अविस्मरणीय है। वैदिक साहित्य के ब्राह्मण ग्रंथों की तरह आगम साहित्य विशेषतः चर्यापाद का अध्ययन सामान्य पाठक को रुचिकर नहीं होता परंतु दर्शन, धर्म एवं साहित्य के विद्यार्थियों के लिये इसका अध्ययन अनिवार्य एवं अपरिहार्य है।[1]

1. डा० विंटरनित्स के शब्दों में, 'दे आर अनपैलेटेबल ऐज रीडिंग, बट इनडिस्पें-सेबल टु द अंडरस्टैंडिंग आव होल आव द लेटर रिलिजंस एंड फिलासफिकल लिटरेचर आव द इंडियंस एंड हाइली इंटरेस्टिंग फार द जेनरल साइंस आव रिलिजन'।—हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ १८७।

जिस तरह वैदिक विचारधारा के मूलस्रोत वेदों को ईश्वरीय उद्घाटन माना जाता है, ठीक उसी तरह आगम साहित्य को भी इसके अनुयायी ईश्वरप्रदत्त मानते हैं। आगम शब्द की उत्पत्ति संभवतः इसी तथ्य को लेकर हुई है।[२] आगम साहित्य के निम्न लक्षण बताए गए हैं—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः॥

सामान्यतः आगम साहित्य में क्रिया, चर्या, ज्ञान और योग इन चार विषयों पर चर्चा की गई है। आगम साहित्य के ग्रंथों को संहिता[३] एवं तंत्र[४] भी कहा जाता है।[५]

---

२ 'आगम शब्द का निर्माण 'गम्' धातु में 'आ' उपसर्ग लगाने से हुआ है, (आङ्+गम्+अच्) जिसका तात्पर्य 'आया हुआ या प्राप्त किया हुआ' (रिवील्ड) होता है; जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

अथवा—

शिववक्त्रादम्बुजायातं पारम्पर्यं क्रमेण तु।
संवोलक्षणं संसिद्धमागममित्यभिधीयते॥

३. 'संहिता' शब्द की व्युत्पत्ति 'धा' धातु के साथ 'सम्' उपसर्ग से हुई है जिसका अर्थ 'एकत्रित करना' होता है। पौष्करसंहिता (४०.१५६) के अनुसार कोई भी ग्रंथ १२००० श्लोकों से युक्त होने पर संहिता कहा जाता है।

४. 'तंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। तंतु—जो तमिल शब्द 'नूल' से अनूदित है—से कुछ विद्वान तंत्र शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं। इस धारणा के आधार पर उनका मंतव्य है कि आगम मूलतः तमिल में रचे गए थे और बाद में उनका संस्कृत में अनुवाद हुआ और इसी कारण इनका आगम नामकरण हुआ है। परंतु यह मत निराधार सिद्ध हो चुका है। काशिकावृत्ति तन् (तनोति), फैलाना, धातु में ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से इसकी उत्पत्ति बताती है। विष्णुसंहिता के अनुसार इसकी उत्पत्ति निम्न है—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तंत्रस्य तंत्रत्वं तंत्रज्ञाः परिचक्षते॥

आगम साहित्य के विभिन्न वर्गीकरण हुए हैं जिनमें हिंदू धर्म के अंतर्गत तीन प्रमुख हैं—शैव, शाक्त एवं वैष्णव। इनमें क्रमशः शिव, शक्ति और विष्णु को सर्वोच्च देव और शेष देवों को गौण देव के रूप में वर्णित किया गया है। इन संप्रदायों के अनुयायियों का यह गहन विश्वास है कि इनके आगम ग्रंथ क्रमशः इन्हीं देवों के मुख से निःसृत हुए हैं। इन तीनों संप्रदायों के पुनः कई उपविभाग हो गए हैं जैसे वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत पांचरात्र, वैखानस आदि।

सुदीर्घ काल से वैदिक और आगमिक विचारधाराओं के पारस्परिक संबंधों के बारे में विवाद होता आया है। कट्टर वैदिक एवं कट्टर आगमिक अनुयायियों के बीच सदा से घातप्रतिघात होते आए हैं। यहाँ तक कि वीरशैवानंदचंद्रिका में वैदिक एवं तांत्रिक पथ का अनुसरण करनेवालों को परस्पर स्पर्श या संभाषण करने का निषेध किया गया है।[६] इस तरह दोनों के पृथक् मूल को स्वीकार करते हुए दोनों को भिन्न किंवा विरोधी माना गया है, परंतु कुछ विचारक वैदिक साहित्य से ही आगमसाहित्य के उद्भव को स्वीकार करते हैं। यहाँ हम समस्त आगमसाहित्य को न लेकर वैष्णवागम, जिसे पांचरात्र या भागवत कहा जाता है, पर ही अपना ध्यान केंद्रित कर यह देखने का प्रयास करेंगे कि स्मृतिकाल के विचारकों के वैदिक साहित्य एवं पांचरात्र साहित्य के संबंध के बारे में क्या विचार हैं।

वस्तुतः यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है कि पांचरात्र संहिताओं के रचयिताओं ने अपने विचारों को वेदों पर ही आधारित रखा है, या अपने स्वयं के विचारों को वेदों पर आधारित बतलाकर प्रचारित किया है। परंतु इतना स्पष्ट है कि अधिकांश संहितायें अपने को वेदानुकूल ही घोषित करती हैं। कुछ संहिताएँ वेदों को अपना मूल मानती हैं[७] और कुछ अपने को ही वेदों का मूल मान लेती हैं।[८] परंतु स्मृति एवं पुराण के रचयिताओं में इस विषय

वाचस्पति मिश्र और आनंदगिरि तत् या तंत्र् धातु से इसकी उत्पत्ति मानते हैं जिसका तात्पर्य व्युत्पादन या ज्ञान होता है। वस्तुतः तंत्र शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में बड़ा व्यापक रहा है, जैसे न्यायतंत्र, योगतंत्र, धर्मतंत्र, अर्थतंत्र आदि। संभवतः तंत्र शब्द का तात्पर्य वह शास्त्रीय ग्रंथ रहा होगा जिसमें आचार विचार के सिद्धांतों, परंपराओं, उत्सवों और धार्मिक क्रियाओं का विशद विवेचन किया गया है।

५. सामान्यतः वैष्णव संप्रदाय के ग्रंथों को संहिता, शैव ग्रंथों को आगम और शाक्त ग्रंथों को तंत्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

६. तंत्रेषु दीक्षितो मर्त्यो वैदिकं न स्पृशेत्सदा।
वैदिकश्चापि तंत्रेषु दीक्षितं न स्पृशेत्सदा॥

७. 'मूल-वेदानुसारेण'—ईश्वरसंहिता।

अथवा

'सेतिहास पुराणैस्तु वेद वेदांत संयुतैः'– पौष्करसंहिता

८. 'महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्॥
स्कंधभूता ऋगाद्यास्ते शाखा भूतास्तथा मुने॥'–ईश्वरसंहिता।१,२७॥

में पर्याप्त मतभेद है। कुछ पांचरात्र को वैदिक, कुछ अवैदिक और वेदविमुख घोषित करते हैं।

जो स्मृतियाँ एवं पुराण पांचरात्र का समर्थन करते हैं और उसकी वेदानुकूलता घोषित करते हैं, उनमें विष्णु, भागवत, नारदीय, गरुड़, पद्म, वाराह आदि सात्विक पुराण तथा वसिष्ठ, हारीत, व्यास, जमदग्नि, पाराशर, काश्यप आदि स्मृतियाँ प्रमुख हैं। वाराहपुराण और जमदग्नि स्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि पांचरात्र के बाद वेदमंत्र निरर्थक हो जाते हैं।[९] वाराह पुराण की यह मान्यता कि भागवत या पांचरात्री का स्पर्श, दर्शन या स्मरण करने से चांडाल भी पवित्र हो जाते हैं[१०] और भागवत ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ है।[११] वाराहमिहिर ने बृहत्संहिता में इसी बात का समर्थन किया है।[१२] विष्णुधर्मोत्तर पुराण पांचरात्र को परमात्मा की प्राप्ति का उपयुक्त मार्ग स्वीकार करता है[१३] इन उपरिवर्णित स्मृतियों एवं पुराणों के अतिरिक्त महाभारत, गीता, प्रजापत्यस्मृति, इतिहाससमुच्चय, हरिवंश, वृद्धमनु, शांडिल्यस्मृति और ब्रह्मांड पुराण से श्लोकों को उद्धृत करते हुए प्रमाणसंग्रह में पांचरात्र की प्रामाणिकता प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। श्री एम्बार कृष्णमाचार्य[१४] ने योग याज्ञवल्क्य, जमदग्निस्मृति, उत्तररामायण, महाभारत, वाराहपुराण, भागवतपुराण, ब्रह्मांडपुराण, कूर्मपुराण एवं स्कंदपुराण को उद्धृत करते हुए पांचरात्र की वेदमूलकता को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

इनके विपरीत अधिकांश पुराणों एवं स्मृतियों में, जिनमें कुछ उपरिवर्णित का भी समावेश हो जाता है, पांचरात्र के प्रति घोर विरोधपूर्ण दृढ़ता एवं कटुता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। कूर्मपुराण में इसे 'श्रुतिस्मृतिविरुद्ध' और इसके अनुयायियों को गोहत्या के पाप से कलंकित माना गया है।[१५] स्कंद, पाराशर और सांब पुराण, पांचरात्र में दीक्षित व्यक्ति को ब्राह्मणाधम, घोरपापी एवं पतित कहकर तिरस्कृत करते हैं।[१६] वाराह, कूर्म एवं सांबपुराण का

९. 'अलाभे वेदमंत्राणां पांचरात्रोदितेन वा'।—वाराहपुराण, ६६.११।

१०. वाराहपुराण, २११.६८।

११. „ „ १८१.२०,१८३.२५, १८३.२३।

१२. बृहत्संहिता ६०.१६।

१३. १.७४.३४।

१४. गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में प्रकाशित जयाख्यसंहिता की प्रस्तावना।

१५. १° १२.२५७–२५१; १.१६.११५.११७।

१६. (अ) पंचरात्रे च कापाले तथा कालामुखेऽपि च।
शाक्ते च दीक्षिता यूयं भवेत् ब्राह्मणाधमाः॥—स्कंदपुराण।

(ब) पांचरात्रं प्रशंसन्ति केचित् भागवतं मुने।
केचिच्छाक्तं प्रशंसन्ति केचित् वामं तथैव च॥
अन्यानि यानि शास्त्राणि विरुद्धानि महामुने।
स्वतःप्रमाणभूतेन वेदेनाकृतकेन वै॥
तान्येव श्रद्धया युक्ताः परिगृह्य द्विजातयः।
आचरंति महापापाः युगांते समुपस्थिते॥—पाराशर पुराण।

मंतव्य है कि इस शास्त्र का प्रणयन शिव ने वेदभ्रष्ट लोगों को विमोहित करने के लिये किया था।[१७] इसी तरह भट्टोजि दीक्षित ने 'तंत्राधिकार निर्णय' में वशिष्ठ, लिंग, स्कंद आदि पुराणों से ऐसे श्लोकों को उद्धृत किया है जो पांचरात्र के यथार्थ एवं प्रपंचात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। ब्राह्मण वर्ग में इस प्रकार की जनश्रुति थी कि वासुदेव नामक किसी धूर्त व्यक्ति ने ही पांचरात्र तंत्र को प्रणीत किया है।[१८] बृहन्नारदीय पुराण के चतुर्थ अध्याय और कूर्मपुराण[१९] में पांचरात्र के प्रति घृणा एवं तिरस्कार की भावना इतनी प्रबल रूप से मुखरित हुई है कि वहाँ पांचरात्रियों के साथ की गई चर्चा रौरवनरक को ले जानेवाली मानी गई है। वायु, लिंग, अग्नि और आदित्य पुराणों में भी यह कहा गया है कि पांचरात्र धर्म को स्वीकार कर लेने पर समस्त पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

इसी तरह वशिष्ठ, सूत, विष्णु, शीतातप, हारीत, बौधायन और यम संहिताएँ तथा आश्वलायन, मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ एवं इनपर मेधातिथि, अपरार्क आदि टीकाकार पांचरात्र की अवैदिकता को घोषित कर इसके प्रपंचमय स्वरूप से सावधान करते हैं। अत्रिस्मृति में भागवत वर्ग को कृषकवर्ग से भी निम्न कोटि का बताया गया है।[२०]

कुछ स्मृति एवं पुराण पांचरात्र की आलोचना और तिरस्कार करने में इतने निर्भीक तथा कट्टर नहीं हैं। वे पांचरात्र साहित्य को श्रौत एवं अश्रौत इन दो वर्गों में विभाजित कर अश्रौत

१७ पांचरात्रं भागवतं तंत्रं वैखानसाभिधाम्।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्॥—सांबपुराण॥
द्रष्टव्य, वाराहपुराण ७०.४१; ७१.६; कूर्मपुराण—
१.१२.२७१।

१८. वासुदेवाभिधानेन केनचिद्विप्रलिप्सुना।
प्रणीतं प्रस्तुतं तंत्रं इति निश्चिनुर्मो वयम्॥

१९. पाखण्डिनो विकर्मस्थाम्नामाचारांस्तथैव च।
पांचरात्रान् पाशुपतान् वाङ्मात्रेणापिनार्चयेत्॥
—कूर्म, २.१६.१५

बुद्ध श्रावक निर्ग्रंथाः पंचरात्र विदो जना...
यस्याश्नंति हवींष्येते दुरात्मानस्तु तामसाः।
न तस्य भवेच्छ्राद्धं प्रेत्य चेह फलप्रदम्॥
—कूर्म, २.२१.३२–३३।

२०. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीना कृषिणो भवंति भ्रष्टास्ततो भागवता भवंति॥३८३॥

का ही निषेध करते हैं। पद्मपुराण[२१], भागवतपुराण[२२], अग्निपुराण[२३], वृद्धहारील[२४], हारीतस्मृति[२५] आदि वैदिक एवं तांत्रिक दोनों मार्गों का प्रतिपादन करते हैं, परंतु केवल पद्मपुराण में इसके साथ साथ यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणादि को वैदिक एवं मिश्र मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए और विष्णु के भक्त एवं शूद्र को ही तांत्रिक मार्ग को स्वीकार करना चाहिए।[२६] इसी तरह शिवपुराण की वायुसंहिता[२७] और वाराहपुराण[२८] में भी वैदिक एवं तांत्रिक दोनों मार्गों को स्वीकार किया गया। अपरार्क भी पांचरात्र को अर्द्धांश में ही वैदिक स्वीकार करते हैं[२९] परंतु उनका कथन है कि देवपूजा, मंदिर एवं मूर्तिनिर्माण तथा स्थापन कार्य में नृसिंहपुराण (६२वें अध्याय) में वर्णित पद्धति को ही अपनाना चाहिए, पांचरात्र या पाशुपत विधि को नहीं। देवीभागवत[३१] में कहा गया है कि श्रुति और स्मृति धर्म की आँखें हैं और पुराण उसका हृदय है। जो इन तीनों में घोषित किया गया है वही धर्म है। इनके अलावा अन्यत्र वह धर्म प्राप्त नहीं हो सकता। इसमें अन्यत्र यह भी कहा गया है कि वे सभी शास्त्र जो श्रुति-स्मृति-विरुद्ध हैं शिव के द्वारा लोगों को भुलावे में डालने के लिये रचे गए परंतु इनमें कहीं कहीं पर वेदानुकूल

२१. वैदिकस्तांत्रिको मिश्र श्रीविष्णोस्त्रिविधो मखः।
अयाणामुदितेनैव विधिना हरमर्चयेत् ॥
वैदिको मिश्रको वापि विप्रादीनामुदाहृतः।
तांत्रिको विष्णुभक्तस्य शूद्रस्यापि प्रकीर्तितः ॥-पद्म, ४.८०.३-४।

२२. वैदिको तांत्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितं नैव विधिनां मां समर्चयेत् ॥—भागवत,११.२७.७।
द्रष्टव्य, भागवत ११.३.४७-४८, ११.३.२२।

२३. भागवत ११.२७.७ ही अग्नि ३७.२. ३४ में उद्धृत।

२४. श्रौतस्मार्तागमैर्विष्णोस्त्रिविधं पूजनं स्मृतम् (११.७७)।

२५. श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तांत्रिकी च।

२६. इनमें से कुछ वैदिक और तांत्रिक दो मार्ग ही बताते हैं और कुछ मिश्र मार्ग को भी स्वीकार करते हैं।

२७ उत्तर भाग, २४.१७७।

२८. ६६. ११.।

२९. याज्ञवल्क्यस्मृति टीका, पृष्ठ १३।

३०. ,, ,, पृष्ठ १४, १५।

३१. ११. १.२१-२३।

बातें भी कही गई हैं जिनको ग्रहण किया जा सकता है।[३२] उत्पलाचार्य ने 'स्पंदप्रदीपिका' में वैष्णवागम के अंतर्गत पांचरात्र श्रुति, पांचरात्र उपनिषद् और पांचरात्रसंहिता इन तीन प्रकार के पृथक् साहित्यों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि पांचरात्र श्रुति से उनका तात्पर्य एकायन शाखा से है जिसका उल्लेख पुरुषसूक्त और छांदोग्य उपनिषद् में भी मिलता है।[३३] संभवतः पांचरात्र के अंतर्गत वह एकायन शाखा श्रौत हो और शेष अंश अश्रौत हो। अप्पय दीक्षित वैखानस संहिताओं को श्रौत और पांचरात्र संहिताओं को अश्रौत मानते हैं। मध्ययुग के स्मृति एवं धर्मशास्त्रों के रचयिताओं के पांचरात्र की मान्यता के बारे में विचार कुलरत्नाकर (पृष्ठ २७) में उद्धृत पारिजात नामक ग्रंथ से मिलता है जिसमें कहा गया है कि पांचरात्र तब तक ही प्रमाणस्वरूप है जब तक वह वेदविरुद्ध न हो।[३४] इसी बात का समर्थन सूतसंहिता में मिलता है।[३५]

इस तरह स्मृतिकाल में इस प्रकार की विचारधारावाले व्यक्तियों का एक विशेष वर्ग स्थापित हुआ जो पांचरात्र की प्रामाणिकता एवं वेदानुकूलता को स्वीकार करने लगे थे। इस वर्ग को 'स्मार्त वैष्णव' कहा गया जो वैदिक एवं आगमिक दोनों विधियों को स्वीकार करता था। वृद्ध गौतम (अध्याय ८) तथा 'बृहत्संहिता' में स्मार्त एवं पांचरात्र वैष्णवों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आचाररत्न में भी तीन प्रकार के वैष्णवों का वर्णन मिलता है—(१) वैदिक धर्म का अनुसरण करनेवाले, (२) तांत्रिक धर्म का अनुसरण करनेवाले, (३) दोनों का अनुसरण करनेवाले। संभवतः इसी तीसरे वर्ग द्वारा, जिसे स्मार्त वैष्णव कहा गया है, पौराणिक वैष्णव धर्म की स्थापना की गई, क्योंकि इसमें एक ओर तो पांचरात्रियों की तरह विष्णु की महिमा एवं महत्ता प्रतिपादित करने की सांप्रदायिक

३२. शैवाश्च वैष्णवाश्चैव सौराः शाक्तास्तथैव च।
गाणपत्या आगमाश्च प्रणीताः शंकरेण तु॥
तत्र वेदाविरुद्धांशोऽप्युक्तः क्वचिन् क्वचित्।
वैदिकैस्तद्ग्रहे दोषो न भवत्येव कर्हिचित्॥ द्रष्टव्य ७.१६.२५ से ३१।

३३. नान्यः पंथा अयनाय विद्यते। —पुरुषसूक्त।
······वाको वाक्यमेकायनम्।—छांदोग्य, ७.१.२।
जयाख्य, ईश्वर, परमेश्वर, श्रीप्रश्नादि संहिताओं में पांचरात्र को एकायन वेद के नाम से अभिहित किया गया है (एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि)। नागेश नामक एक अर्वाचीन लेखक का मत है कि एकायनशाखा शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा ही है। काण्वशाखामहिमासंग्रह (हस्तलिपि, मद्रास गवर्नमेंट ओरियंटल लायब्रेरी)। इस बात की पुष्टि जयाख्यसंहिता से भी होती है—काण्वी शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ (१.१०६, जयाख्य)।

३४. पांचरात्र पाशुपतादिन्यपि शास्त्राणि वेदाविरुद्धानि प्रमाणमेवेति पारिजातः।

३५. योंऽशो मार्गाणां वेदेन न विरुध्यते सोंऽश प्रमाणमित्युक्तं। (४.४.१६)।

लगाव है और दूसरी ओर वर्णाश्रम धर्म एवं वैदिक व्यवस्था सुचारु रखने की ममता है। परंतु एक बात उल्लेखनीय यह है कि स्मार्त वैष्णव वर्ग द्वारा प्रतिपादित इस मिश्रित धर्म का यद्यपि सनातन ब्राह्मण वर्ग ने खंडन नहीं किया, तथापि इसे स्वीकार भी नहीं किया। उन्होंने इसे अपने वैदिक धर्म के साथ नहीं मिलाया और न इसे अपने धर्म से श्रेष्ठ ही माना। महर्षि व्यास का मतव्य है कि शुद्ध धर्मप्राप्ति वेद से ही हो सकती है और वैदिक धर्म ही श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर है। जो धर्म पुराणादि में वर्णित है वह निम्न कोटि का ही है।[३६] इसी तरह देवी-भागवत में कहा गया है कि श्रुति, स्मृति एवं पुराण ही धर्म के स्रोत हैं और जो इन तीनों में घोषित किया गया है वही धर्म है, परंतु पुराणों में कहीं पर कुछ बातें ऐसी कही गई हैं जो तंत्रों पर आधारित हैं और हमें उनको स्वीकार नहीं करना चाहिए।[३७] 'व्यवहारमयूख' में कहा गया है कि पुराणों में अनेक स्थलों पर स्मृतिविरुद्ध आचार दिखाई देते हैं।[३८]

उपरिलिखित से यह स्पष्ट है कि स्मृतिकाल के विचारक सर्वसंमति से पांचरात्र की वैदिकता एवं उपादेयता को स्वीकार नहीं करते। यदि हम निष्पक्ष रूप से पांचरात्र वर्ग के उपलब्ध साहित्य के आधार पर तथ्य की समीक्षा करें तो महाभारत से, जिसमें सर्वप्रथम पांचरात्र के बारे में जानकारी प्राप्त होती है, यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पांचरात्र मूलतः अवैदिक ही था, यद्यपि उसे वेदविमुख नहीं माना जा सकता।[३९] इतिहास हमें बताता है कि सदा से ब्राह्मण वर्ग द्वारा पांचरात्र का तिरस्कार किया गया पर पांचरात्रिकों ने निरंतर ब्राह्मण मान्यता एवं वैदिक आधार प्राप्त करने का प्रयास किया है। इसके प्रमाण के रूप में हम पांचरात्र संहिताओं की अपनी वेदमूलकता घोषित करने की उत्सुकता को देख सकते हैं। इसके और भी ज्वलंत प्रमाण यमुनाचार्य रचित 'आगम प्रामाण्य', वेदांतदेशिक रचित 'पांचरात्ररक्षा', 'सेश्वर मीमांसा' आदि, वाधुलवरदाचार्य कृत 'पांचरात्रकरकोद्धार' आदि ग्रंथ हैं। ऐसा ही प्रयास शैवागमों को वैदिक आधार प्रदान करने लिये भट्टारक वेदोत्तम ने तंत्रसुधा और हरदत्त शिवाचार्य ने तात्पर्यसंग्रह में किया है। ब्राह्मण वर्ग द्वारा पांचरात्र को हेय एवं कुत्सित मानने के निम्न कारण प्रमुख हो सकते हैं —

(१) सर्वप्रथम कारण जो पांचरात्र के प्रति घृणा एवं तिरस्कार के लिये उत्तरदायी है, यह है कि पांचरात्र धर्म के अनुयायी अपनी संहिताओं को वेदों से भी श्रेष्ठ या वेदों का मूल मानने लगे थे। वृद्धहारीतस्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि शांडिल्य ने कृष्णोपासना के निमित्त अवैदिक प्रक्रिया के आधार पर एक ग्रंथ का निर्माण किया था।[४०] जैसा भी शंकराचार्य

३६. धर्मशुद्धिमभिप्सद्भिर्नवेदादन्यदिष्यति ।
धर्मस्य कारणं शुद्धं मिश्रमन्यत् प्रकीर्तितम् ॥
अतः स परमो धर्मः यो वेदादवगम्यते ।
अवरः स तु विज्ञेयो यः पुराणादिषुस्थितः ॥

३७. ११.१.२१-२६।

३८. पृष्ठ ६८ 'पुराणेषु स्मृति विरुद्धाचाराणां बहुशो दर्शनात्'।

३९. १२.३३५. २७-२६, १२.३३९.४०।

४०. ११.१८१-१८२।

का मंतव्य है, 'शांडिल्य ने, जो पांचरात्र धर्म के प्रवर्तक थे, वेदों से असंतुष्ट होकर, वेदों में मुक्ति एवं सुख का सहज एवं पूर्ण साधन न पाकर, इस शास्त्र का प्रणयन किया था'। पांचरात्रवर्ग में ऐसी जो मान्यता है उसका तात्पर्य वेदनिंदा एवं वेद विमुखता ही है। पांचरात्र के अनुयायी अपने धर्म के ग्रंथों को ही आदर की दृष्टि से देखते हैं और उन्हीं का श्रद्धा के साथ पाठ करते हैं। यही नहीं, जैसा अपरार्क ने सूचित किया है, यदि ये लोग वेदों का अध्ययन करते हैं तो केवल परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से ही।[४१]

(२) पांचरात्र के तिरस्कार का दूसरा कारण उसमें तांत्रिक क्रिया का प्रवेश है। यह कहना कठिन है कि क्यों और कब इसका प्रारंभ हुआ, परंतु इसकी प्राचीनता निस्संदिग्ध है। तांत्रिक क्रिया अपने उद्गम में पूर्णतः अवैदिक ही है और अपने प्रारंभिक एवं परवर्ती स्वरूप में वैदिक परंपराओं तथा सिद्धांतों के प्रतिकूल भी है। यही कारण है कि तंत्रप्रभावित संप्रदायों की स्मृतियों एवं पुराणों में अत्यंत ही कटु आलोचना एवं भर्त्सना की गई है।

(३) इसका तीसरा कारण पांचरात्रधर्म में अर्चा या प्रतिमापूजा को अत्यधिक महत्त्व देना है। प्रतिमापूजा को यद्यपि स्मृतिग्रंथों में स्वीकार किया गया है और गीता (९.२६) तथा मैत्रेय उपनिषद् (७.७) में भी इसका संकेत मिलता है, परंतु वहाँ पर यह पूजा प्रतीकात्मक ही है। इसके विपरीत पांचरात्रवर्ग, जिन्हें सात्वत के नाम से पुकारा जाता था, व्यवसाय के रूप में मंदिर एवं प्रतिमा का निर्माण और पूजा कर उदरपोषण किया

४१. कुछ तंत्र, जिनमें शैवतंत्र प्रमुख हैं, वेदों को तिरस्कार एवं ग्लानि की दृष्टि से देखते हैं और तंत्र में दीक्षित व्यक्ति को वैदिक क्रियाओं से विमुख रहने का उपदेश देते हैं। इस संदर्भ में अपरार्क ने (याज्ञवल्क्यस्मृति टीका१.७.) किसी ग्रंथ से निम्न पद्य उद्धृत किया है—

दीक्षितस्य च वेदोक्तं आवृधकर्म विगर्हितम्।
इत्येवं वैदिक आवृध क्रिया नादीक्षितैरपि॥

कुलार्णवतंत्र एवं कुब्जिकातंत्र में कलिकाल में तंत्रमार्ग ही श्रेयस्कर एवं उपयुक्त माना है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसंभवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तं कलौ आगम केवलम्॥ —कुलार्णवतंत्र।

कामचूडामणि में वेदों से तंत्रों की श्रेष्ठता बताते हुए लिखा है—

'वेदानां च यथोऽर्थेन न सिद्धिस्तेन जायते।'

कुलार्णवतंत्र और ब्रह्मज्ञानतंत्र वेदों की अपेक्षा तंत्रों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए वेदों की समता सामान्य गणिका और तंत्रों की समता कुलवधू से करते हैं—

वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
या पुनः शांभवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव॥ —कुलार्णवतंत्र।

करते थे।[४२] इन देवपूजा से आजीविका उपार्जन करनेवालों को मनु, अत्रि, व्यास आदि स्मृति में अत्यंत ही हेय, हीन, निकृष्ट, पतित, तुच्छ, चांडाल आदि कहकर तिरस्कृत किया और इनके शव को दृष्टिपात करना भी पाप माना है।[४३] परंतु इन आलोचनाओं का यामुनाचार्य ने घोर प्रतिवाद किया है। इस संदर्भ में वे परमसंहिता का एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि पांचरात्रिक देवपूजा आजीविका के लिये नहीं करते हैं लेकिन संकटकाल में करते हैं।[४४]

(४) चौथा कारण पांचरात्र धर्म में भक्ति के स्थान पर भावावेश, भावातिरेक एवं प्रेमोल्लास का प्राधान्य है। इसमें कहीं कहीं तो भक्ति को 'पंचमपुरुषार्थ' या साध्य के रूप में ही मान लिया गया है। इनके विपरीत वैदिक परंपरा में भक्तिभाव को उपयुक्त स्थान प्रदान करते हुए भी उसका अतिरेक या अतिरंजन नहीं हुआ है। यहाँ भक्ति को सदैव कर्म एवं ज्ञान से अनुगृहीत एवं नियमित रखा गया है।

(५) पाँचवाँ कारण यह है कि प्रारंभिक पांचरात्रसंहिताओं के सिद्धांत और क्रियाएँ ब्राह्मणधर्म के प्रति अनादर एवं उपेक्षा की वृत्ति रखे हुए थीं। सात्वत एवं वृष्णि जातियाँ, जो इसकी अनुगामिनी थीं, ब्राह्मणपरंपराओं का खंडन एवं निषेध करने के लिये इतिहास में सुविदित है।[४५]

४२ यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' (पृष्ठ ८) में ब्रह्मपुराण को उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि सात्वतराजाज्ञा से मंदिर में पूजा करते हैं। यहाँ यामुनाचार्य स्वीकार करते हैं कि सात्वतों को देवलक के नाम से पुकारकर तिरस्कृत किया जाता है और देवलक की निम्न व्याख्याएँ भी दी गई हैं—

'देवकोशोपजीवी यस्स देवलक उच्यते।'

और 'वृत्यर्थं पूजयेद्देवं त्रीणि वर्षाणि यो द्विजः।
स वै देवलको नाम सर्वकर्मसु गर्हितः॥' (पृष्ठ ९)।

(अ) वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥
पंचमः सात्वतो नाम विष्णोः आयतनं हि सः।
पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतास्मृता॥ —मनु।

(ब) चिकित्सकं च पतकं च पूर्वं देवलकं शवम्।
भुञ्जानो नैवयेद्विप्रो दृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ —अत्रि।

(स) आह्वायका देवलका नक्षत्रग्रामभाजकाः।
एते ब्राह्मण चांडाला महापथिक पंचमाः॥ —व्यास।

४४ आपद्यपि च कष्टायां भीतो दुर्गतोऽपि वा।
पूजयेन्नैव वृत्त्यर्थं देवदेवं कदाचन।

४५ अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य, अंग्रेजी अनुवाद, शामशास्त्री, पृष्ठ १३८।

(६) छठा कारण यह था कि पांचरात्रवर्ग द्वारा स्त्री एवं शूद्र को धर्म में प्रवेश, दीक्षा एवं ईश्वरपूजा का अधिकार प्रदान किया गया जो वर्णाश्रम धर्म तथा वैदिक व्यवस्था के पूर्णतया प्रतिकूल था। अतः ब्राह्मणवर्ग में इसका घोर विरोध किया गया।[४६] यही कारण है कि मनु, याज्ञवल्क्य एवं आश्वलायन स्मृति में, यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि केवल शूद्र वर्ग ही पांचरात्र के मत्रों का पालन करें। मनु इन्हें पंचमवर्ग अर्थात् शूद्रों से भी पतित कह-कर समाज में निदनीय मानते हैं। इसी समय शूद्रवर्ग का राजकीय महत्व, नंद एवं मौर्य वंश की स्थापना आदि राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं ने भी ब्राह्मणवर्ग को इस धर्म के विरुद्ध सचेत कर दिया था।

(७) अंत में जातिहीन विदेशियों का इस धर्म में मुक्त प्रवेश[४७] वर्णाश्रमधर्म के प्रतिकूल होने से रूढ़िवादी और पुरातनवादी कट्टर ब्राह्मणों के लिये पूर्ण असह्य था। यद्यपि इन विदेशियों ने वैष्णव धर्म को ग्रहण कर भारतीयता को अपना लिया था, परंतु इनकी ब्राह्मण-विरोधी प्रवृत्ति, आचारविचार एवं परंपराएँ अपने सहधर्मियों को प्रभावित करनेवाली थीं, अतः पुराणों में इन्हें न केवल पापी,[४८] म्लेच्छ[४९], अब्राह्मण्य[५०] आदि ही कहकर ठुकरा दिया, बल्कि यह भी आदेश दिया गया कि इन्हें धर्मग्रथों के सार को नहीं बताना चाहिए[५१]।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि पाचरात्रधर्म का मूल एवं प्रारंभिक स्वरूप, तद्विषयक सामग्री उपलब्ध न होने से पूर्णतः अनिश्चित एवं विवादास्पद है और निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पांचरात्र के प्रचारकों एवं अनुयायियों की यह माँग कहाँ तक उपयुक्त और सत्य है कि उनकी विचारधारा, सिद्धांत, परंपराएँ एवं रीतिरिवाज वेदमूलक है, परतु कट्टर ब्राह्मणवर्ग में न केवल इनके सिद्धांतों तथा रीतिरिवाजों की कटु आलोचना एवं घोर भर्त्सना ही की गई लेकिन इन्हे स्वयं को भी हेय, पतित, पापी आदि कहकर तिरस्कृत किया गया। केवल स्मार्त वैष्णवों का ही एकमात्र वर्ग था, जिसका प्रभाव कुछ स्मृतियों एवं पुराणों में पूर्ण स्पष्टता से अभिव्यक्त हुआ है, जिनने पांचरात्र की वैदिकता और प्रामाणिकता

४६ अपि चाचारतस्तेषामब्राह्मण्यं प्रतीयते।
कृत्तितो देवतापूजा दीक्षा नैवेद्य भक्षणम्॥
गर्भाधानादि दाहान्त संस्कारांतर सेवनम्।
श्रौतक्रियाऽननुष्ठानं द्विजैस्सम्बंध वर्जनम्॥
इत्यादिभिरनाचारैर ब्राह्मण्यं सुनिर्णयम्॥

४७. हेलियोडोरस-बेसनगर शिलालेख, भागवतपुराण २.४.१८, ।
४८. भागवतपुराण १.४.१८, २.७. ४६ ।
४९. विष्णुपुराण ४.१८.२८ ।
५०. विष्णुपुराण ४.२४ १८ ।
५१ वाराहपुराण १०३ ६६—७० ।

को स्वीकार किया। इससे एक बात और यह स्पष्ट होती है कि पांचरात्र का उद्भव अवैदिक (नान वैदिक) परंपरा में ही होना चाहिए, यद्यपि इसे वेदविमुख (ऐंटी वैदिक) नहीं माना जा सकता, और बाद में वैदिक धर्म के वर्चस्व एवं एकाधिपत्य के कारण इसे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये अपने लिये वैदिक आधार ढूँढ़ने को बाध्य होना पड़ा।

•

राजस्थानी भाषा और बोलियाँ

रूपचंद पारीक, एम० ए०

•

भारतवर्ष में भाषाशास्त्र का अध्ययन अत्यंत प्राचीन काल से होता रहा है परंतु वह अध्ययन अधिकांशतः व्याकरण ग्रंथ और पिंगलशास्त्र तक ही सीमित था। इससे आगे सोचने की आवश्यकता उन आचार्यों ने अनुभव नहीं की थी। अपने क्षेत्र में वह कार्य भी वैज्ञानिक स्तर पर है परंतु सामान्य वर्णनात्मक अध्ययन आज के भाषाशास्त्र के विद्यार्थी को संतुष्ट नहीं कर पाता है। आधुनिक युग में नवीन दृष्टिकोण से भाषा के क्षेत्र में जो अनुसंधान और अनुशीलन चल रहे हैं, उनका श्रीगणेश भी पाश्चात्य मनीषियों के द्वारा ही हुआ है। भारतवर्ष की आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वैज्ञानिक विवेचन करने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है। उनके अध्ययन में उनकी सीमाएँ स्पष्ट हैं, फिर भी मार्गप्रदर्शन के लिये उनका आभार स्वीकार करना पड़ता है। राजस्थानी भाषा के अध्ययन के विषय में भी डा० ग्रियर्सन और डा० टैसीटरी जैसी पाश्चात्य प्रतिभाओं का ऋण स्वीकार करना पड़ता है। अपने अध्ययन के लिये हम अपने मुख्य विषय को पृथक् शीर्षकों में विभाजित करते हैं।

(१) नामकरण

सामान्य रूप से राजस्थानी को 'डिंगल' का पर्यायवाची अथवा समानधर्मी समझा जाता है परंतु विभिन्न कालों में इसके विविध नाम रहे हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार राजस्थान में कभी एक भाषा का व्यवहार नहीं रहा[1]। राजस्थान का एक वृहत् भूभाग मरुस्थल होने के कारण मरुप्रदेश कहलाता है। उसे मारवाड़ भी कहा जाता है। इसी आधार पर राजस्थान की भाषा को मरुभाषा अथवा मारवाड़ी भाषा भी कहा जाता है। इस भाषा का सर्वप्रथम उल्लेख नवीं शताब्दी में उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयमाला' नामक ग्रंथ में मिलता

१. राजस्थानी भाषा : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृष्ठसंख्या ६६।

है। इसके रचयिता ने भारतवर्ष की १८ भाषाओं की चर्चा करते हुए मरुप्रदेश की भाषा का भी उल्लेख किया है :—

अप्पा तुप्पा भणि रे अह पेच्छइ मारुए तत्तो
न उरे भल्लउ भणि रे अहपेच्छइ गुज्जरे अवरे
अम्हं काउं तुम्हं भणि रे अह पेच्छइ लाडे
भाइ य भइणी तुब्भे भणि रे अह मालवे दिट्ठे[2]।

सोलहवीं शताब्दी में अकबर के दरबार के एक नवरत्न अबुलफजल ने अपनी अमर कृति 'आईने अकबरी' में भारतवर्ष की प्रमुख भाषाओं की चर्चा करते हुए मारवाड़ी की भी चर्चा की है। सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभ होने तक राजस्थानी में पर्याप्त मात्रा में साहित्यसृजन हो चुका था। डा० टैसीटरी ने इस काल की भाषा को 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' कहा है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—

'मुझे यह स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कम से कम सोलहवीं शताब्दी तक की लंबी अवधि तक जाकर समाप्त हुआ होगा। लेकिन बहुत संभव है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी इस सीमा के बाद भी रही हो—और नहीं तो इसकी कुछ विशेषताएँ तो निश्चय ही[3]"।

मारवाड़ी को 'डिंगल' भी कहा जाता है परंतु डिंगल नाम अधिक प्राचीन नहीं जान पड़ता। राजस्थान के सुप्रसिद्ध कवि बाँकीदास ने अपने 'कुकवि बत्तीसी' नामक ग्रंथ में 'डिंगल' शब्द का प्रयोग किया है —

'डिंगलियां मिलियां करै पिंगल तणो प्रकास।
संस्कृति है कपट सज पिंगल पढ़ियां पास' ॥

राजस्थान के दूसरे महाकवि सूर्यमल मिश्रण ने भी 'डिंगल' शब्द का व्यवहार किया है —

'डिंगल उपनामक कहुँक मरु बानी हु विधेय।
अपभ्रंश जामें अधिक सदा वीर रस चेय' ॥[4]

मरु भाषा के संबंध में अन्य उल्लेख निम्नांकित है —

(१) मरुभाषा निर्जल तजी करी ब्रजभाषा चोज।[5]
(२) मरुभूमि भाषा तव मरग रहै आधी रीत सूं।[6]
(३) कर आनंद कविश उद्दश मरुभाषा।[7]

---

२. परंपरा, अंक १२ : संपादक–नारायणसिंह भाटी, पृष्ठसंख्या १०६।
३. डा० टैसीटरी, पुरानी राजस्थानी, अनुवादक : नामवरसिंह, पृष्ठ — १०।
४. वंशभास्कर, चतुर्थ भाग।
५. गोपाललाल डोरी कृत रसविलास तथा वेलि का पद्यानुवाद।
६. मंछाराम सेवग कृत रघुनाथरूपक गीताँ रो।
७. कवि मोड़ जी कृत बापू प्रकासम।

प्रख्यात भाषावैज्ञानिक डा० ग्रियर्सन का कहना है :—

'मारवाड़ी हैज ऐन ओल्ड लिटरेचर एबाउट हिच हार्डली एनी थिंग इज नोन। द राइटर्स समटाइम्स कम्पोज्ड इन मारवाड़ी एंड समटाइम्स इन ब्रजभाषा। इन द फार्मर केस द लैंग्वेज वाज काल्ड डिंगल एंड इन द लैटर पिंगल।'[८]

इसमें संदेह नहीं कि पिंगल के सादृश्य पर ही डिंगल नाम गढ़ा गया। प्राचीन काल में इस भाषा का नाम मरुभाषा, मध्यकाल में 'डिंगल' और आधुनिक काल में राजस्थानी रहा है।

(२) क्षेत्रफल और जनसंख्या

राजस्थानी को भाषावैज्ञानिकों ने भारत यूरोपीय भाषापरिवार की एक शाखा माना है। यह राजस्थान तथा मालवा में बोली जाती है। इसका क्षेत्रफल हिंदी के अतिरिक्त भारत की अन्य समस्त भाषाओं के क्षेत्रफल की अपेक्षा कहीं विस्तृत है। भारतवर्ष की भाषाओं में इसका स्थान छठा है और विश्व की भाषाओं में २१ से २४ के बीच आता है। इसका व्यवहार करनेवालों की संख्या अनुमानतः लगभग दो करोड़ है। व्यापारी वर्ग के व्यक्ति होने के कारण राजस्थान के निवासी भारत के कोने कोने में फैले हुए हैं परंतु इनका प्रांतप्रेम भी कम नहीं है। ये चाहें जहाँ रहें, चाहें जिस भाषा का व्यवहार दैनिक कार्यों में करें परंतु अपने घरों में वे लोग अपनी मातृभाषा राजस्थानी का ही व्यवहार करते हैं। हिंदी, हिंदुस्तानी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, सिंधी तथा पंजाबी का व्यवहार करनेवाले लोग भी राजस्थान में बसते हैं। शिक्षा तथा राजकार्य में हिंदी ही प्रयुक्त होती है।

(३) भाषासीमाएँ

राजस्थानी के पूर्व में (उत्तर से दक्षिण तक) पश्चिमी हिंदी की ब्रज तथा बुंदेली शाखाएँ हैं। दक्षिण में (पूर्व से पश्चिम तक) मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती है। भीली विंध्याचल और अरावली की पहाड़ियों में बोली जाती है। पश्चिम में (दक्षिण से उत्तर तक) सिंधी और लहँदा भाषाएँ हैं। उत्तर में (पश्चिम से पूर्व तक) लहँदा, पंजाबी और पश्चिमी हिंदी की बाँगरू शाखा है।

(४) शाखाएँ

राजस्थानी में एक प्राचीन और प्रसिद्ध दोहा है —

'बारे कोसां बोली पलटै बनफल पलटै पाकां।
बरस छतीसां जीवन पलटै लखण न पलटै लाखां' ॥

८. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया।

यह दोहा न केवल उपयुक्त ही है अपितु महत्वपूर्ण भी है। डा० श्यामसुंदरदास,[९] डा० धीरेंद्र वर्मा,[१०] डा० उदयनारायण तिवारी[११] और श्री नरोत्तम स्वामी[१२] के अनुसार राजस्थानी की चार शाखाएँ हैं। डा० ग्रियर्सन [१३] ने इसके निम्नांकित विभाग किए हैं :—

(क) पश्चिमी राजस्थानी
(ख) उत्तर पूर्वी राजस्थानी
(ग) मध्य पूर्वी राजस्थानी
(घ) दक्षिण पूर्वी राजस्थानी
(ङ) दक्षिणीराजस्थानी

डा० ग्रियर्सन ने भीली तथा खानदेशी बोलियों को भी राजस्थानी के ही अंतर्गत माना है।[१४] इस विषय में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का यह कथन विशेष महत्व रखता है—

'पर भाषा की दृष्टि से भीली को राजस्थानी के अधीन रखना ही ठीक होगा, ऐसा मालूम होता है। 'भीली' बोलियों का गुजराती से काफी सादृश्य है, और खानदेशी बोलियाँ राजस्थानी अथवा गुजराती और मराठी के मिश्रण से उत्पन्न हुई हैं—संभव है कि ये प्राचीन मराठी के ऊपर राजस्थानी के गहरे प्रभाव का फल हैं'।[१५]

डा० चटर्जी डा० ग्रियर्सन के वर्गीकरण में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। उनके अनुसार :—

'राजस्थान मालवे की बोलियों को दो ही मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा। ग्रियर्सन की [१] तथा [३] को एक साथ लेकर, केवल उन्हें ही 'राजस्थानी' नाम देना ठीक होगा। इनमें [१] को अब जैसा 'पश्चिमी राजस्थानी' कहना चाहिए और [३] को पूर्वी राजस्थानी। बाकी श्रेणी की भाषाओं को या बोलियों को हम कितनी दूर तक 'राजस्थानी' में शामिल कर सकते हैं, यह विचारणीय है। अहीरवाटी, मेवाती, मालवी और निमाडी—ये पछाहीं हिंदी से ज्यादातर संपर्कित हैं या खास राजस्थानी से, इस विषय पर चरम निष्कर्ष अब तक नहीं निकला है। राजस्थान की बोलियों पर मध्यदेश की बोली का गहरा प्रभाव बहुत प्राचीन काल से पड़ता आता है'।[१६]

९. भाषारहस्य, पृष्ठ ६३।
१०. हिंदी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ५२।
११. हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ १७९।
१२. राजस्थानी, भाग १, पृष्ठ १०।
१३. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, भाग ९।
१४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया।
१५. राजस्थानी भाषा, पृष्ठ ४।
१६. राजस्थानी भाषा, पृष्ठ १०।

डा० चटर्जी ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है परंतु जब तक स्वतंत्र रूप से इस विषय पर और पृथक् पृथक् रूप से इन बोलियों पर अनुसंधान नहीं हो जाता, इस विषय में कुछ भी कहना कठिन है।

(क) पश्चिमी राजस्थानी —

राजस्थानी भाषा की प्रमुख शाखा पश्चिमी राजस्थानी है। इसे मारवाड़ी भी कहा जाता है क्योंकि यह मारवाड़ की भाषा है। यह राजस्थानी का टकसाली रूप है।

मारवाड़ी जोधपुर राज्य की प्रधान बोली है। पूर्व में अजमेर - मेरवाड़ा, किशनगढ़ तथा मेवाड़ में कुछ मिश्रित रूप में इसका व्यवहार होता है। पश्चिम में सिंध और जैसलमेर में यह बोली जाती है। उत्तर में बीकानेर तथा जयपुर के शेखावाटी क्षेत्र में इसका प्रचलन है। दक्षिण में सिरोही और पालनपुर तक यह अपनी सीमा का विस्तार करती है। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त राजस्थानी बंधु भारत के सभी प्रांतों में सुदूर देहातों तक में मिलेंगे।[१७] भारत के सभी प्रमुख वाणिज्य केंद्रों पर ये बड़ी संख्या में मिलेंगे। इसका व्यवहार करनेवाले लोग अनुमानतः ८० लाख हैं।

मारवाड़ी के पूर्व में राजस्थानी की जयपुरी शाखा है, दक्षिण में मालवी और कुछ भीली बोलियों का क्षेत्र है। दक्षिण पश्चिम में गुजराती स्थित है। पश्चिम में सिंधी और लँहदा बोली जाती है। उत्तर पश्चिम में पंजाबी और बाँगरू है। उत्तर पूर्व में ठीक उत्तर में राजस्थानी की ही मेवाती शाखा है।

टकसाली मारवाड़ी मारवाड़ अर्थात् जोधपुर में बोली जाती है। उत्तर पूर्व में अजमेर मेरवाड़ा तथा किशनगढ़ में यह जयपुरी से मिश्रित है। पश्चिमी मारवाड़ी में थली और मिश्रित बोलियाँ हैं। उत्तरी मारवाड़ी में बीकानेरी शेखावाटी और बागड़ी आती है। दक्षिणी मारवाड़ी में गोड़वाड़ी, सिरोही और देवड़ावाटी हैं। गोड़वाड़ी तथा सिरोही मारवाड़ और मेवाड़ के संमिलित प्रदेश की बोली है। जालोर में कुछ लोग देवड़ावाटी का व्यवहार करते हैं। बाड़मेर में थाटकी का प्रचलन है।

(ख) उत्तर पूर्वी राजस्थानी —

राजस्थानी की उत्तरी पूर्वी शाखा की प्रमुख बोली मेवाती है। वैसे तो यह मेवों के देश की भाषा है परंतु इसका क्षेत्रफल उससे कहीं अधिक विस्तृत है। यह समस्त अलवर जिले की बोली है जबकि मेवात उसका एक खंड मात्र है। मेवात प्रदेश की सीमा इस प्रकार है —

मेवात का प्राचीन प्रदेश भरतपुर के डीग से लेकर रेवाड़ी के कुछ ऊपरी भाग तक वर्णित किया जाता है। पश्चिम में रेवाड़ी से अलवर के ठीक छह मील पश्चिम तक तथा दक्षिण में अलवर के बारासोती तक इसका विस्तार है। पूर्वी भाग में इसका क्षेत्र डीग तक है'।[१८]

मेवाती अलवर, भरतपुर के उत्तर पश्चिम तथा पंजाब के गुड़गाँव जिले में बोली जाती है। जयपुर के कोट कासम तथा नाभा की बावल निजामत में मेवाती का प्रयोग किया जाता है, वहाँ मेवाती को बीघोता की बोली कहा जाता है[१९]।

१७. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, भाग ९।
१८. अलवर गजेटियर, पृष्ठ १६७—६८।
१९. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, भाग ९।

मेवाती के पूर्व में भरतपुर तथा पूर्वी गुरगाँव की ब्रजभाषा है। दक्षिण में जयपुरी की डांग उपशाखा है। उत्तर में पश्चिमी गुरगाँव की अहीरवाटी है। दक्षिण पश्चिम में जयपुरी की तोरावाटी उपशाखा तथा उत्तर पश्चिम में पटियाला के नारनौल निजामत की मिश्रित बोली है।

मेवाती एक सीमाभाषा है। यह उस राजस्थानी का प्रतिनिधित्व करती है जो क्रमशः हिंदी की ब्रजभाषा शाखा में मिलती जाती है। स्थान स्थान पर इसमें वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है। अलवर में ही इसके चार उपभेद हैं—खड़ी, राठी, नहेड़ा और कठेर। खड़ी मेवाती जयपुर के कोट कासम तथा नाभा के बावल की अहीरवाटी से मिश्रित है। नहेड़ा थाना गाजी के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। कठेर भरतपुर के उत्तर पश्चिम और अलवर के दक्षिण पूर्व में बोली जाती है इसलिये ब्रजभाषा से मिश्रित है। शेष क्षेत्र में खड़ी मेवाती बोली जाती है।

(ग) मध्य पूर्वी राजस्थानी —

राजस्थानी की मध्य पूर्वी शाखा जयपुरी कहलाती है। इसके चार रूपभेद हैं—जयपुरी, अजमेरी, किशनगढ़ी तथा हाड़ौती। ये भेद इतने पुराने हैं कि अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ईसाई धर्मप्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये बाइबिल के नए नियम का विविध भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया तो जयपुरी और हाड़ौती में पृथक् पृथक् अनुवाद किए गए। फिर भी इन चारों में भिन्नता इतनी कम है कि इनको एक नाम से अभिहित किया जा सकता है और जयपुरी इनमें सर्वप्रधान है।

व्यापकता और विस्तार की दृष्टि से मारवाड़ी के पश्चात् जयपुरी का ही स्थान है। यह जयपुर, अजमेर, किशनगढ़, कोटा, बूँदी, टौंक, बीकानेर और अलवर के कुछ भागों में बोली जाती है। कोटा और बूँदी में इसका नाम हाड़ौती है।

जयपुरी के उत्तर पूर्व में राजस्थानी की मेवाती शाखा है। पूर्व में ब्रजभाषा की डांग शाखा, बुंदेली तथा मालवी है। दक्षिण में फिर मालवी तथा मारवाड़ी का मेवाड़ी रूप तथा उत्तर और पश्चिम में मारवाड़ी है।

जयपुरी मध्य पूर्वी राजस्थानी का टकसाली रूप है। दादू तथा उनके शिष्यों की कुछ रचनाएँ इसमें मिलती हैं। जयपुरी की उपबोलियाँ निम्नांकित हैं:—

१. तोरावाटी, २. काठैड़ा, ३. नागरचाल, ४. राजावाटी, ५. चौरासी आदि। तोरावाटी जयपुर के तोरावट प्रदेश, खेतड़ी के कुछ भाग और नारायणपुर में बोली जाती है। काठेड़ा सवाई माधोपुर की बोली है। मालपुरा में भी इसका व्यवहार होता है। लावा की ठकुरायत और टौंक के कुछ भागों में नागरचाल का प्रचलन है। राजावाटी उनियारा ठिकाना और चौरासी दक्षिणी जयपुर में अपना क्षेत्र बनाती है। अजमेर में अजमेरी, किशनगढ़ में किशनगढ़ी, कोटा, बूँदी तथा शाहपुरा में हाड़ौती का प्रचलन है। ग्वालियर में हाड़ौती की एक उपबोली सिपरी बोली जाती है।

(घ) दक्षिण पूर्वी राजस्थानी—

यह मालवा की भाषा मालवी है जो श्रुतिमधुर है। यह मध्य प्रदेश के इंदौर, भोपाल तथा भोपावर क्षेत्र में बोली जाती है। पूर्व में यह ग्वालियर तक विस्तृत है तथा राजस्थान में कोटा और टौंक के चाभा परगने में बोली जाती है। नर्मदा नदी के पार कुछ विकृत रूप में भी यह होशंगाबाद आदि क्षेत्रों में बोली जाती है।

मालवी के उत्तर में टकसाली जयपुरी का क्षेत्र है। पूर्व में ग्वालियर और सागर में प्रयुक्त होनेवाली पश्चिमी हिंदी की एक शाखा बुंदेली है। दक्षिण में बुंदेली, मराठी तथा राजस्थानी की निमाड़ी शाखा है। इसके उत्तर पश्चिम में मेवाड़ी तथा दक्षिण पश्चिम में गुजराती और खानदेशी हैं।

(क दक्षिण राजस्थानी —

यह नीमावर के क्षेत्र में बोली जानेवाली निमाड़ी है। भोपावर में भी निमाड़ी का व्यवहार होता है। इस भाषा का कोई साहित्य नहीं है। वैसे यह मालवी की ही एक उपशाखा है परंतु इसकी कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं जो इसे मालवी से पृथक् करती हैं।

भीली, बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, कुशलगढ़, उदयपुर तथा प्रतापगढ़ में बोली जाती है। बाँगड़ी भीलोड़ी और गिरामिया भीली की उपबोलियाँ हैं। पंजाबी का प्रभाव गंगानगर की मारवाड़ी पर देखा जा सकता है। सिंध के निकटवर्ती भाग की मारवाड़ी पर सिंधी का प्रभाव है। गुजराती का प्रभाव मारवाड़ी और जयपुरी दोनों पर रहा है।

*

चयन

राम और कृष्ण के मध्य कालांतर

[जर्नल आव द ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा के भाग १४, सं० १ में प्रकाशित श्री डी० आर० मंकड के निबंध 'क्रोनोलाजिकल डिस्टैंस बिट्विन राम ऐंड कृष्ण' का सारतत्व]

परंपरित रूप से यह माना जाता है कि राम दाशरथि और कृष्ण के बीच पूरे एक युग का अंतर है। राम त्रेता के अंत में हुए थे और कृष्ण द्वापर के। यदि एक युग का कालपरिमाण १००० वर्ष माना जाय तो दोनों के जीवन-काल के बीच एक हजार वर्ष का अंतर होगा। किंतु दोनों महापुरुषों के समकालिक महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवनवृत्तों और उनकी वंशावलियों के साक्ष्य के आधार पर श्री मंकड महोदय ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि इनके मध्य का कालांतर २०० वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। राम की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष बाद कृष्ण की मृत्यु हुई। बहुत संभव है राम की मृत्यु के पूर्व ही कृष्ण का जन्म हो गया हो।

भरद्वाज—द्रोण

भरद्वाज और द्रोण के बीच पिता-पुत्र-संबंध लोकविश्रुत है। भरद्वाज का संबंध निश्चित रूप से रामयुग के साथ है और द्रोण का कृष्ण-युग के साथ। रामयुग के साथ भरद्वाज का संबंध स्थापित करने के लिये श्री मंकड ने कई प्रमाण दिए हैं। उनमें से कुछ प्रमुख ये हैं :—

(१) रामायण में भरद्वाज को वाल्मीकि का शिष्य कहा गया है।

(२) भरद्वाज ने अपनी पुत्री देववर्णिनी का विवाह रावण के पिता विश्रवस से किया था।

(३) राम ने वनगमन के समय प्रयाग-स्थित भरद्वाज आश्रम में एक रात बिताई थी। राम को लौटाने जाते समय भरत ने भी ऐसा ही किया था। वनवास के पश्चात् अयोध्या लौटते समय राम भरद्वाज से मिले थे। अश्व-मेध यज्ञ करते समय भी राम भरद्वाज के आश्रम में गए थे।

(४) काशिराज दिवोदास और उसके पुत्र प्रतर्दन के साथ भरद्वाज का संबंध था। दिवोदास अहल्या का भाई था और प्रतर्दन राम को उनके राज्याभिषेक के समय बधाई देने गया था।

महाभारत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि द्रोण भरद्वाज और घृताची के पुत्र थे। द्रोण कौरवों पांडवों के आचार्य थे तथा महा-भारत में मारे गये थे। महाभारत में उल्लिखित है कि भरद्वाज द्रुपद के पिता पृषत के मित्र थे और द्रोण द्रुपद के। भरद्वाज की मृत्यु के बाद द्रोण ने शारद्वत की पुत्री कृपी से विवाह किया। शारद्वत अहल्या का पति था। इस प्रकार द्रोण रामयुग से बहुत दूर नहीं थे।

पार्जिटर ने कई भरद्वाजों की संभावना व्यक्त की है। अतः संभव है रामयुगीन भरद्वाज और द्रोण के पिता भरद्वाज का अलग अलग अस्तित्व हो। मंकड ने संभावित अन्य भरद्वाजों की अस्तित्व कल्पना का निरास करते हुए अनेक तर्कों द्वारा रामयुगीन भरद्वाज को द्रोण के पिता से अभिन्न प्रमाणित किया है।

वसिष्ठ—द्वैपायन

वसिष्ठ दशरथ के पुरोहित थे। वसिष्ठ का पुत्र शक्ति था और शक्ति का पुत्र पाराशर

था। पाराशर के पुत्र का नाम द्वैपायन था। द्वैपायन ने ही नियोग द्वारा पांडु और धृतराष्ट्र को जन्म दिया था। महाभारत के रचनाकार भी यही कृष्ण द्वैपायन माने जाते हैं।

निष्कर्षतः वसिष्ठ दशरथ और राम के समकालिक थे और उनके प्रपौत्र कृष्ण के। इस प्रकार राम और कृष्ण के बीच की दूरी बहुत अधिक नहीं ठहरती।

शकुनि—गांधारी

शकुनि का पितामह नग्नजित् प्रह्लाद का शिष्य था। प्रह्लाद का पौत्र बलि था जिसकी पौत्री का विवाह रावण के भाई कुंभकर्ण के साथ हुआ था। यदि हम प्रह्लाद के शिष्य नग्नजित् को बलि का समवयस्क मान लें तो नग्नजित् का पौत्र शकुनि राम और रावण से एक पीढ़ी नीचे पड़ेगा।

जरासंध

जरासंध बृहद्रथ का पुत्र था जो चंडकौशिक की कृपा से उत्पन्न हुआ था। चंडकौशिक कक्षीवत का पुत्र था और कक्षीवत भरद्वाज के भाई गौतम (दीर्घतमस) का पुत्र था।

इस प्रकार बृहद्रथ दीर्घतमस के पौत्र चंडकौशिक का समकालिक ठहरता है और जरासंध कृष्ण का समकालिक।

महाभारत के अनुसार बृहद्रथ के पिता वसु थे। वसु की पुत्री मत्स्यगंधा थी जिसने पराशर द्वारा द्वैपायन व्यास को जन्म दिया था।

द्विविद और मयंद

द्विविद और मयंद नामक दोनों वानर बाली की पत्नी तारा के भाई थे। सीता की खोज में दक्षिण की ओर जानेवाले वानरदल में वे भी संमिलित थे।

भागवत के अनुसार इस द्विविद ने रैवतक पर्वत पर विश्राम कर रहे बलराम के ऊपर आक्रमण कर दिया और युद्ध में मारा गया।

भागवत के प्रमाण के अनुसार द्विविद सुग्रीव, कंस और नरक का मित्र तथा बलराम का समकालिक था। मयंद भी कंस का मित्र माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वे द्विविद और मयंद दीर्घजीवी थे।

नरकासुर

कालिकापुराण के अनुसार नरक भूमि का पुत्र था और उसका पालनपोषण विदेहराज जनक ने किया था। मेरी (लेखक की) व्याख्या के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि नरक जनक का पुत्र था जो भूमि नामक दासी से उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार नरक का संबंध रामयुग के साथ हो आता है।

इस नरकासुर की मृत्यु कृष्ण द्वारा हुई थी।

महाभारत के अनुसार राजसूय यज्ञ के पूर्व जब अर्जुन दिग्विजय के लिये निकले तब भगदत्त प्राग्ज्योतिषपुर का शासन कर रहा था। भगदत्त नरक की मृत्यु के बाद सिंहासनासीन हुआ था।

कालिकापुराण के अनुसार बाणासुर नरक का मित्र था। इसी बाणासुर की पुत्री उषा के साथ कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का विवाह हुआ था। बाणासुर बाली का पुत्र था। इससे यह प्रमाणित होता है कि नरकासुर और बाणासुर दोनों ही राम और कृष्ण दोनों युगों से संबद्ध थे।

हनुमान

हनुमान राम के साथ संबंधित तो थे ही, महाभारत में हनुमान और भीम के साक्षात्कार का भी उल्लेख हुआ है। ये चिरंजीवी कहे गए हैं।

मारकंडेय

महाभारत में कहा गया है कि मारकंडेय द्वैतवन में युधिष्ठिर से मिलने आए। वहाँ वे उनसे कहते हैं—

> स चापि राजा सह लक्ष्मणेन
> वने निवासं पितुरेव शासनात्।
> धन्वी चरन्पार्थ मयैव दृष्टो,
> गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ॥
> (वन० २५, ६)

इसका अर्थ यह है कि मारकंडेय राम और युधिष्ठिर दोनों के समकालिक थे। वे युधिष्ठिर

पर्वत पर है कि उन्होंने राम को ऋष्यमूक से कहते स्वयं देखा था।

मारकंडेय भी चिरजीवी माने जाते हैं।

घोर आंगिरस

घोर आंगिरस गाधिपुत्र विश्वामित्र के साथ संयुक्त रूप से ऋग्वेद के मंत्ररचयिता हैं। (ऋ० ३६ १०) संयुक्त रचयिता समकालिक होते थे। अतः घोर विश्वामित्र के समकालिक होने से राम के भी समकालिक थे।

ऋग्वेद प्र०, ३६–४३, नवम् ६८ के रचयिता कण्व को घोर कहा गया है अर्थात् वे घोर के पुत्र थे। फिर प्रगाथ कण्व ऋ० अष्टम् १, १–२ १०, ४८ ६२–६५ के रचयिता हैं। इनके संबंध में मान्यता का कथन है कि ये घोर आंगिरस के पुत्र थे और इस प्रकार कण्व के छोटे भाई लगते थे। किन्तु बाद में कण्व ने उन्हें गोद ले लिया और इस प्रकार वे काण्व के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रगाथ का कथन है कि उसने पुरुकुत्स या त्रसदस्यु से उपहार प्राप्त किया था (ऋ० अष्टम्, ६८ १९)। पुरुकुत्स और त्रसदस्यु रामयुग में वर्तमान थे। अतः प्रगाथ और उसके पिता घोर आंगिरस राम के समय वर्तमान थे।

छान्दोग्य उपनिषद् (३०, १७ ६) में कहा गया है कि घोर आंगिरस देवकीपुत्र कृष्ण के गुरु थे। ये घोर ऋग्वैदिक ऋषि से अभिन्न हैं। अतः घोर आंगिरस राम और कृष्ण दोनों के युगों से संबद्ध हैं।

मुचुकुंद

मुचुकुंद यौवनाश्व मांधाता का पुत्र था। मांधाता राम का प्रायः समकालिक था और लवण द्वारा मारा गया था। बाद में लवण को राम के अनुज शत्रुघ्न ने मारा था। इस प्रकार मुचुकुंद भी राम का समकालिक था। कृष्ण का भी समकालिक था। मुचुकुंद जब कृष्ण से मिला तब वह अत्यन्त वृद्ध हो चुका था और कृष्ण युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे।

मयासुर

रामायण (सप्तम, १२) के अनुसार मयासुर को हेमा से मायावी और दुंदुभी नामक दो पुत्र और मंदोदरी नामक एक पुत्री थी। मंदोदरी का विवाह रावण से हुआ था और मायावी तथा दुंदुभी दोनों बालि द्वारा मारे गए थे। इस प्रकार मयासुर राम का समकालिक हुआ।

महाभारत (प्रथम २२८) में कहा गया है कि अर्जुन ने खांडववन में मयासुर की रक्षा की थी और उसने अर्जुन को देवदत्त नामक शंख दिया था।

इस प्रकार मयासुर राम और कृष्ण दोनों युगों से संबद्ध प्रमाणित होता है।

भीष्म

महाभारत के महान् योद्धा भीष्म भी दोनों युगों से संबद्ध थे।

(१) उन्होंने परशुराम के साथ युद्ध किया था।

(२) भीष्म रावण के पितामह पुलस्त्य से मिले थे।

(३) गंगा ने पहले उन्हें वसिष्ठ से शिक्षा दिलाई और बाद में परशुराम से।

परशुराम

परशुराम राम से संबद्ध तो थे ही, कृष्ण के युग से भी संबद्ध थे।

(१) उन्होंने भीष्म से युद्ध किया था।

(२) द्रोण भी उनसे मिले थे।

(३) परशुराम ने कर्ण को शिक्षा दी थी। ये भी चिरजीवी माने जाते हैं।

शंखण

महाभारत के वनपर्व में कथा है कि इक्ष्वाकु वंश में परीक्षित नामक एक राजा हुए थे जिनके शल, बल और दल नामक तीन पुत्र थे। शल और दल ने वामदेव के आश्रम में जाकर उनसे झगड़ा किया था। वामदेव दशरथ के पुरोहित थे।

शल का पुत्र मरु था जिसका पुत्र शंखण था। शंखण की मृत्यु महाभारत युद्ध में हुई थी।

ये सारे प्रमाण लेखक को यह निष्कर्ष निकालने के लिए विवश करते हैं कि राम और कृष्ण दोनों के मध्य कालांतर १०० वर्ष से अधिक नहीं हो सकता।

निर्देश

द विश्वभारती क्वार्टर्ली भाग २८ सं० ३-४, १९६२-६३

जेनरल ऐंड रीजनल ज्यग्रफी इन एन्शेंट इंडिया [संस्कृत वाङमय के साक्ष्य पर प्राचीन भारतीयों के भौगोलिक ज्ञान का विवेचन। लेखक ने प्राचीन भारत में ज्ञात देशों नवीन देशों की खोजों, उपनिवेशीकरण, विभिन्न स्थानों के प्राणियों और वनस्पतियों खनिजों उद्योग धंधों और जनसंख्या आदि का सामान्य, सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है।]

माताप्रसाद त्रिपाठी

भाग २९ सं० १ १९६३ ६४

लाफ्टर इन सैक्रेड लिटरेचर [पवित्र शास्त्रों में हास्य तत्व] गीता, चीनी और बाइबिल में निहित हास्य के वचनों का अनुशीलन]

—डा० पी० सेनगुप्त

जर्नल आव द यूनिवर्सिटी आव बाम्बे

भाग ३२ संख्या २

समुद्र इन द ऋग्वेद [ऋग्वेद में प्राप्त समुद्र सम्बन्धी सन्दर्भों का अनुशीलन]—डा० पी० वी० बापट

द होतृ ऐंड अदर प्रीस्ट्स इन द ब्राह्मणज आव द ऋग्वेद [ऋग्वैदिक ब्राह्मणों के होतृ तथा अन्य पुरोहितों तथा उनके कार्यों का विवेचन]—डा० एन० जे० शिंदे।

मैक्सिम्स ऐंड पिथी सेइंग्स इन द पउमचरिय [पउमचरिय की सूक्तियों और कहावतों का अनुशीलन]—डा० पी० एम० उपाध्ये

ए स्टडी आव देश्य वर्ड्स फ्राम द महापुराण आव पुष्पदंत [पुष्पदंत के महापुराण में प्राप्त देश्य शब्दों का अध्ययन] —श्रीमती रत्ना श्रीयन

ऐनल्स आव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, १९६३

द सेरेमनी आव नीराजना—[प्राचीन भारत में 'नीराजन' कृत्य के स्वरूप का अनुसंधान]—वी० एम० कापड़िया।

सम न्यू ऐसपेक्ट्स आव पोलिटिकल हिस्ट्री इन बाणभट्ट—[बाणभट्ट की कृतियों में राजनीतिक इतिहास के सन्दर्भों का अनुसंधान]

—दिलीपकुमार काञ्जीलाल

द प्रबोधचन्द्रिका आव बैजलदेव एलांग विद द इनकम्प्लीट कमेंटरी सुबोधिनी बाइ गोपालगिरी—[सात हस्तलेखों की सहायता से सम्पादित बैजलदेव कृत प्रबोधचन्द्रिका की सम्पादनप्रक्रिया और समस्याओं का विवरण]

जर्नल आव द एशियाटिक, सोसायटी कलकत्ता

भाग ४ सं० ३ ४

ज्योग्राफी टियेफेन्थलर ऐंड हिज ज्योग्राफी आव हिंदुस्तान [भारत के भूगोल निर्माण में अठारहवीं शताब्दी के पादरी टियफेन्थलर की देनों का सचित्र विवेचन]

—एस० एन० सेन

ए लिथिक एपिक आव साउथईस्टर्न राजस्थान—ए फ्रेश स्टडी [दक्षिण पूर्व राजस्थान के बिजोलिया में उपलब्ध शिलांकित महाकाव्य का नवीन अध्ययन]—अनुराग बनर्जी

श्री वेंकटेश्वर युनिवर्सिटी ओरियेंटल जर्नल

भाग ५ संख्या—१ और २ (संयुक्त)

गोविंद दास्स डेफिनिशन आव अशौच [सोलहवीं शताब्दी के बंगदेशीय गोविंददास के अनुसार 'अशौच' का विवेचन]

—आशुतोष भट्टाचार्य

ए कैंटुक आन द ब्लफेन्गो [वायकेश्वर कवि कृत संस्कृत की एक महत्वपूर्ण व्यंग कृति 'महिषशतक' और उसकी रचना का रोचक परिचय]—टी आर० राजगोपाल अय्यर

टेन्स आक्जिलियरीज इन हिंदी [हिंदी में कालरूपों के लिये प्रयुक्त सहायक क्रियाओं का विवेचन]—चंद्रभान रावत।

शारदापीठ प्रदीप

भाग ४, संख्या २

उपक्रम उपसंहार—ऐज ऐन इंटेरियन फार टेक्स्चुअल इंटरप्रिटेशन [तात्पर्यार्थ निरूपण में उपक्रम-उपसंहार के महत्व और उनकी समस्याओं का विशद विवेचन]

डा० टी० ए० दवे

द जर्नल आव ओरिएंटल रिसर्च मद्रास

भाग ३१, संख्या १-४

द मिथिकल मैसेकर ऐट मोहेनजोदारो [मोहेन्जोदड़ो के तथाकथित नरसंहार का विवेचन] जार्ज एफ० डेल्स, शिकागो।

जर्नल आव द एशियाटिक सोसायटी आव बांबे

भाग ३८। १९६३ (प्रकाशनकाल १९६४)

सिमलीज इन द अथर्ववेद [अथर्ववेद संहिता की उपमाओं का सविस्तर अध्ययन]

—एच० डी० वेलकर

द आर्यंस, द डोमिस्टिकेटेड हार्स, ऐंड द स्पोक्ड चैरियट ह्वील [पालतू घोड़ों और अरियों वाले रथचक्रों के विकासक्रम के साक्ष्य पर आर्यों की ऐतिहासिकता का अनुशीलन]

— के० डी० सेठना

एंटीक्विटी आव माडर्न द्वारका ऐंड द्वारका इन लिटरेचर ऐंड आर्कियोलाजी [द्वारका की स्थिति संबंधी सदर्भों का पुनर्परीक्षण]

—एच० डी० सांकलिया

सोम इन द ब्राह्मणज आव द ऋग्वेद [ऋग्वैदिक ब्राह्मणों के संदर्भ में सोम के स्वरूप का विवेचन]

—एन० जे० शेंडे

बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज, यूनिवर्सिटी आव लंदन

भाग २७ संख्या १,१९६४

ऐस्पिरेट संधि [सघोष संधि का अनुशीलन]—जे० ई० बी० ग्रे, भाग २८, संख्या २, १९६५।

हरिभद्र [हरिभद्र और उनकी कृतियों का वैज्ञानिक विश्लेषण]

—आर० विलियम्स

जर्नल आव द ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा

भाग १४, अंक १

क्रोनोलाजिकल डिस्टैंस बिट्विन राम ऐंड कृष्ण [राम और कृष्ण के मध्य कालांतर का विवेचन]

—डी० आर० मंकड

आर्किटेक्चरल टर्मिनालाजी इन द बाराणचरित [बाराणचरित में आए हुए वास्तुशास्त्र संबंधी शब्दों का विवेचन]

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

ए नोट आन द वर्ड कोष्ठागार [संस्कृत वाङ्मय के संदर्भों के आलोक में कोष्ठागार शब्द का अनुशीलन]

—राजेंद्रबिहारी पांडेय

ज्याग्रफी नोन टु द पउमचरिय [पउमचरिय में आए भौगोलिक संदर्भों का विवेचन]

पी० एम० उपाध्ये

नोवेना ऐंड नवरात्रि [नवरात्रि और ईसाई नोवेना उत्सव के मध्य संबंधसूत्रों की खोज]

—रामचंद्र कृष्ण प्रभु

थ्री स्टेजेज इन द एडवेंट आव सोम [सोम एवं उसके आविर्भाव के तीन सोपानों का विवेचन]

—सदाशिव ए० डांगे

भाग १४, अंक २

सोर्सेज आव द रामस्टोरी आव पउमचरियं [पउमचरियं की रामकथा के स्रोतों का विवेचन]

—के० आर० चंद्रा

द सोर्सेज आव हेमचंद्राज काव्यानुशासन [हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' के स्रोतों का विवेचन]

—वी० एम० कुलकर्णी

बुद्धिस्ट ग्लीनिंग्ज फ्राम द राजतरंगिणी [कल्हण की राजतरंगिणी में आए बौद्ध संदर्भों का अनुशीलन]

—एल, एम, जोशी

समीक्षा

भागवतदर्शन[1]

भागवतदर्शन डाक्टर हरवंशलाल शर्मा की कृति है जो थोड़े दिन पहले भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ से प्रकाशित हुई है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, इसमें भागवत महापुराण का विवेचन है। दर्शन शब्द देखकर किसी को संशय हो सकता है कि इसमें भागवत के केवल दार्शनिक पक्ष की ही मीमांसा होगी, किंतु बात वैसी नहीं है। दर्शन शब्द का प्रयोग यहाँ सामान्य अर्थ में हुआ है, अर्थात् भागवत का सांगोपांग और गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इतने व्यापक रूप में किसी पुराण के अध्ययन का हिंदी में यह प्रथम प्रयास है। पुस्तक बारह अध्यायों में विभक्त है, जिनके शीर्षकों से ही प्रतिपाद्य विषय की कुछ झाँकी मिल जाती है। अध्याय हैं भारतीय, वाङ्मय की परंपरा भारतीय वाङ्मय में पुराण, भारतीय धर्म और भक्ति का आंदोलन, श्रीमद्भागवत महापुराण, श्रीमद्भागवत में कृष्ण और गोपियाँ, कृष्ण का ऐतिहासिक विवेचन, श्रीमद्भागवत के दार्शनिक सिद्धांत, श्रीमद्भागवत में भक्ति, भागवत का साहित्यिक महत्व, श्रीमद्भागवत और वैष्णव संप्रदाय, श्रीमद्भागवत और मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य, श्रीमद्भागवत तथा पुष्टि संप्रदाय का ब्रजभाषा साहित्य, श्रीमद्भागवत तथा हिंदीतर मध्ययुगीन भाषाओं का साहित्य। इस तरह भागवतदर्शन में न केवल भागवत पुराण की ही आलोचना है, बल्कि समग्र पौराणिक साहित्य की भी संक्षिप्त चर्चा आ गई है, जो जिज्ञासुओं के बड़े काम की है। दर्शन, भक्ति साहित्य आदि सभी महत्वपूर्ण दृष्टियों से भागवत का यह अध्ययन ग्रंथ के विस्तार और गांभीर्य के सर्वथा अनुरूप है। संस्कृत में एक कहावत है कि 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' अर्थात् विद्वानों की भागवत में परीक्षा होती है। डाक्टर शर्मा ने प्रस्तुत कृति के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि यह उक्ति उन्हीं जैसे विद्वान् को ध्यान में रखकर प्रचलित हुई होगी।

प्राचीन समय में पुराणों का बड़ा महत्व था और वेदों के अध्ययन के वे अनिवार्य साधन माने जाते थे। इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् — यह कथन उसी का सूचक है। बाद में चलकर संस्कृत के ही पठन पाठन से विरक्ति हो गई, फिर कहाँ वेद, कहाँ पुराण? किंतु भारतीय संस्कृति और साहित्य को समझने के लिये पुराणों का अनुशीलन आवश्यक है। हमारे जीवन के समस्त स्रोत पुराणों से संबद्ध हैं। कुछ लोगों ने पुराणों को कपोलकल्पना मात्र मान रखा है जो दृष्टिविपर्यास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सच पूछिए तो पुराण इस देश की भावात्मक एकता के सबसे समर्थ माध्यम रहे हैं। उनसे लोगों को धर्म, दर्शन, अध्यात्म की शिक्षा ही नहीं मिलती थी, अपने पूर्वजों के महनीय चरित की स्मृति भी हरी हो उठती थी। इसीलिये पुराणों की कथा सुनने सुनाने की परंपरा हमारे यहाँ प्रचलित थी। उससे समाज का बड़ा कल्याण होता था। आज उस परंपरा के विच्छिन्न हो जाने से समाज का संयोजक सूत्र ही विच्छिन्न हो गया है जिसका परिणाम प्रत्यक्ष है।

भागवत पुराणों में सबसे प्रमुख तो है ही, उसका कवित्व भी अलौकिक है। मध्ययुगीन साहित्य पर उसका प्रभाव अपरिसीम है। कृष्णभक्ति के प्रायः सभी रूपों का वह प्रेरक है। भक्ति की अन्य शाखाओं पर भी उसका प्रभाव महत्वपूर्ण है। लेखक ने उन सारी विशेषताओं को बड़ी ही गंभीरता से उद्घाटित

---

1. प्र० भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ पृ० २८+६२४ मू० रु० १२.००

किया है। भागवतदर्शन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक का दृष्टिकोण सर्वथा तटस्थ और संप्रदाय निरपेक्ष रहा है। इसमें कहीं भी पूर्वाग्रह नहीं है और न अपनी भावना या धारणा के अनुसार व्याख्या करने की प्रवृत्ति ही है। शोध के अनुकूल जो वस्तु-परक दृष्टि होनी चाहिए, वह श्लाघ्य रूप में वर्तमान है। किसी लेखक का यह बहुत बड़ा वैशिष्ट्य है कि वह आलोच्य वस्तु की आड़ में अपने विचारों को आगे नहीं रखे। डाक्टर शर्मा इस वैशिष्ट्य के उल्लेखनीय निदर्शन हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रत्येक अध्याय सुविवेचित है। वे अध्याय विशेष महत्व के हैं, जिनमें दार्शनिक सिद्धांत, भक्ति, साहित्यिक महत्व, वैष्णव संप्रदायों पर प्रभाव आदि प्रदर्शित किए गए हैं। अंतिम अध्याय, जिसमें तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया, उड़िया, पंजाबी आदि साहित्य पर भागवत का प्रभाव दिखाया गया है भारत की भावात्मक एकता का अप्रत्यक्ष प्रमाण है, जो सदा से इस देश में रहा है। डा० शर्मा का यह कथन सर्वथा सत्य है कि 'मध्ययुगीन भाषाओं' के साहित्य के अध्ययन से यह बात सहज ही हृदयंगम हो जाती है कि भाषाओं के कारण साहित्यपरिधान चाहे जैसा भी रहा हो, उसमें धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता सर्वत्र उपलब्ध होती है। आज राजनीतिक एकता के इस युग में उस सांस्कृतिक एकता का सूत्र विच्छिन्न हो जाने से ही भावात्मक एकता शिथिल पड़ गई है। वह तभी सुदृढ़ हो सकती है, जब अपने सांस्कृतिक साहित्य के माध्यम से हम अतीत के साथ वर्तमान का समन्वय करें।

भागवतदर्शन अध्यात्म, भक्ति, साहित्य आदि के विद्वत्तापूर्ण विवेचन की दृष्टि से अभिनंदनीय कृति तो है ही, विविध साहित्यों की मूलभूत एकता को प्रकाश में लाकर उनका पारस्परिक संबंध दिखाकर भावात्मक एकता का, जो आधार प्रस्तुत किया है वह भी राष्ट्रीय दृष्टि से प्रशंस्य है। पुस्तक की प्रतिपादन शैली गंभीर होते हुए भी प्रांजल है, शास्त्रीय होते हुए भी सरल है। भागवत का ऐसा व्यापक तथा सर्वांगपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत कर डा० शर्मा ने वस्तुतः एक चिर अभाव की पूर्ति की है। जिसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं। भागवत-दर्शन से एक साथ ज्ञान और भावना दोनों की तृप्ति होती है। निःसंदेह इस पुस्तक से पुराणों के शास्त्रीय एवं सर्वांगीण अध्ययन की दिशा निर्दिष्ट होती है।

—डा० देवेंद्रनाथ शर्मा

हिंदी भाषा आंदोलन-एक समीक्षा[1]

प्रस्तुत पुस्तक में संसदसदस्य डा० गोविंददास के उन भाषणों का संकलन है, जो हिंदी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिये सार्वजनिक सभाओं, कौंसिल आफ स्टेट और संसद में दिए गए हैं। सत्र में इसी विषय पर हुए प्रश्नोत्तर भी हैं। साहित्यिक मंच से दिए गए भाषण हैं, जो हिंदी भाषा के प्रचार की कठिनाइयों का विवेचन करते हैं और उसके साहित्य पक्ष को उद्भासित करते हैं।

सेठ गोविंददास कांग्रेस के कर्मठ कार्यकर्ता, पुराने नेता और हिंदी भाषा की प्रतिष्ठा के लिये आंदोलन करनेवाले ऐसे साहित्यकारों में से हैं, जिनकी राजनीतिक और साहित्यिक गतिविधि में सुखद समन्वय रहा है। हिंदी के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए उन्होंने स्वतः लिखा है—मेरी वह माता रही है, जिसने मेरी आत्मा को पोसा है, उसका लालन पालन किया है·····।

मध्यप्रदेश के निवासी सेठ जी की हिंदी सेवाओं से भली भाँति परिचित हैं और जानते हैं कि साहित्यसृजन की ओर उनका रुझान बचपन में ही प्रकट होने लगा था। १२ वर्ष की अवस्था में सेठ जी ने अपना पहला उपन्यास लिख डाला था और २० वर्ष की आयु से वे हिंदी की सेवा में अनवरत लगे हैं।

हाल ही में दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य संमेलन द्वारा आयोजित हिंदी सप्ताह के अवसर पर जब उत्तर प्रदेश के एक युवक साहित्यकार

1. सं० लक्ष्मीचंद्र, प्र० हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग, पृ० ३१२, मू० रु० ५.००

ने विनम्र अनुरोध किया कि हिंदी प्रसार आंदोलन को अब युवकों के हाथों सौंपकर सेठ जी जैसे नेताओं को अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिए, तब अपने अध्यक्षीय भाषण में बाबू साहब ने जोर देकर कहा कि जब तक हिंदी को उसका संमानित आसन नहीं मिलता वे चैन से बैठने को तैयार नहीं है।

हिंदी को सारे देश में प्रचारित करने के उद्देश्य से केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में सन् १९२१ में बाबू साहब ने ही आवाज उठाई थी। इसके बाद उन्हें जब जब अवसर मिला, वे हिंदी के समर्थन में निःशंक बोलते और लिखते रहे। यद्यपि ऐसे अनेक अवसर उपस्थित हुए, जब उन्हें अपने मत पर बहुसंख्यक लोगों का स्पष्ट समर्थन कठिनाई से ही मिला।

हिंदी के प्रति उनके आग्रह से बहुतेरे रुष्ट भी हुए, तथापि उनकी हिंदीनिष्ठा के प्रति उनके विरोधी भी नतमस्तक होते हैं, इसमें संदेह नहीं है। सन् १९६३ में लोकसभा में एक सरकारी विधेयक पर बोलते हुए सेठ गोविंद दास स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के ओजस्वी व्यक्तित्व से टकरा गए। इतना ही नहीं भाषा विधेयक पर लोकसभा में मतदान के समय उन्होंने अपने दल की नीति के विरुद्ध मतदान किया।

इस संकलन में डा० गोविंददास के जो भाषण और विचार संगृहीत है उनमे यह जाना जा सकता है कि सबसे पहले १९ मार्च १९२७ को गोविंददास जी ने यह प्रस्ताव किया था कि भारतीय विधानमंडल के सदस्यों को हिंदी और उर्दू में भाषण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

हिंदी के विरोध में जो तर्क सामान्यतया प्रस्तुत किए जाते रहे है, सेठ जी ने उनका न्यायोचित और तर्कसाध्य समाधान प्रस्तुत किया है। अपने मत की पुष्टि के लिये उन्होंने भारतीय विद्वानों और योरोपीय विशेषज्ञों के अभिमत प्रस्तुत किए हैं।

अधिकांश लोगों की आज भी यह धारणा है कि सूक्ष्म मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति और वैज्ञानिक तथा तकनीकी साहित्य के सृजन के लिये हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ अनुपयुक्त है। इसके उत्तर में डा० गोविंददास ने अंग्रेजी के एक विद्वान् श्री क्रस्ट के कथन का उल्लेख किया है—यथा—इंडियन वर्नाक्युलर्स आर मैग्नीफिसेंट वेहिकल्स आव स्पीच ऐंड कैपेबुल आव एक्सप्रेसिंग एनी ह्यूमन कसेप्शन ऐंड बीइंग द वेहिकल आव द हायेस्ट साइंटिफिक एडूकेशन।

हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि तथा वैज्ञानिक और प्रशासकीय क्षेत्रों में इसकी क्षमता के विरुद्ध जो कारण अथवा तर्क दिए जाते है अपने भाषणों में बाबू साहब ने उनका निराकरण किया है।

हिंदी के समर्थकों पर सांप्रदायिकता का जो आरोप लगाया जाता है, उसका उत्तर सेठ जी ने गांधी जी के इन शब्दों में दिया है कि जब तक हम अंग्रेजी की गुलामी से मुक्त नहीं होते, तब तक राजनीतिक स्वराज्य अधूरा है। प्रजातंत्र में प्रजा की भाषा की उपेक्षा घोर अन्याय है।

हिंदी के समर्थन में सेठ जी ने अहिंदी क्षेत्रों के महापुरुषों के उद्धरण दिए है। उनमें नेता जी सुभाषचंद्र बोस का उद्धरण इस प्रकार है—मैं इस बात को मानता हूँ कि बंगाली लोग अपनी मातृभाषा से अत्यंत प्रेम करते है और यह कोई अपराध नहीं है। शायद हममें से कुछ ऐसे आदमी भी है जिन्हें इस बात का डर है कि हिंदीवाले हमारी मातृभाषा को छुड़ाकर उनकी जगह पर हिंदी रखवाना चाहते है। यह भ्रम निराधार है। हिंदी के प्रचार का उद्देश्य केवल यही है कि जो काम आज अंग्रेजी से लिया जाता है वह आगे चलकर हिंदी से लिया जाय।'

हिंदी के प्रयोग और प्रसार के लिये 'हिंदी चलाओ' योजना के अंतर्गत कुछ व्यावहारिक सुझाव सेठ जी ने प्रस्तुत किए है। यथा—

१—हिंदी के प्रयोग के बारे में जो नियम अब तक बने है, उनका उल्लंघन करनेवाले व्यक्तियों और संस्थाओं के विरुद्ध कार्रवाई।

२—सरकारी कर्मचारियों को हिंदी में काम करने का प्रशिक्षण।

३—सरकारी नियमों, नियम पुस्तकों, मूल नियमावलियों आदि का अनुवाद।

४—अनुवाद की अपेक्षा मौलिक लेखन पर विशेष ध्यान।

५—वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का निर्माण।

६—विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी अथवा प्रादेशिक भाषाओं का चयन।

७—अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के लिये प्रतियोगिता परीक्षाओं के माध्यम के रूप में हिंदी का चलन।

इनमें से १ को छोड़कर शेष पर केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों, स्वैच्छिक हिंदी प्रचार-संस्थाओं और विश्वविद्यालयों द्वारा काम किया जा रहा है।

हिंदी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के आंदोलन के संबंध में जिन्हें अधिकृत जानकारी प्राप्त करने की इच्छा है, उनके लिये यह पुस्तक संग्रहणीय है।

हिंदी के आंदोलन का क्रमिक इतिहास भी इसमें मिलता है। हिंदी के पक्ष में दिए गए भाषणों को समझ लेने के बाद यह बात पाठकों को बार बार कुरेदेगी कि इतना सब होने पर भी हिंदी को वांछित प्रतिष्ठा क्यों नहीं मिल पाई। इसका एकमात्र कारण यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी के लिये जैसी मनोभूमि वांछित थी, वैसी कदाचित् तैयार नहीं की गई और फलस्वरूप दक्षिण भारत में हिंदी साम्राज्यवाद का भय फैल गया। प्रत्येक राष्ट्रव्यापी आंदोलन में जनसाधारण का सहयोग आवश्यक होता है। हिंदी के प्रचार और प्रसार के आंदोलनों में ऐसे व्यापक सहयोग का भरपूर यत्न नहीं हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित की गई है। संकलनकर्ता श्री लक्ष्मीचंद्र हैं। पुस्तक में २११ पृष्ठ हैं। मूल्य नौ रुपये है। मुद्रण आदि संतोषप्रद है।

—ओ० नायक

●

साहित्य और मनोविज्ञान—ले० देवेंद्र इस्सर, बुक हाउस, नई दिल्ली, मूल्य ६, ५०।

रचनाप्रक्रिया को विवृत और विवेचित करने के जो प्रयास आधुनिक युग में हुए हैं उनका महत्व असंदिग्ध है अतः साहित्य और मनोविज्ञान के संबंध का स्पष्टीकरण अत्यंत आवश्यक हो उठा है। फ्रायड ने मन के अंतःप्रदेश में प्रवेश करने की ताली दी जिसके संशोधन और संवर्धन की चेष्टाएँ युंग और एडलर ने कीं। पश्चिम में साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन इन पद्धतियों के आधार पर किया गया और साहित्य की अंतर्मुख चेतना के विश्लेषण के प्रयास किए गए। श्री देवेन्द्र इस्सर ने इस संदर्भ में साहित्य और मनोविज्ञान के संबंध का विवेचन किया है। पुस्तक परिचयात्मक है और इससे दोनों के संबंध को समझने में सहायता मिलेगी। विषय की व्याप्ति इससे अधिक विस्तृत पुस्तक और व्यापक विवृति की अपेक्षा रखती है।

●

राजवाडे लेख संग्रह संपादक—तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी, अनुवादक श्री वसंत देव, प्रकाशक-साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, मूल्य १२, ५०।

श्रीविश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे के महत्वपूर्ण निबंधों का संकलन और संपादन तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने किया है। भारतीय और विशेष कर महाराष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन के लिये श्री राजवाडे के निबंध अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनका इतिहास-दर्शन-संबंधी दृष्टिकोण मौलिक और महत्वपूर्ण था और मराठी इतिहास के साधनों तथा सामग्रियों के संकलन और विश्लेषण विवेचन में राजवाडे ने अपने स्तुत्य प्रयास किए थे। अंग्रेजी इतिहासकारों के प्रति उनकी अनास्था ने इतिहास के अध्ययन को नई दिशा दी। मराठी भाषा और साहित्य, महानुभाव-संप्रदाय और उसकी विचारधारा के उद्घाटन का श्रेय भी श्री राजवाडे को है। नवीनतम आलोक में उनकी धारणाओं में संशोधन की अपेक्षा भले ही ज्ञात हो, उनके अनुसंधान का महत्व कम नहीं होता। इनके शोधात्मक निबंधों का यह संकलन अन्वेषियों के लिये अत्यंत उपादेय है। इसके अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

मानस मयूख—(त्रैमासिक शोध-पत्रिका) संपादक रामादास शास्त्री एम० ए०, वर्ष-१ प्रथम प्रकाश (३० जून, सन् १९६४ ई०) १७२ जे० एन० मुखर्जी रोड, सलकिया, हवड़ा, मूल्य दो रूपये।

संपादक मंडल में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र और पं० बलदेव उपाध्याय जैसे विद्वान् और पंडित हैं और इस अंक में कई निबंध उल्लेख्य और पठनीय हैं। मानस संबंधी रचनाओं की यह विशेष पत्रिका है और इस प्रकार का प्रथम प्रयास। संपादक ने महत्वपूर्ण निबंधों का संकलन उपस्थित किया है। मानस संबंधी शोध को इस पत्रिका से विशेष बल मिलेगा। साहित्य के अध्यापक और छात्र, शोध कर्त्ता और मानस प्रेमियों के लिए यह पत्रिका उपादेय है। ऐसे प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ।

*

प्रासाद मंडन—(मंडन सूत्रधार विरचित) अनुवादक और संपादक पं० भगवान दास जैन प्रकाशक-बी० एम० शर्मा बी० एस० सी, विशारद; जयपुर सिटी, मूल्य सोलह रुपये।

प्राचीन भारतीय स्थापत्य कला के विस्मय-जनक आदर्श हमारे देश में उपलब्ध हैं, यद्यपि काल क्रम, विदेशी आक्रमण और हमारी उदासीनता के कारण अनेक की सुरक्षा संभव नहीं हो सकी। प्रासाद मंडन स्थापत्य कला का मेरुदंड है जिसके आधार पर देवालयों का निर्माण होता रहा। इसमें देवालयों की जातियों तथा माप-परिमाण के साथ ही साथ उनके गुणदोष का विवेचन भी है। देवालय निर्माण परमार्थ लाभ की चिंता से अनुप्राणित रहा। प्रासादमंडन का रचयिता सूत्रधार मंडन राणा कुंभ (१४३३-१४६८ ई०) का समकालीन और सभासद था। उन्होंने कीर्तिस्तंभ का निर्माण कराया था। मुस्लिम काल में ऐसे ग्रंथों की रचना से सूचना मिलती है कि निर्माण कला उन्नत और सजीव थी। ईरानी कला से भारतीय कला की तुलना करने की सामग्री और सूत्र भी इसमें मिलते हैं। भारतीय संस्कृति और कला के उपादानों का अन्वेषण ऐसे ग्रंथों के आधार पर ही किया जा सकता है। लेखक और प्रकाशक दोनों का श्रम श्लाघ्य है, यद्यपि इसके संपादन में जिस विश्लेषणात्मक पद्धति की अनिवार्यता थी उसका अभाव हमें मिलता है।

*

औचित्य विमर्श—ले० प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी प्रका० भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, मूल्य ६,०० रुपये।

क्षेमेंद्र कृत औचित्य विचार चर्चा के संदर्भ में प्रो० त्रिपाठी ने औचित्य की चर्चा की है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तत्संबंधी सिद्धांतों के साथ क्षेमेंद्र के मत की तुलना भी की है। इसी संदर्भ में त्रिपाठी जी ने पं० नंददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेंद्र और कुछ इतर विचारकों मंतव्यों का भी अध्ययन किया है। औचित्य विषयक प्राचीन और आधुनिक विचारधाराओं के समेटने का उपक्रम इस ग्रंथ में उपलब्ध है। जब ऐसे सभी लेखकों की चर्चा यहाँ अभिष्ट थी, जो औचित्य की चर्चा करते रहे हैं तो पं० बलदेव उपाध्याय का छूटना आश्चर्यजनक है क्योंकि साहित्यशास्त्र में उन्होंने औचित्य संप्रदाय की चर्चा की है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास का अध्ययन मूल ग्रंथों पर आधृत नहीं। ऐतिहासिक अनुक्रम एवं तत्कालीन काव्य-चेतना के संबंध के अभाव में यह अध्ययन गंभीर न होकर निर्देशन मात्र हो गया है। भारतीय साहित्यशास्त्र को बहिरंग और अंतरंग के वर्गों में वर्गीकृत करने का प्रयास भी सात्विक नहीं है। काव्य के परिपार्श्व में समस्त भारतीय साहित्यशास्त्र का अध्ययन करना अनिवार्य सा है। प्रो० त्रिपाठी की कृति संग्राहिका है और उपस्थापन विवृतिप्रधान। इतना होने पर भी औचित्य संबंधी चर्चा की ओर हमारा ध्यान जाता है यद्यपि यह विवेचन औचित्य की सीमा और व्याप्ति के निर्धारण में अक्षम ही रहा है।

*

भक्तिरसामृत सिंधु—(श्री रूपगोस्वामी) भाष्यकार, सिद्धांत शिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर, प्रकाशक हिंदी अनुसंधान परिषद् हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मूल्य २५ रुपए।

डा० नगेंद्र के निर्देशन में कार्यशील हिंदी अनुसंधान परिषद ने काव्यशास्त्रीय आकर ग्रंथों

के अनुवाद द्वारा हिंदी को समृद्ध करने का जो प्रयास किया है, वह अद्वितीय है। इस ग्रंथमाला में काव्यालंकार सूत्र, वक्रोक्ति जीवितम्, अरस्तू का पोयटिक्स काव्यादर्श, अग्निपुराण के काव्य-शास्त्रीय भाग, अभिनव भारती, नाट्य दर्पण के हिंदी अनुवाद उपस्थित किए गए हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने इस ग्रंथ के अनुवाद में अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान का निस्संकोच उपयोग किया है। 'भक्तिरसामृतसिंधु' भक्ति रसप्रतिपादक शास्त्रीय ग्रंथ है, जिसमें भक्ति को रसत्व की गरिमा से मंडित करने का प्रयास किया गया था। काव्यशास्त्रीय आचार्य इसे भाव के अंतर्गत मानते थे। इसी क्रम में भक्ति के स्वरूप, लक्षण और प्रयोजन का निर्धारण है। श्री रूपगोस्वामी ने इसकी रचना शास्त्रीय ग्रंथों की परम्परा में की है और उज्ज्वल नीलमणि के साथ यह ग्रंथ सदा उल्लेख्य रहा है। डा० विजयेंद्र स्नातक और डा० रामसागर त्रिपाठी की भूमिका और भक्ति-रस-मीमांसा के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण भी हुआ है। इसमें इस ग्रंथमाला के प्रधान संपादक डा० नगेंद्र की भूमिका का अभाव खलता है क्योंकि उनकी भूमिका से पाश्चात्य काव्यशास्त्र के साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक दृष्टि का समावेश होता। भक्तिरस का व्यवहृत पक्ष यदि वल्लभसाहित्य में है तो शास्त्रीय पक्ष चैतन्यमत संबंधित। भक्ति के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये भी इस ग्रंथ का अध्ययन अनिवार्य है। हिंदी अनुशीलन को ऐसे अनुवादों से अधिक क्षमता प्राप्त होगी। इसकी उपादेयता असंदिग्ध और महत्ता अक्षुण्ण है।

दसवेआलियं (दशवैकालिक) भाग—२ अनु० आचार्यतुलसी, प्रकाशक—जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, ३ पोर्चुगीज चर्चस्ट्रीट, कलकत्ता—१, मूल्य पच्चीस रुपए।

दशवैकालिक की कई संस्कृत टीकाएँ हैं और हिंदी में भी कई अनुवाद प्रकाशित हैं किंतु अपेक्षाकृत सर्वांगपूर्ण यह टीका अत्यंत महत्व की है। जैनधर्म के आगमों की दो शाखाएँ कालांतर में विकसित हुई और भगवान महावीर के निर्वाण के बहुकालबाद इनकी रचना हुई। जैन संघ ने इन्हें संकलित किया। जैन जीवन-दर्शन और आचारपद्धति के अध्ययन के साथ ही साथ समसामयिक चिंताधारा, सांस्कृतिक चेतना और आचार मीमांसा के अध्ययन के लिये ऐसे ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्य है। विदेशी विद्वानों द्वारा किए अपूर्ण, अपर्याप्त और अनुदार अनुवादों के आधार पर ऐतिहासिक सामग्री का संचयन होता आया है और उन आधारों पर निष्कर्ष दिए जाते रहे हैं जो अवास्तविक और छलपूर्ण है। जैनसाहित्य अपेक्षाकृत सुरक्षित रहा है और इनके प्रकाशन से भारतीय धर्म-साधना के इतिहास की आवश्यक सामग्री प्रकाश में आ रही है। भूमिका में कई महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन है जिनमें महत्वपूर्ण है—श्वेतांबर और दिगंबर परंपराओं के अनुसार आगमों का वर्गीकरण, आगम विच्छेद का क्रम, उपलब्ध आगम, प्रस्तुत आगम स्वरूप और परिचय तथा दशवैकालिक विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में मूल की संस्कृत छाया के साथ टीका और संस्कृत टीका की हिंदी टीका भी संवलित है। परिशिष्ट की शब्दसूची भाषा के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और उनकी व्युत्पत्ति अन्वेषण की चिंता भी उपनिविष्ट है। प्रकाशन सर्वांग सुंदर और अनुवादपक्रिया महत्वपूर्ण तथा उपादेय है। ऐसे प्रकाशन के लिये महासभा को बधाई देना चाहूँगा। धर्मसाधना सांस्कृतिक चेतना, आचार मीमांसा, व्यवहार दर्शन, भाषा विज्ञान और इतिहासज्ञ के अध्येता के लिये यह ग्रंथ अनिवार्य महत्व का है, और ऐसी महत्वपूर्ण टीका के लिये आचार्य तुलसी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

—रामखेलावन पांडेय

शील निरूपण : सिद्धांत और विनियोग[1]

देशी और विदेशी कथा साहित्य में शील का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान माना गया है।

1. लेखक श्री जगदीश पांडेय, पृ० सं० २९९ द्वि० सं० १९६३, मूल्य दस रुपये प्रकाशक अर्चना प्रकाशन, आरा (बिहार)

आलकों पर विचार करते हुए भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में वस्तु और रस के साथ नेता को नाटक का प्रधान तत्त्व स्वीकार किया और उसके शीलगुण का परीक्षण कर उसके विभिन्न वर्गों एवं लक्षणों का निर्धारण किया। तबसे लेकर आधुनिक काल तक किसी न किसी रूप में शील निरूपण पर विचार किया जाता रहा है। रीतिकाल में नायक और नायिकाओं के नाना भेद प्रभेद उनकी अवस्था और स्थिति के आधार पर किए गये और वृहद् साहित्य रचा गया। यह सब पात्रों के शीलनिरूपण के लिये ही किया गया। पाश्चात्य कथासाहित्य में चरित्र चित्रण (कैरेक्टर राइजेशन) भी शीलनिरूपण का ही पर्याय है और चरित्रों के विविध वर्गों, उनके अंतर बाह्य संघर्ष और इस आधार पर चरित्रों का यथार्थ चित्रण कथाकार की सच्ची कुशलता मानी गई। शेक्सपीयर और 'शा' जैसे युग प्रवर्तक नाटककारों और माम् तथा जोला जैसे उपन्यासकारों की प्रसिद्धि बहुत कुछ उनके चिर नवीन चरित्रों पर ही आधारित है।

अंग्रेजी में कथासाहित्य के एक एक तत्व पर विशेषतया चरित्रचित्रण पर उच्चस्तरीय समीक्षा ग्रंथ उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथकर्ता श्री जगदीश पांडेय एच० डी० जैन कालेज आरा में अंग्रेजी के प्रवक्ता हैं और लगता है कि उस साहित्य से उनका अच्छा परिचय है। इस ग्रंथ में लेखक ने अपने उस परिचय का पूरा उपयोग किया है। (क्योंकि सिद्धांत खंड में प्रायः सभी उदाहरण अंग्रेजी कथा साहित्य से लिये गये हैं।) हिंदी में शीलनिरूपण पर स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में उनका यह प्रयास अभिनंदनीय है। जैसा नाम से ही प्रकट है, इस ग्रंथ के दो खंड हैं: प्रथम खंड 'सिद्धांत' और द्वितीय खंड 'विनियोग'। प्रथम खंड (पृ० सं० ६४) में शीलनिरूपण के कुछ सिद्धांत स्थिर किए गए हैं और द्वितीय खंड में उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर हिंदी के चार प्रमुख उपन्यासों गोदान, सुनीता, शेखर एक जीवनी और मैला आँचल का परीक्षण, विश्लेषण किया गया है। पता नहीं क्यों शील निरूपण के लिये लेखक ने केवल उपन्यासों को ही उपयुक्त माना। वैसे उसके विचार क्षेत्र में तो नाटक, कहानी, उपन्यास सभी समाहित हैं और शील की सार्वभौमिक समीक्षा समीचीन होती।

'सिद्धांत' के अंतर्गत शील की व्याख्या और लक्षण तथा शील की श्रेणियों का निरूपण किया गया है। इसमें यत्र तत्र लेखक की मौलिकता के अच्छे नमूने मिलते हैं, जैसे शील की विविध श्रेणियों का नामकरण देखिये, (१) खड्गशील (आक्रामक और विरोध समर्थ) (२) छायाशील (डान क्विक्जोट और सुग्रीव आदि) (३) आधार काष्ठशील (४) शिविकारूढ़ शील। शील निदान आदि का इसी प्रकार लेखक ने अपनी एक विशिष्ट शैली में ऐसा निरूपण किया है जो आलोचना से अधिक व्यक्तिगत निबंध का आनंद देता है। संस्कृत समीक्षा शास्त्र में गिनाये गये नायक के भेदों की सरसरी तौर पर विवेचना करते हुए प्रेमचंद जी के वर्गगत एवं व्यक्तिगत चरित्रों को सामान्य लक्षण शील और स्वलक्षशील के नाम से अभिहित करके उनपर अपेक्षाकृत विस्तार से विचार किया गया है।

विनियोग वाले द्वितीय खंड में ७५ पृष्ठ गोदान पर, ५०-५० पृष्ठ प्रायः सुनीता और शेखर एक जीवनी पर लगाया गया है किंतु मैला आँचल पर कुल दस पृष्ठ की समीक्षा है जिसमें से शील निरूपण पर एक पृष्ठ भी स्वतंत्र रूप से नहीं खर्च किया गया है। अधिकतर उपन्यास के रचना—शिल्प की चर्चा करके ही लेखक ने उसपर अपना फतवा दे दिया है और उसे विदेशी साहित्य की भद्दी नकल कहा है। शेखर के चरित्र को भी लेखक ने विदेशी उपन्यासों का स्टीरियो टाइप (मुद्रित सामान्य) चरित्र ही बताया है और पूरी पुस्तक का उपयोग शेखर की आत्मरति के विकृति उदाहरणों को चुनने के लिये किया है। और अंत में अपना मत भी दिया है कि। 'शेखर संग्रह की प्रतिष्ठा भले ही बढ़ाये, रस की सनातनकृति नहीं।' शीलनिरूपण की दृष्टि से इस उपन्यास में बाधा

मदनसिंह महमन और रामजी के चरित्रों में लेखक को कुछ मौलिकता मिली है पर उपन्यास के प्रमुख स्त्रीपात्र राशि का शील बहन और प्रेयसी के द्वंद्व में उलझकर विकृत हो गया है। इसी प्रकार सुनीता में नारी का व्यक्तित्व पत्नी और मित्र की भूमिकाओं के बीच भटक गया है। वैसे सुनीता शरत की टिपिकल नारी का नमूना भले लगे परन्तु उसके चित्रांकन में जैनेंद्र जी ने अधिक मौलिकता का परिचय दिया है। प्रेमचंद और उनके गोदान पर पहले से काफी लिखा जा चुका है। प्रस्तुत लेखक ने उसपर जमकर विचार करते हुए कई स्थलों पर अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है और होरी के शील की कई नई बारीकियों का पता लगाया है।

यदि भाषा के शिथिल और कहीं कहीं व्यर्थ आडम्बर को भेदकर कोई लेखक के मौलिक विचारों तक पहुँचने का कष्ट करे तो अवश्य उस शोध को समझने में सहूलियत होगी परन्तु कहीं कहीं पिटरपैन, पलुतार्क जैसे दशा के पारिभाषिक शब्दों और हिंदी पाठ्य मनस्कता तथा प्रतिक्रियापरस्तता जैसे शब्दों का प्रयोग करता से अमित हो गया तो ग्रंथ केवल उसके संग्रह की शोभा ही बढ़ायगा।

—डा० शितिकंठ मिश्र

*

लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटक[1]

आलोच्य ग्रंथ श्री भारतभूषण चड्ढा की एम० ए० की थीसिस का रूपांतर है। ग्रंथ अत्यन्त स्पष्ट और सरल अध्यापकीय शैली में लिखा गया है। अध्यापक की यह चिंता स्वाभाविक है कि उसकी बात विद्यार्थियों के लिये अधिक से अधिक सुगम हो, पर उच्चतर पाठक वर्ग के प्रति यही चिंता स्पृहणीय नहीं। श्री मिश्र जी के नाटक विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हैं और उन नाटकों को समझने के लिए यह लघु प्रबंध सहायक ग्रंथ का कार्य करेगा। ग्रंथ के आरंभ में डा० विजयेन्द्र स्नातक की भूमिका है जिसमें लेखक की विवेचनपद्धति को तटस्थ कहा गया है और इस लघु प्रबंध को विवेचन विश्लेषण का एक स्तुत्य प्रयास बताया गया है। डॉ० स्नातक की दृष्टि में इस ग्रंथ की सार्थकता इस बात में है कि अध्येताओं का ध्यान एक बार फिर मिश्र जी के नाट्य साहित्य के मूल्यांकन की ओर जायगा। श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र का आशीर्वाद भी साथ में है और ये सारी चीजें मिल मिलाकर प्रबंध से इसे पुस्तक तो बना ही देती हैं।

इस पुस्तक में चार अध्याय हैं। इनमें तृतीय अध्याय ही, वकौल चड्ढा जी, इस ग्रंथ का मुख्य भाग है जिसमें श्री मिश्र जी के सामाजिक नाटकों के विविध वर्गों के विभिन्न नाटकों की पृथक् पृथक् समीक्षा की गई है। प्रारंभिक दो अध्यायों को इस अध्याय की विस्तृत और व्यर्थ भूमिका ही मानना पड़ेगा, क्योंकि मिश्र पूर्व हिंदी नाट्य परंपरा' किसी नाटक की भूमिका का अथवा किसी नाट्य शास्त्र पर रचित ग्रंथ का अंश या अध्याय हो सकता है। द्वितीय अध्याय में नाटक के भारतीय व पाश्चात्य शास्त्र के आधार पर विविध तत्वों का विवेचन एवं नाटक के प्रकारों पर विचार किया गया है। यह भी किसी शास्त्र अथवा इतिहास का एक अध्याय हो सकता है। अत इन दोनों अध्यायों का विषय से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, वैसे कुछ न कुछ संबंध तो भारतेंदु एवं प्रसाद के अथवा भास और भवभूति के नाटकों से भी इस प्रबंध का जोड़ा ही जा सकता है और संस्कृत नाट्यशास्त्र की पूरी उद्धरणी की जा सकती है

चतुर्थ अध्याय इस प्रबंध का उपसंहार है जिसमें तत्कालीन युगप्रवृत्तियों और यथार्थवादी नाटककारों के संदर्भ में मिश्र जी के नाटकों की प्रेरणा की मौलिकता को स्पष्ट करते हुए उनपर तथाकथित इब्सन और शा' के अनुकरण के आरोपों का विश्लेषण किया गया है। कुल मिलाकर प्रस्तुत पुस्तक की उपयो-

1. लेखक—श्री भारतभूषण चड्ढा पृ० सं० १५०, मूल्य पाँच रुपया, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

नारायण जी मिश्र के नाटकों के एक वर्गविशेष को समझने में सहायक, अतएव संग्रहणीय है।

—डा॰ शितिकंठ मिश्र।

ईहामृग[1]

(कवितासंग्रह)

श्री बचनदेव कुमार जी नई पीढ़ी के कवि हैं। 'ईहामृग' उनकी ५२ कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह की समस्त कविताओं में स्वरूप एवं आस्थागत साम्य भले हो, पर विषय की एकरूपता का अभाव है। अतीत की भूलों की ओर संकेत करनेवाली 'एकलव्य की पुकार' जैसी कविताओं से लेकर वर्तमान जनजीवन की संत्रस्त झाँकी देनेवाले 'हकीकत' और 'प्रतिक्रियाएँ' नामक शीर्षक तो इस संग्रह में मिलेंगे ही, साथ ही 'आस्थागीत', 'प्रयाणगीत' 'बिहारकेसरी के प्रति' तथा 'भंडार नायक के निधन पर' शीर्षक से लिखी गई कविताएँ संग्रह के शीर्षक से मेल नहीं खातीं। पर समस्त रचनाओं में कवि ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, समाज की जिस विघटनवादी मूल प्रवृत्ति की ओर उसने संकेत किया है, उससे अनेकता में भी एकता का अद्भुत सूत्र स्थापित करने में कवि को सफलता मिली है। बचनदेव जी की मान्यताएँ न तो थोथी रूढ़ियों से संत्रस्त हैं और न वे अनावश्यक नवीनतावादिता की शिकार ही हैं। जीवन को प्रभावित करनेवाली जागतिक परिस्थितियों को देखने और समझने का जो संयत एवं संतुलित दृष्टिकोण इस संग्रह में पाया जाता है, उसने 'छंदः शास्त्र' का नाजायज़ विरोध करनेवाली कविताओं को भी सुपाठ्य एवं आकर्षक बना दिया है और वह केवल गद्य होते होते बच गई है। जिंदगी की जिस 'हकीकत' का कवि अनुभव करता है, वह हकीकत है—दर्द!

> भोगना पड़ता है स्वयं ही।
> किंतु खुशी।
> बँट जाती है, अनजाने आप ही!!

इसका आज कौन ऐसा है जो समर्थन नहीं करेगा। जीवन से सीधे उतारकर मासूमियत के साथ दर्द को सामने रख देने की कला बचनदेव कुमार जी को मिली है, इसमें संदेह नहीं। 'उपेक्षा, उपालंभ, उपसंहार एवं उपासना' के सोपानचतुष्टय से होकर आगे बढ़नेवाली मानवता को समाज के नवीन मूल्यमान, केवल बाधा ही नहीं दे रहे हैं, बल्कि उसे उसकी अतीतसंचित धरोहर से भी वंचित कर देने पर तुले हैं—

> 'भायप भगति' की टेक लिये पायँ पयादे
> दौड़नेवाले भरत
> 'भायप इडप' का व्रत लिये
> ....
> सीता की पदरेख बना चलनेवाले लक्ष्मण
> आज न जाने कैसे
> मशगूल हैं सीता की कटि पर हाथ दिये
> बालडांस में।

जिसे देखकर कवि तड़प उठा है। जीवन में स्वार्थ और असंयम के के बढ़ते वेग को देखकर कवि की भड़कना पर जो प्रभाव पड़ा है, उसके व्यंग्यात्मक चित्रों से, यह संकलन अत्यंत समृद्ध हो गया है। वर्तमान युगबोध के निर्जीव चित्र उतारने में ही कवि 'मशगूल' नहीं रहा है, बल्कि उसने अनौचित्य पर निर्मम प्रहार भी किए हैं।

शहरी यंत्रजीवन की नीरसता से ऊबकर जब कवि चाँदनी को टूटे छप्परों की याद दिलाता है, तो मानव जीवन के वर्तमान आर्थिक वैषम्य की ओर पाठक की आँखें सहसा उठ जाती हैं। 'ईहा' अर्थात् इच्छा की वर्तमान दौड़ (मृग) ने मानव को किस तनावपूर्ण स्थिति में ला उपस्थित कर दिया है, इसका भी उल्लेख कवि नहीं भूला। अभिव्यक्ति के निमित्त नए प्रतीकों के प्रयोग का यह आग्रह इस संकलन में सर्वत्र देखा जा सकता है—

> यह जिंदगी।
> जैसे बम्बई मेल की तीव्र रफ्तार हो।

संग्रह समाप्त कर लेने पर जो समन्वित प्रभाव पाठक पर पड़ता है, उसके आधार पर कहा जा

---

[1] ईहामृग, ले॰ श्री बचनदेवकुमार, प्र॰ सर्जना प्रकाशन, पटना—६

सकता है कि बच्चनदेव जी आस्थावादी कवि हैं जो अपने भाव को अनुकूल भाषा, एवं यथार्थ वातावरण का परिवेश देकर व्यक्त करना जानते हैं। विषयवैविध्य की दृष्टि से तो इस संग्रह का महत्त्व है ही, भाषा, भाव एवं कलात्मक बिंबयोजना की दृष्टि से भी यह संकलन अभिनंदनीय है।

—डा० त्रिभुवन सिंह

*

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य[1]—अपने अंतःप्रकाश से सहस्रों मानवों के तमपूर्ण जीवन में ज्योति की शिखा प्रज्वलित करनेवाले भारतीय मनीषी, संत एवं आचार्य आत्मकथा लिखना अथवा राजन्यवर्ग का जीवनचरित लिखना परिपाटीविरुद्ध अथवा स्वाभिमान के प्रतिकूल समझते थे। प्राकृतजनों के गुणगान में वे भारती के कोप का इंगित पाते थे। पुराणों, महाकाव्यों तथा नाटकों में भिन्न चरितनायकों का उल्लेख हुआ है, उनमें ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा अतिरंजित एवं अतिप्राकृत तत्वों का ही आधिक्य है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में जीवनचरित और आत्मकथा ग्रंथों का सर्वथा अभाव है। परिणामस्वरूप हमारे प्राचीन इतिहास का उज्वल एवं गौरवपूर्ण अंश आज भी तिमिराच्छन्न है ही, साथ ही उसमें विदेशी अहंमन्य इतिहासकारों व लेखकों को भ्रमपूर्ण तथ्य एवं अपमानजनक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का अवसर भी मिला है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टि से जीवनी या चरित लिखने का सर्वथा अभाव मिलता है। इसका विकास आधुनिक युग में पाश्चात्य प्रभाव से हुआ है। हिंदी में जीवनी-लेखन का कार्य लगभग १८८० के बाद ही प्रारंभ हुआ। वैसे जैन कवि बनारसीदास द्वारा सत्रहवीं सदी में लिखा आत्मचरितकाव्य अर्ध कथानक भी मिल जाता है। कार्तिकप्रसाद खत्री, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, राधाकृष्ण दास, और मुंशी देवीप्रसाद आदि ने जीवनचरितलेखन में विशेष रुचि ली। अब हिंदी का जीवनी साहित्य अतिरंजित उपाख्यानों, इतिवृत्तात्मक ब्योरों और अस्फुट प्रसंगों की स्थिति से आगे बढ़कर जीवनतथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण, सम्यक् निरूपण और मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में गतिशील हो रहा है।

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य—आत्मकथा प्रो० भगवतीप्रसाद पांथरी द्वारा आत्मकथात्मक शैली में चंद्रगुप्त मौर्य की जीवनगाथा प्रस्तुत करनेवाला चरितग्रंथ है। इसे मैं इतिहास तथा कथासाहित्य दोनों से भिन्न जीवनी साहित्य के अंतर्गत ही रखना चाहूँगा, क्योंकि न तो इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का शुष्क आकलन मात्र है और न केवल कल्पना की ऊँची उड़ान। वस्तुतः जीवनचरित में नायक के जीवन की बाह्य स्थूल घटनाओं तथा आंतरिक विशेषताओं दोनों का उद्घाटन होता है। शिप्ले के अनुसार जीवनी को नायक के संपूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ठ भाग की चर्चा करनी चाहिए और अपने आदर्श रूप में एक विशिष्ट इतिहास होना चाहिए। इस दृष्टि से मैं इस कृति को सफल जीवन साहित्य मानता हूँ। इसमें मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त की जन्म से लेकर पचास वर्षों तक की कहानी सम्राट् के मुख से स्वयं कहलवाई गई है। वह अपने जन्मगुरु चाणक्य से भेंट, तक्षशिला की शिक्षापद्धति, सिकंदर के आक्रमण, सामंती व्यवस्था के संदर्भ में भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति तथा अपने शासनस्वरूप का विश्लेषण स्वयं करता है। इस प्रकार एक नूतन शैली में हमें प्राचीन भारतीय आत्मा के दर्शन हो जाते हैं।

लेकिन रचना का महत्त्व उसकी प्रतिपाद्य शैली में ही नहीं है और न लेखक का उद्देश्य सिर्फ गड़े मुर्दे ही उखाड़ना है। वस्तुतः उसने अतीत के माध्यम से अनागत का निर्देशन किया है। सामयिक सत्य की व्यंजना इसकी मुख्य विशेषता है। पाकिस्तानी दाँव पेंच और चीनी आक्रमण के संदर्भ में ऐसे ग्रंथों

---

१. सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य की आत्मकथा, ले० भगवतीप्रसाद पांथरी, प्र० भगवतीप्रसाद पांथरी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, पृ० ११२, मू० रु० ३.७५

का महत्व आचार्य चाणक्य का यह कथन कि जब तूफान आता है तो जंगलों में जो पेड़ अकेले होते हैं, चाहे वे कितने ही बड़े और भारी हों, उखड़ जाते हैं; लेकिन जो पेड़ समूह में होते हैं, वे तूफान के झोंकों को आसानी से मिलकर सह लेते हैं। विदेशी आक्रमण के अवसर पर हमारा देश यदि मिलकर नहीं रहा तो कैसे हम पार पाएँगे ? (पृष्ठ ३३) क्या आज की परिस्थिति पर लागू नहीं होता ? चंद्रगुप्त की इस नीति से कि—संसार का यह कुछ नियम सा बन गया है कि सीधे से कोई बात नहीं मानता; इसलिये अपनी बात मनवाने को जब तब टेढ़ा बनना और शक्ति बर्तना जरूरी हो जाता है—शांति एवं अहिंसाप्रेमी कतिपय सर्वोदयी तथा अन्य नेताओं को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो पाकिस्तानी और चीनी चाँटा सह कर भी विश्वमैत्री के नाम पर अनर्गल बातों का प्रचार करते रहते हैं। काश, चाणक्य के इस सिद्धांत को हम अब भी मानते कि शत्रु को कभी घर में घुसने का मौका नहीं देना चाहिए और सीमा पार करने से पहले ही रोक देना चाहिए।' (पृष्ठसंख्या ६८) और पाकिस्तानियों को प्रारंभ में ही कश्मीर के बाहर खदेड़ देते तथा तिब्बत में ही चीनियों से मोर्चा लेते तो आज हमारी यह दुर्दशा न होती। वस्तुतः हमारे देश की वर्तमान परिस्थिति बहुत कुछ उसी समय के समान है। विघटनकारी प्रवृत्तियों तथा स्वार्थी एवं मिथ्या यशलोभी नेताओं का जमघट कहाँ देश को रसातल न पहुँचा दे, इस चिंता से लेखक चिंतित हो उठा, जैसा कि मन की बात में उसने चंद्रगुप्त के माध्यम से स्वीकार भी किया है—भारत की जो स्थिति मेरे जमाने में थी—वैसी ही स्थिति में पुनः भारत को फँसा देखकर मेरा अदेही मन विकल हो उठा। यह रचना इसी आकुल चित्त की पुकार है। अतः लेखक बधाई का पात्र है।

—(डा०) वासुदेवसिंह

मूलबीजक

श्री सदगुरु कबीर साहब कृत 'मूलबीजक' को श्रीमान् महंत रामखिलावन गोस्वामी जी ने संशोधन संपादन किया है। वे ही प्रकाशक भी हैं। इस ग्रंथ के संबंध में कहा यह जाता है कि 'भगताही कबीर पंथ' में 'प्राचीन कबीर साहब' के समय से ही 'भगवान् गोस्वामी के नाम के ऊपर भगताही फिरकर चला आता है।' इसके संस्थापक श्री भगवान् गोस्वामी बड़े विद्वान् और अच्छे संत थे। उन्होंने बीजक को स्वयं कबीर साहब से अर्थसहित पढ़कर लेखबद्ध कर लिया था। श्री भगवान् गोस्वामी द्वारा वही रचित प्रति 'धनौती' मठ में सुरक्षित है। उन मठ के श्रीमान् महंत श्री रामधारी गोस्वामी साहब की आज्ञा से वह प्रथम बार प्रकाशित हो रही है। इसके पूर्व—उस प्रति का आधार लेकर भी बीजक के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए तथापि 'धनौती' से यह बीजक प्रथम बार छप रहा है। इसके संशोधन और संपादन का क्रम किसी भी प्रकार वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। 'भूमिका' एवं वक्तव्य आदि भी पंथापरक ढर्रे के हैं। भूमिका आदि की भाषा भी उसी कोटि की। यदि सचमुच ही इस ग्रंथ की पांडुलिपि ५०० वर्षों से अधिक पुरानी है तो हिंदी साहित्य और उसके इतिहास के अध्येताओं के लिये इस ग्रंथ का कुछ महत्व हो सकता है। संपादक ने छंदों को ढूँढ निकालने और उसका लक्षण देने में विशेष श्रम किया है; तदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं।[1]

—नैयायिक

---

१. मूलबीजक—गुटका आकार। संपादक, संशोधक और प्रकाशक—श्रीमान पं० महंत रामखिलावन गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य। पृ० सं० कुल १४८+१८, मूल्य २ रुपए ५० पै०।

स्वगता[1]

अल्फा बीटा ग्रंथ प्रतियोगिता (१९६३ ई०) में प्रथम पुरस्कार प्राप्त इस संकलन में दिल्ली की प्राध्यापिका सुश्री मधु की सन् १९५० से ६२ तक लिखी ४६ रचनाओं का संकलन है। तरुण मन के सहज चंचल उच्छ्वास इन गीतों में अभिव्यक्त हैं। इसमें यौवन की आशा, निराशा, प्रेम, वेदना, आस्था एवं अनास्था की स्वानुभूति है। इन गीतों में कहीं कहीं संगीत की मधुर झंकार भी है। यद्यपि शैली की दृष्टि से छायावादी शिल्पविधान के दर्शन इन रचना में होते हैं, तो भी भावाभिव्यक्ति सरल और स्पष्ट है।

संक्रांत[2]

'संक्रांत' में श्री कैलाश वाजपेयी की ६४ कविताएँ हैं। युगजीवन में व्याप्त अनास्था के प्रति इन रचनाओं में साग्रह जो आस्था व्यक्त की गई है। वह वर्तमान समाज के आदर्श और कर्म में व्याप्त असंगति के प्रति आक्रोश तो प्रकट करती ही है साथ ही उन परंपरागत सामूहिक मूल्यों के प्रति एकांत प्रतिक्रिया भी प्रकट करती है क्योंकि कवि उन मूल्यों को झूठा समझता है और उनसे समझौता करना नहीं चाहता।

नई कविता का आंदोलन गत अनेक वर्षों से चल रहा है। उसके समर्थन एवं विरोध में उठाए गए प्रश्नों को सोचने, समझने और चिंतन के लिये महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। अपने अपने पक्ष के प्रतिपादन में विवेक एवं तर्क के साथ कहीं कहीं आक्रोश एवं असंयम का भी दर्शन हुआ है। प्रश्न उठा देने का भी अपना महत्व है। नई कविता ने साहित्य के संमुख एक समस्या खड़ी कर दी है, यह एक महत्व की बात है। प्रश्न उठानेवाला ही जब व्याख्याता और निर्णायक दोनों बन जाता है तो समस्या और भी उलझ जाती है यद्यपि यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रहती, तो भी कुछ ऐसे तत्व इनके मध्य से प्रकट होते हैं जो सहज स्वीकृति के अधिकारी होते हैं। नई कविता इसका अपवाद नहीं है। नए काव्य के नाम से जो कुछ रचा जा रहा है सबका सब त्याज्य ही नहीं है। तभी कविता में कुछ नए सुंदर प्रतीक एवं श्रेष्ठ व्यंग के भी दर्शन हुए हैं। युग में व्याप्त कुंठा के प्रति घोर व्यक्तिपरक यथार्थ चित्रों का अंकन भी मिलता है। ये तथ्य भी अपने में महत्व रखते हैं। नई कविता की कुछ अपनी विवश सीमाएँ भी हैं। इन सीमाओं के मध्य उसका संयत मूल्यांकन किया जाना चाहिए क्योंकि उपेक्षा या आक्रोश समस्या का निदान नहीं कर सकते, उलझा उसे भले ही दें।

कैलाश वाजपेयी की इन रचनाओं में आशा एवं विश्वास भले ही न मिलें, और अतीत एवं परंपरा के प्रति नास्तिकता का व्यक्तिगत आक्रोशपूर्ण स्वर भी मिले, किंतु इसमें तीखे व्यंगों एवं कुछ स्वस्थ नवीन प्रतीकों का अभाव नहीं मिलेगा। भाषा में भी नवीन प्रयोग मिलेंगे पर वे चौंकानेवाले नहीं हैं। आक्रोश एवं अनास्था का अनवरत आग्रह कहीं कहीं केवल विवेकवश इन रचनाओं में है जो संयम की सीमा भी स्वतः ही अपेक्षा नहीं करती। जो कुछ भी हो, संक्रांत इस संक्रांतिकाल की एक ऐसी रचना है जो वाजपेयी के माध्यम से नई कविता के कुछ सुंदर तत्वों को प्रस्फुटित करने में सहायक सिद्ध होगी।

—सुधाकर पांडेय

---

१ स्वगता—ले०कुमारी मधु; प्रकाशक अल्फा बीटा पब्लिकेशन, कलकत्ता; पृष्ठसंख्या ८४, मूल्य ४–५०।

२ संक्रांत—कवितासंग्रह (सजिल्द), प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, डबल डिमाई, पृ० १०४, मूल्य ३ ।

नाटक बहुरूपी[1] —

नाटक बहुरूपी डा० लक्ष्मीनारायण लाल के ग्यारह एकांकी नाटकों का संग्रह है। इनमें से दो—'करुण वृक्ष का देवता' और 'गदर'—ऐतिहासिक एकांकी हैं तथा 'रावण' पौराणिक; शेष आठ सामाजिक एकांकी हैं।

'हँसी की बात' को छोड़कर सभी सामाजिक एकांकी समस्यामूलक हैं। इनकी समस्या भी समस्या नाटकों की भाँति गहन विद्रोह से आक्रांत है किंतु वह विद्रोह विवाह, विवाहविच्छेद (डाइवोर्स) प्रेमसंबंध एवं भावुकतापूर्ण रोमांस तक ही सीमित है। इनकी विषयवस्तु मुख्यतः एक ही समस्या पर केंद्रित है, और वह है, मानव मन तथा सेक्स। नारीमुक्ति की भावना से भावित प्रतिभाशील एवं विद्वान् लेखक ने कहीं कहीं यौन संबंधों को आवश्यकता से अधिक उभारा है। यह ठीक है कि यौन संबंधी समस्या भी समाज की एक समस्या है और वह गंभीर समस्या भी कही जा सकती है, पर वह समाज की एकमात्र समस्या न कभी रही है और न हो सकती है। पश्चिम में स्वच्छंदतावादी नाटकों के बाद विद्रोह का जो स्वर लेकर इब्सन, गाल्सवर्दी, पिनरो, जोन्स, और 'शा' नवीन मंच पर आए उनमें भी नारीमुक्ति की भावना प्रधान थी, किंतु उनके दृष्टिपथ में जो समाज था वह हमारे आज के समाज से सर्वथा भिन्न था। इनकी मान्यताएँ और इनके विश्वास भिन्न थे। इसी से इन पश्चिमी लेखकों के विचारों की प्रतिच्छाया में जिस कथानक का तंतु बुना जायगा उसमें हमारे समाज का यथार्थ चित्र नहीं होगा—और यदि होगा भी तो समाज के कुछ थोड़े से लोगों का। इसी से 'मोहिनी कथा' में गंगादास और कपूर (पिता और पुत्र) में और 'बसंत ऋतु का नाटक' में होनेवाले दामाद और श्वसुर में जो निस्संकोच संभाषण होते हैं, प्रेम और विवाह के संबंध में खुलकर जो बातें की जाती हैं, वे हमारे समाज के शिष्टाचार के अनुकूल नहीं हैं। उनपर पश्चिमी शिष्टाचर का प्रभाव स्पष्ट है।

डा० लाल के अधिकांश पात्र अवकाशभोगी एवं अभिजात्यवर्गीय समाज के हैं, किंतु ये अतिमानव या अपमानव नहीं हैं और न वे यंत्रवत् मानव ही हैं। वे वास्तव में मनुष्य हैं। उनमें मानव दुर्बलताएँ और सबलताएँ हैं। उनकी नारियाँ पुरुषों की दासी नहीं हैं। वरन् लेखक का आग्रह तो उन्हें जीवनसंगिनी के रूप में प्रस्तुत करने का है जिसे विचार और कार्य दोनों क्षेत्रों में पुरुषों के समान स्वतंत्रता हो। किंतु, अतिशय भावुकतापूर्ण प्रेमाधिक्य के कारण वह कहीं कहीं 'खिलौना' भी हो गई है; उदाहरणार्थ 'मीनार की बाहें' में नीरू अपने पापा से कहती है—'जब आप मेरी शादी तय कर कर रहे थे, मैंने आपसे संकेत किया था कि एक लड़की एक पुरुष के जीवन में उतार दी जाए, इसके अतिरिक्त क्या और कोई विकल्प ही नहीं [रुककर] क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक लड़की दो पुरुषों के दो अलग अलग महान् तत्वों के बीच में रहकर अपना जीवन .....।'

दूसरी ओर लेखक का स्वाभाविक झुकाव पुराने आदर्शों की ओर भी दिखाई देता है। 'मोहिनी कथा' में गंगादास कपूर से कहता है—'मनुष्य केवल भूख नहीं है, जैसे तितली केवल पंख नहीं है। तुमने जो चाहा, मोहिनी ने तुम्हें वही दिया और मोहिनी ने जो चाहा, तुमने भी उसे वही दिया। इसमें विवाह कहाँ आता है? धर्म और आदर्श कहाँ है इसमें? (रुककर) तुमने उसे इतना अंधसमर्पण दिया कि कुरूप हो गया।'

इस प्रकार ये सामाजिक एकांकी मानसिक और वैचारिक संघर्षों से भरे हैं, वही है उनका प्राण। इनमें संघर्ष है संस्कारों और नए विचारों का, पुराने आदर्शों और नवीन मान्यताओं का, परंपरागत सीमाओं और उनसे मुक्ति के लिये नवीन आक्रोश का, या यों कहिए,

1. नाटक बहुरूपी, ले० डा० लक्ष्मीनारायण लाल, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० २७८, मू० रु० ३.५०

थिसिस और ऐंटीथिसिस का। लेखक की प्रतिभा ने संघर्ष का ऐसा संतुलन रखा है कि कथानक एकाध स्थल पर शिथिल होने पर भी गतिहीन नहीं होने पाया है। संवाद अत्यंत चुस्त है। उनमें 'शा' जैसी तार्किक कटुता अवश्य है, पर यदि वैसी ही व्यंग्योक्तियाँ भी होतीं तो सोने में सुगंध आ जाती।

कौशल एवं शिल्प की दृष्टि से ये एकांकी उच्च कोटि के हैं। 'बसंत ऋतु का नाटक' की टेकनीक सर्वथा नवीन और प्रयोगात्मक है। 'शा' ने लिखा है—'द्वितीय श्रेणी के नाटककार नाटक का आरंभ कथा के आरंभ से करते हैं, प्रथम श्रेणी के नाटक का आरंभ मध्य से करते हैं और इब्सन जैसी प्रतिभाएँ नाटक का आरंभ कथा के अंत से करती हैं।' (अवर थियेटर इन नाइनटीज, खंड २, पृ० ४८)। 'शा' का यह कथन इस एकांकी पर भी यथार्थ सिद्ध होता है। इस एकांकी का अंत और आरंभ दोनों अद्वितीय हैं। इसी से मंच पर मध्य का गतिहीन और कोरा संवाद भी अधिक रुचिकर नहीं हो पाएगा। घटनाओं की तीव्र गतिशीलता एवं क्रियान्विति का अभाव 'ठंडा छाया' को रंगमंचीय एकांकी से दूर हटाकर रेडियो रूपक के क्षेत्र में ले जाते हैं और यही गति 'मीनार की बाहें' की भी है। इसके रंगमंचीय संकेत भी रंगमंचीय न होकर रेडियो रूपक जैसे हैं [सबके जाने की आवाज; काल-परिवर्तन-सूचक संगीत। संगीत के मिटते ही पृष्ठभूमि में मकान बनाने का आभास मिलता है। कभी कभी पीटने और तोड़ने की आवाज उभरती है।]

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कई एकांकियों में ऋतुसंकेत वर्षा संबंधी हैं; यही नहीं, संवादों की भाषा और पुस्तक के आमुख के अंतिम वाक्य में भी वर्षा पर ही रूपक बाँधा गया है। वर्षा के संबंध में ऐसा प्रबल आग्रह वह सूत्र है जो लेखक के अचेतन मन से संबंध रखता है, जिसके विश्लेषण का यह अवसर नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि वर्षा के प्रदर्शन में अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गतिशीलता और नाटकीयता अधिक दिखाई देती है। किंतु दर्शकों को सूखा रखकर ओपेन थियेटर के मंच पर वर्षा का दृश्य कहाँ तक स्वाभाविक या साध्य होगा, यह विचारणीय है। स्मरण रहे, आज के एकांकी के लिये मंच ओपेन थियेटर का ही है।

शिल्प का नया चोला पहनकर एक गाथा के आधार पर, घृणा को प्रेम से जीतने की पिटी पिटाई 'थीम' पर 'बरगद वृक्ष का देवता' खड़ा किया गया है। यह ऐतिहासिक ओपेन एयर प्ले (मुक्त आकाशीय नाटक) है। मुक्त आकाशीय नाटक हिंदी में बहुत कम लिखे गए हैं; उनमें इसका महत्वपूर्ण स्थान होगा, ऐसा विश्वास है।

'गुड़िया', 'गदर' और 'हम सब जागते रहे' ये इस संग्रह के ऐसे एकांकी हैं जिन्हें सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट कहा जा सकता है। इनके कार्यव्यापार और आकस्मिकता पर पूरा ध्यान रखा गया है। दृश्यविधान भी विवरणपूर्ण और अधिक स्पष्ट है। चरित्रों के स्वाभाविक कार्य-व्यापार का क्रमिक विकास उद्देश्य के प्रतिफलन में अधिक सफल है। संवाद की शब्दावली इतनी प्रांजल और बुद्धिग्राह्य है कि दर्शकों को तन्मय रखने तथा कथानक की अन्यमनस्कता बनाए रखने में सर्वथा सक्षम है। इन एकांकी नाटकों की यूनिटी आरंभ से अंत तक बनी रहती है। मेरा पूरा विश्वास है कि इनकी गणना हिंदी के श्रेष्ठ एकांकियों में की जा सकती है।

पुस्तक की साज सज्जा एवं छपाई उत्तम है जो भारतीय ज्ञानपीठ की विशिष्ट परंपरा के अनुकूल है।

—मनु शर्मा

रागकोष—लेखक—बसंत, संपादक—लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृष्ठसंख्या ८८ (रायल साइज) प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस, मूल्य १)

प्रस्तुत लघुकोष में हिंदुस्तानी संगीत पद्धति के शीर्षक के अंतर्गत पाँच सौ रागों का वर्णन थाट, जाति, वादी, संवादी, कोमल, तीव्र स्वर, आरोह अवरोह, गायनसमय—इन

उपशीर्षकों में किया गया है। इन रागों में से अनेक राग ऐसे हैं जो कर्णाटकीय मेल से उत्पन्न हैं, एवं तदनुसार थाट के उपशीर्षक में उन उन जनक मेलों का भी उल्लेख किया गया है। इन कर्णाटकीय रागों को हिंदुस्तानी पद्धति के रागों में समाविष्ट करने का क्या आधार माना गया है, इसका कोई संकेत नहीं दिया गया है। प्रचार का आधार भी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि अनेक राग ऐसे मिलते हैं जो आज प्रचार में नहीं पाए जाते।

हिंदुस्तानी पद्धति के बाद कर्णाटक पद्धति के आधुनिक मेल के अन्य रागों में से ६३८ का केवल आरोह-अवरोह-सहित वर्णन किया गया है। इसके बाद कुल १४३८ हिंदुस्तानी तथा कर्णाटकीय रागों की अकारादि क्रम से सूची, कर्णाटक पद्धति के ७२ मेलों की तालिका (उन उन मेलों की स्वरश्रुति के प्रयोग के साथ) तथा अकारादि क्रम से ७२ कर्णाटकीय मेलों की सूची एवं उत्तर भारतीय थाट तथा तत्संबंधी रागों की सूची भी दी गई है। संदर्भ के लिये संग्रह उपयोगी है।

रवींद्र संगीत—ले० राधेश्याम पुरोहित, प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस, पृष्ठसंख्या १२०, (रायल साइज) मूल्य २)।

प्रस्तुत गीतसंग्रह में रवींद्रनाथ ठाकुर के २५ गीतों के हिंदी रूपांतर मदाकविकृत स्वर-ताल-बंध-सहित प्रस्तुत किए गए हैं। महाकवि की स्वरयोजनाओं को रागनाम भी दिए गए हैं। किंतु जो स्वरयोजनाएँ किसी राग के नियत परिवेश में बँधी रहने के लिये बनाई ही नहीं गई हैं, उन्हें उक्त परिवेश में बाँधने का प्रयास कुछ विचित्र सा जान पड़ता है, क्योंकि उनसे तत्तद् राग संबंधी मान्यता को यत्र तत्र ठेस अवश्य लगती है। अन्यथा बँगला गीतों को हिंदी में सुलभ करने का प्रयास अवश्य सराहनीय है।

—डा० प्रेमलता शर्मा

बिसराम के बिरहे—

भोजपुरी संसद काशी से प्रकाशित, ५६ पृष्ठ के प्रस्तुत संकलन में बिरहिया कवि बिसराम (१८०७-१८५० के २२ बिरहे संकलित हैं, संकलनकर्ता श्री सुखराम सिंह हैं। इन्होंने ४ बिरहे स्वयं रचयिता से शेष लोकगायकों से प्राप्त किए हैं। आरंभ में इसके संपादक ईश्वरचंद्र सिनहा, तथा संकलनकर्ता के प्राक्कथन बिसराम तथा उनके बिरहों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

इन थोड़े से बिरहों में एक अल्पसाक्षर एवं ग्रामीण भावुक कवि की सरल करुण वाणी का जो मर्म व्यंजित हुआ है, वह एक ओर लोकभाषा की समर्थ व्यंजनाशक्ति और भावसंपत्ति की गूढ़ता को प्रमाणित करता है तो दूसरी ओर नागर प्रतिभाओं को चुनौती भी देता है। इसमें प्रकृति को संबोधित बिरहे अत्यंत मार्मिक हैं। इस प्रकाशन से निश्चय ही विरह-काव्य के एक अद्भुत रत्न का उद्धार हुआ है। किंतु संकलनकर्ता के 'सजाने सँवारने' से कहीं कहीं आजमगढ़ी भोजपुरी पर बनारसी भोजपुरी की छौंक लगा प्रतीत होती है, दूसरे 'मग', 'गगनवाँ', 'ललाम', 'नभवा', 'सारे जग में', 'त्रिगुन', 'अभिराम' जैसे पदों की भरती भी हो गई है। इसके अतिरिक्त गद्य नुवाद शिथिल है तथा संपादन में भाषा और उच्चारण संबंधी वैज्ञानिकता का अभाव है। आशा है, अगले संस्करण में ये कमियाँ दूर कर दी जायँगी।

—श्याम तिवारी

एक शिकारी हजार शेर—

ले० कर्नल केसरी सिंह, प्र० भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद पृ० सं० २३० मूल्य रु० ५.००

लेखक स्वयं शिकारी हैं अतः इस पुस्तक में संग्रहीत उसकी शिकार कथाओं में तथ्यगत सच्चाई है। विस्मय, आतंक, और उत्सुकता बढ़ाने के लिये कल्पना का प्रयोग कहीं नहीं किया गया है। भाषा स्पष्ट, सरल और प्रवाहपूर्ण है। इस पुस्तक से हिंदी के शिकार साहित्य की अभिवृद्धि हुई है।

स्कूल से पूर्व बच्चों का लालन पालन—

मूल ले० एल० कास्नोगोर्स्काया, अनु० पूरन आचार्य, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० सं० १६२, रु० ३.००

छोटे बच्चों की पारिवारिक शिक्षा दीक्षा की महत्त्वपूर्ण समस्या पर अच्छी पुस्तकें हिंदी में विरल हैं अतः इसी शिक्षिका की इस व्यावहारिक पुस्तक का हिंदी अनुवाद स्वागतार्ह है। अनुवादक की भाषा अच्छी है।

सामुदायिक विकास : एक सिंहावलोकन

ले० एस० के० दे, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० सं० ८८, मू० रु० ३·००

केंद्रीय सामुदायिक एवं पंचायत मंत्री द्वारा लिखित यह पुस्तक दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में १९५२ से ६२ तक प्रत्येक वर्ष २ अक्टूबर को सामुदायिक कार्यों पर लेखक द्वारा डायरीनुमा लिखित टिप्पणी है। दूसरे खंड में सामुदायिक विकास के इतिहास और उद्देश्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। पुस्तक अनूदित है किंतु मूल भाषा और अनुवादक का कहीं उल्लेख नहीं है। अनुवादक की भाषा स्पष्ट और सरल है।

कविता : १९६४

सं० ओम् प्रभाकर, तथा भागीरथ भार्गव, प्र० कविता प्रकाशन, अलवर, पृ० सं० ११२ रु० ३·००।

इस वार्षिकी का उपशीर्षक नवगीत का प्रथम समवेत संकलन' है। इसे तीन खंडों में विभाजित किया गया है। 'प्रवर्तन' में संपादकों ने उन कवियों की रचनाएँ उद्धृत की है जिन्हें वे नवगीत की विभिन्न शैलियों के प्रवर्तक मानते है। 'प्रचलन' में केवल उन नवीन कवियों की रचनाएँ संकलित है जिन्होंने अपनी अभिव्यक्ति में संपादकों की परिभाषा के अनुसार किसी न किसी प्रकार की नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। 'प्रस्थापन' में 'नवगीत' की सैद्धांतिक व्याख्या करनेवाले कुछ निबंधों का संग्रह है।

नन्हीं नर्तकी

ले० मृणालिनी साराभाई, चित्रकर्त्री, बी० प्रभा, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० सं० १६ मू० रु० ·७५

यह पुस्तक बाल साहित्य के प्रति निरंतर बढ़ती हुई जागरूकता का एक और प्रमाण है। पुस्तक का रूपविन्यास आकर्षक है। सभी पृष्ठ चित्रों से अलंकृत है। किंतु इनमें प्रयुक्त रंग बच्चों के लिये अनुकूल नहीं। मिश्रित की अपेक्षा मूल रंग बच्चों के लिये अधिक उपयुक्त होते है। भाषा और लेखन शैली में बच्चों के मानसिक धरातल का और भी सतर्क ध्यान रखकर अवस्थानिर्देश कर दिया गया होता तो पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ जाती। मूल्य बच्चों के लिये अधिक है।

निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य

ले० रामनारायण उपाध्याय, प्र० उषा प्रकाशनगृह, ललितपुर, झाँसी, पृ० सं० ११२, मू० रू० ३·००

इस पुस्तक में लेखक ने मध्य प्रदेश के एक अंचल 'निमाड़' के जनजीवन, भाषा, साहित्य, और लोककला का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इससे भारतीय संस्कृति की विविधता में अंतःसलिला की भाँति निहित मूल एकता का एक और दर्शन प्राप्त होता है तथा लोकसंस्कृति की ताजगी के प्रति मन आकृष्ट होता है।

राजस्थानी लोककथाएँ, भाग १-२

सं० गोविंद अग्रवाल, प्र० भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पृ० सं० २६६+२६४, मूल्य रु० ५.०० प्रत्येक भाग।

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान में प्रचलित लोककथाओं को संक्षिप्त कर संकलनकर्ता ने अपनी शैली और परिनिष्ठित हिंदी में लिखने का कार्य किया है। इन कथाओं से उनकी विषयवस्तु का परिचय तो मिल जाता है किंतु मूल कथा की कथनभंगिमा तथा राजस्थानी की भाषागत विशेषताओं का साक्षात्कार नहीं होने पाता। आशा है लोकगीतों की भांति लोककथाओं को भी उनके मूल रूप में लिपिबद्ध करने का कार्य किया जायगा।

रेल की पटरियाँ

ले० रामेश्वरनाथ तिवारी, प्र० अर्चना प्रकाशन, आरा, पृ० सं० १०४०, मूल्य रु० ३.०० ।

लघुकथाओं का संग्रह। जीवन और समाज के अंतर्विरोध संबंधी भावचित्र अच्छे बन पड़े हैं। आरंभ में लघुकथा के स्वरूपविश्लेषण पर श्री जगदीश पांडेय की भूमिका भी है।

'जनसाहित्य' का नेहरू-स्मृति-अंक

संपादक—डा० परमानंद, हिंदी विभाग, पंजाब, पटियाला, पृ० सं० ४४०, मूल्य रु० १'०० मात्र

प्रस्तुत विशेषांक में विशेष रूप से नेहरू जी संबंधी विशिष्ट व्यक्तियों के संस्मरण संकलित हैं। इनके अतिरिक्त नेहरू जी पर कुछ कविताएँ, निबंध श्रद्धांजलियाँ तथा स्वयं नेहरू जी के कुछ निबंध, भी हैं। पत्रिका अनेक चित्रों से सुसज्जित है। मूल्य अत्यल्प रखकर इसे सर्वजनसुलभ कर दिया गया है।

अभिसार

ले० कुमुद भागिरन, प्र० मीरा सदन, मिर्जामंडी, चौक, लखनऊ, पृ० सं० ११० मू० रु० २'२५।

उषा अनिरुद्ध के पौराणिक रोमांस पर लिखा गया खंडकाव्य। पारंपरित शैली को आत्मसात् करने का प्रयास।

नेहरू : अंतिम झलक

ले० डा० प्रेमनारायण टंडन, प० हिंदी साहित्य भंडार, गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ, पृ० सं० ११८, मूल्य रू० १'५०

लेखक की कल्पना है कि मृत्यु के पूर्व अचेतावस्था में नेहरू जी का मन सक्रिय था और उसमें वे विचार उमड़ते घुमड़ते रहे जिन्हें वे अंतिम संदेश के रूप में व्यक्त करना चाहते थे। उसी संदेश को लेखक ने नाटक विधा द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो बिलकुल ही नाटक नहीं बन पाया है।

'नटरंग' त्रैमासिक

संपादक और प्रकाशक, श्री नेमिचंद्र जैन ३-एफ, जंगपुरा एक्सटेंशन, नई दिल्ली-१४, मूल्य वार्षिक रु० ६'००, एक प्रति रु० १'५०

हिंदी रंगमंच का आंदोलन अब उस सोपान पर पहुंच गया है जहाँ उसकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक समस्याओं पर गंभीर विचार विमर्श आवश्यक है। प्रस्तुत पत्रिका इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगी; इसका अनुमान प्रवेशांक को देखकर आसानी से किया जा सकता है। इसके संपादन में सर्जनात्मकता तथा सुनियोजन है। रंगमंचीय समस्या पर परिसंवाद, नाटक का रंगमंचीय विश्लेषण, रंगमंचीय तकनीक संबंधी सामग्री, तथा विभिन्न रंगमंचीय केंद्रों के नाट्यवृत्त आदि स्तंभों द्वारा रंगमंचीय चित्र को व्यापक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। यह पत्रिका रंग कर्मियों में साहित्यिक एवं कलात्मक तथा नाटककारों में रंगमंचीय दृष्टि का और अधिक विकास कर सकेगी और संपादक इसे किसी वर्गविशेष की मुखपत्रिका न बनने देंगे, ऐसी आशा की जानी चाहिए।

—कुँवरजी अग्रवाल

*

समीक्षार्थ प्राप्त

हिंदी के आंचलिक उपन्यास, प्रकाशक वाजपेयी, नंद किशोर ऐंड सांस, वाराणसी, मूल्य रु०५.००

नया हिंदी काव्य और विवेचन, डा० शंभुनाथ चतुर्वेदी, नंदकिशोर ऐंडसांस, वाराणसी, मू० रु० १०.००

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, डा० रामसिंह तोमर, हिंदी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय मू० रु० ८.००

कुतुबन कृत मृगावती, डा० शिवगोपाल मिश्र, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, मू० रु० ६.००

भागवत दर्शन, डा० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, मू० रु० १२.००
एक रात एक अकेला, माधवप्रसाद पांडेय, साहित्यनिकेत, कुशीनगर (देवरिया), मू० रु० १.२५
मानस मयूख (त्रैमासिक), सं० रामादास, तुलसी मानस मंदिर, दुर्गाकुंड, वाराणसी मू० रु० २.००
जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, डा० प्रेमसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मू० रु० ६.००
वर्ण, जाति, और धर्म, फूलचंद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मू० रु० ३.००
कविता : १९६४, सं० ओम प्रभाकर, कविता प्रकाशन, अलवर, मू० रु० ३.००
पाही आदमी, शालिग्राम, पाही प्रकाशन, चित्रगुप्तनगर, सहरसा (बिहार) मू० रु० २.५०
स्वगता, कुमारी मधु, अलका बीटा पब्लिकेशंस, कलकत्ता, मू० रु० ४.५०
स्कूल से पूर्व बच्चों का लालन पालन, अनु० पूरन आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली मू० रु०३.००
लड़खड़ाते जीवन, शिवपूजन सिंह, जयदेव मदर्स, आत्माराम रोड, बड़ौदा–१ मू० रु० ०.५०
पंख और पत्ते, तेजनारायण लाल, वा० बी० सुब्बाराव, उमा कास्मेटिक्स, संनिधि स्ट्रीट, तिरूवानमियूर, मद्रास–४१, मू० रु० ०.७५
निराला : जीवन और साहित्य, तेजनारायणसिंह तथा अन्य, राजप्रकाशन, पटना–६ मू० रु० ८.००
तालमेल, विष्णुचंद्र शर्मा, संकल्प प्रकाशन, ४०/७३ कालभैरव, वाराणसी, मू० रु० ३.००
प्रागन झुन भवँरगीत, हरिमोहन मालवीय हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग, मू० रु० १.५०
खैरा पीपल कबहुँ न डोले, रामवृक्षराय 'विधुर' भोजपुरी संसद, वाराणसी मू० रु० १.००
मानवता चौराहे पर, पूर्णचंद्र शर्मा, बी० १।४ अस्सी, काशी, मू० रु० १.००
रेल की पटरियाँ, रामेश्वरनाथ तिवारी, अर्चना प्रकाशन, आरा, मू० रु० ३.००
निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य, रामनारायण उपाध्याय, उषा प्रकाशनगृह ललितपुर झाँसी मू० रु० ३.००
अभिसार, कुमुद फिगरन, मीरा प्रकाशन, मिर्जा मंडी, चौक लखनऊ, मू० रु० २.२५
नन्हीं नर्तकी, मृणालिनी साराभाई, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मू० रु० ०.७५
साम्प्रदायिक विकास : एक सिंहावलोकन, एस० के० दे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मू० ३.००
शीलनिरूपण, जगदीश पांडेय, अर्चना प्रकाशन, आरा, मू० रु० १०.००
उदारा : सिद्धांत और शिल्पन, जगदीश पांडेय, अर्चना प्रकाशन, आरा, मू० रु० १६.००
आधुनिक हिंदी काव्य, कुमारविमल, अर्चना प्रकाशन, आरा, मू० रु० ५.००
हिंदी भाषा आंदोलन, सेठ गोविंददास, हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग, मू० रु० ६.००
नाटक बहुरूपी, लक्ष्मीनारायण लाल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मू० रु० ३.५०
संक्रांत, कैलाश वाजपेयी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मू० रु० ३.००
रेखा, भगवतीचरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली मू० रु० ६.००
वे दिन, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली मू० रु० ५.५०
जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली मू० रु० ४.००
रेखा और रंग, विनयमोहन शर्मा, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, अस्पताल रोड, आगरा, मू० रु० २.००
रजकाके (लेख संग्रह), तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री, शिवलाल एंड कंपनी, अस्पताल रोड, आगरा मू० रु० १२.५०
सती पद्मावती, रावत शिम्भूनसिंह, भारतीय भवन, मैंसरोडगढ़, वाया नींबा हेड़ा (राजस्थान) मू० रु० ५.००
पारिवर्ष राष्ट्रार्थं शारीरं, पं० दामोदर शर्मा गौड़, वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन, कलकत्ता, मू० रु० ४.५०

दसवै आलिवं, भाग २, आचार्य तुलसी, जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा ३, पोर्चुगीज स्ट्रीट, कलकत्ता-१, मू० रु० २५.००

साहित्य और मनोविज्ञान, देवेंद्र इस्सर, बुक हाउस, १६ नाईवाला, करोल बाग, नई दिल्ली-५ मू० रु० ३.५०

राजस्थानी लोककथाएँ, भाग-१,२, गोविंद अग्रवाल, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद मू० रु० ५.००

औचित्यविमर्श, राममूर्ति त्रिपाठी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद मू० रु० ६.००

एक शिकारी हजार शेर, कर्नल केसरी सिंह, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, मू० रु० ५.५०

कोयला और कवित्व, 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना-४, मू० रु० १.५०

मूर्त्तितिलक, 'दिनकर', चक्रवाल प्रकाशन, पटना—४, मू० रु० २.००

आत्मा की आँखें, 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना-४ मू० रु० ४.००

नेहरू : अंतिम झलक, प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार, गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ मू० रु० १.५०

तेग अली और काशिका, रुद्र काशिकेय, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, मू० रु० ३.००

अक्का महादेवी के वचन, प्रा० जी० एम० उमापति, कर्नाटक प्रांतीय हिंदी प्रचार सभा, धारवाड़, मू० रु० १.५०

मूल बीजक, महंत रामखेलावन गोस्वामी, सखबामठ, पो० सखवा नंदपुर, जि० चंपारण मू० रु० २.०५

बच्चन : व्यक्ति और कवि, बाँकेबिहारी भटनागर, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली—६, मू० रु० ३.००

लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटक, भारतभूषण चड्ढा, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६ मू० रु० ५.००

जैनेंद्र : व्यक्ति, कथाकार और चिंतक, बाँकेबिहारी भटनागर, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, मू० रु० ६.००

हिंदी की छायावादी कविता का कलाविधान, डा० बलबीरसिंह 'रत्न', नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ६, मू० रु० १२.५०

रससिद्धांत, डा० नगेंद्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, मू० रु० २०.००

हिंदी भक्तिरसामृत सिंधु, विजयेंद्र स्नातक, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मू० रु० २५.००

प्रासाद मंडन, भगवानदास जैन, बी० एस० शर्मा, मोती नोनिया का रास्ता, यति श्यामल जी का उपाश्रय, जयपुर मू० रु० १६.००

चिंतन के धागे, डा० बचनदेव कुमार, नोवेल्टी ऐंड कंपनी, अशोक राजपथ, पटना-४, मू० रु० ४.००

जनसाहित्य (नेहरू-स्मृति-अंक). डा० परमानंद, हिंदी विभाग, पंजाब, पटियाला, मू० रु० १.००

गुसाईं गुरु बानी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, मू० रु० २०.००

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य, डा० लक्ष्मीनारायण दूबे, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, मू० रु० १५.००

मराठी का आधुनिक साहित्य, प्रो० भी० गो० देशपांडे, नवयुग बुक स्टाल, अमरावती, मू० रु० १.५०

बिसराम के बिरहे, मुक्तरामसिंह, भोजपुरी संसद, वाराणसी, मू० रु० १.५०

किसलय, महेन्द्रनाथ सिंह, देश सेवा मंडल, ६२ विवेकानंद मार्ग, इलाहाबाद, ३—मू० रु० २.५०

सभा की प्रगति

(कार्तिक से चैत्र, सं० २०२१ तक)

सभा के विभिन्न विभाग इस अवधि में यथावत् कार्य करते रहे। इनका संक्षिप्त कार्यविवरण निम्नांकित है —

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जन्मशती (उत्तरांश)

इस आयोजन का पूर्वांश इस वर्ष के आरंभ में ही अनुष्ठित हुआ था और उत्तरांश निश्चयानुसार २ और ३ पौष को समारब्ध हुआ। २ पौष को रात्रि में कविसंमेलन का आयोजन हुआ जिसमें स्थानीय और बाहर के अनेक शीर्षस्थ कवियों ने भाग लिया।

३ पौष को प्रातः ९ बजे से साहित्यगोष्ठी आयोजित हुई। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्री डा० हरवंशलाल जी शर्मा ने 'साहित्य : पुरातन और नवीन' विषय की प्रस्थापना की जिसके पक्ष विपक्ष में बड़े ही विचारगर्भित भाषण हुए। इस विचारगोष्ठी में भाग लेनेवालों में क्रमानुसार श्री पं० विद्यानिवास मिश्र, श्री डा० देवराज, श्री डा० श्रीकृष्णलाल, श्री पं० अमृतलाल नागर, श्री पं० लक्ष्मीनारायण जी मिश्र, श्री डा० किशोरीलाल गुप्त और श्री रामचंद्र वर्मा के नाम उल्लेख्य हैं।

मुख्य उत्सव ३ पौष को सायंकाल आयोजित हुआ। आरंभ में सभा के सभापति माननीय श्री पं० कमलापति जी त्रिपाठी ने समागत सज्जनों का स्वागत करने के अनंतर बिहार विधानसभा के अध्यक्ष माननीय श्री लक्ष्मीनारायण जी 'सुधांशु' से समारोह का उद्घाटन करने का आग्रह किया। श्री 'सुधांशु' जी के उद्घाटन भाषण के अनंतर समारोह के संयोजक श्री पं० सुधाकर पांडेय जी ने इस समारोह के उपलक्ष्य में प्राप्त शताधिक संदेशों में से कतिपय चुने हुए संदेशों के मुख्यांशों का पाठ किया।

तदनंतर सभा के निश्चयानुसार विभिन्न विषयों की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं पर सभा द्वारा स्वीकृत पुरस्कार पदकों का समर्पण हुआ। पुरस्कृत रचनाओं और लेखकों की नामावली निम्नांकित है —

लेखक	ग्रंथ	अवधि	पुरस्कार और पदक
१–भरतसिंह उपाध्याय	बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन	२००६–१३	बिड़ला पुरस्कार–रेडिचपदक
२–डा० रामपूजन तिवारी	सूफीमत : साधना और साहित्य	२०१३–१७	,, ,,
*३–लक्ष्मीनारायणमिश्र	वितस्ता की लहरें, वत्सराज, चक्रव्यूह	२००७–१०	बटुकप्रसाद पु०+सुधाकर पदक
*४–भगवतीचरण वर्मा	भूले बिसरे चित्र	२०११–१४	,, ,,
*५–अमृतलाल नागर	बूँद और समुद्र	२०१५–१८	,, ,,
*६–हरवंशलाल शर्मा	सूर और उनका साहित्य	२००७–१०	रत्नाकर पु० (१) + राधाकृष्णदास पदक
७–डा० नगेंद्र	देव और उनकी कविता	२०११–१४	,, ,,
८–डा० माताप्रसाद गुप्त	छिताई वार्ता	२०१५–१८	,, ,,
९–सुमित्रानंदन पंत	रजत शिखर	२००८–११	रत्नाकर पु० (२) + बलदेवप्रसाद पदक
१०–महतावचंद खारेड़	कूर्मवंश प्रताप या लावारासा	२०१२–१५	,, ,,
११–दिनकर	उर्वशी	२०१२–१६	,, ,,
१२–डा० अतहर अब्बास रिजवी	आदि तुर्ककालीन भारत, खलजीकालीन भारत, तुगलुककालीन भारत	२०११–१३	जोधसिंह पुरस्कार + गुलेरी पदक
१३–डा० वासुदेव उपाध्याय	प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन	२०१४–१७	,, ,,
*१४–प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा	ईख और चीनी	२००६–१२	डा० छन्नूलाल पुरस्कार + ग्रीव्जपदक
१५–कुँ० सुरेशसिंह	जीवजगत्	२०१३–१६	,, ,,
१६–डा० सत्यप्रकाश	प्राचीन भारत में रसायन	२०१७–२०	,, ,,

इनमें * चिह्नित महानुभाव ही समारोह में उपस्थित थे जिन्हें यथोचित सत्कारपूर्वक पुरस्कार की राशि और पदक अर्पित किए गए। शेष महानुभावों के पुरस्कार और पदक समारोह के अनंतर डाक द्वारा भेज दिए गए।

रात्रि में 'राज्यश्री' नाटक का अभिनय सभा के प्रधानमंत्री श्री शिवप्रसाद जी मिश्र 'रुद्र' के निर्देशन में हुआ जो पर्याप्त सफल रहा और जिसकी भूरि भूरि सराहना दर्शकों ने की।

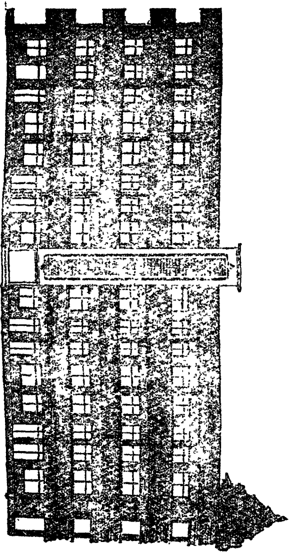
नवीन भवन का शिलान्यास

सभा का कार्यविस्तार, विशेषतः स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से लेकर अब तक, अत्यधिक हो गया है। प्रत्येक विभाग की प्रगति स्थानसंकोच के कारण अवरुद्ध होने लगी है। अतः निश्चय किया गया है कि सभा की वर्तमान भूमि से सटी हुई पूरब ओर की समस्त भूमि अवाप्त कर ली जाय और उसपर लगभग चार लाख के व्यय से नवीन भवन का निर्माण कराया जाय। प्रस्तावित भवन के मानचित्र की लघ्वाकार प्रतिकृति नीचे दी जा रही है :

इस भवन का शिलान्यास १० पौष को सांगोपांग शास्त्रीय पद्धति से हमारे प्रधान मंत्री माननीय श्री लालबहादुर जी शास्त्री ने किया। वास्तुपूजन के अनंतर उत्तर ओरवाले मैदान में भव्य रूप से सजे हुए पंडाल में उन्हें सभा की ओर से प्रधान मंत्री श्री पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' द्वारा मानपत्र अर्पित किया गया। मानपत्र के उत्तर में माननीय शास्त्री जी ने जो सारगर्भित भाषण दिया उसका मुख्यांश निम्नांकित हैं :

'वह समय अब दूर नहीं है जब हिंदी देश में अपना वैध एवं उचित स्थान ग्रहण करेगी। संविधान ने हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया है और जनवरी, १९६५ के बाद इसका प्रयोग देश में विभिन्न राज्यों के साथ, मुख्यतः सभी हिंदीभाषी राज्यों के साथ, सभी प्रकार के पत्रव्यवहार के लिये किया जायगा। हिंदी को किसी पर लादने का कोई प्रश्न नहीं है। अहिंदी भाषी क्षेत्रों में, मुख्यतः दक्षिण में, जनता उत्साह से और तीव्र गति से हिंदी सीख रही है। इस सभा की तो स्थापना ही इसीलिये हुई थी और यहाँ के लोगों ने तो निरंतर इसके लिये प्रयत्न किया है। मैं बचपन में जब हरिश्चंद्र स्कूल का विद्यार्थी था तब प्रायः यहाँ के पुस्तकालय में पढ़ने आया करता था। विभिन्न राज्यों ने शिक्षण संस्थाओं में हिंदी अनिवार्य बना दिया है और हिंदी की प्रगति एवं विकास के लिये सुविधाएँ प्रदान की हैं। धीरे धीरे हिंदी देश के सर्वसाधारण की भाषा हो जायगी और एक संपर्क भाषा बनेगी। हम लोग इसके लिये अधिक परेशान न हों। हिंदी जनता की भाषा है। देश को यह स्वीकार करना है कि

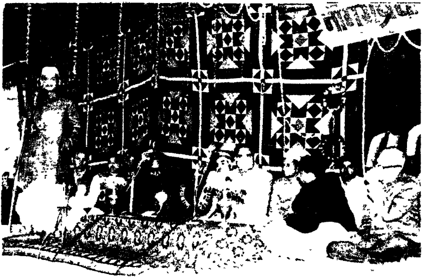
यह राष्ट्रभाषा है। कोई व्यक्ति हिंदी की प्रगति को रोक नहीं सकता, इसमें जरा भी संदेह नहीं।'



(सभा का प्रस्तावित भवन)

आर्यभाषा पुस्तकालय

उक्त अवधि में वाचनालय १६१ दिन और पुस्तकालय १३५ दिन खुला रहा। प्रतिदिन ४०० से अधिक पाठकों ने वाचनालय तथा पुस्तकालय से लाभ



प्रधान मंत्री माननीय श्री लालबहादुर जी शास्त्री मानपत्रार्पण के अनंतर भाषण देते हुए। सभा के सभापति माननीय श्री पं० कमलापति जी त्रिपाठी और सभा के अन्यान्य कार्याधिकारी मंच पर बैठे हुए हैं।



प्रधान मंत्री माननीय श्री लालबहादुर जी शास्त्री प्रस्तावित भवन का शिलान्यास करते हुए।



भारत गणराज्य के उपशिक्षामंत्री माननीय श्री भक्तदर्शन जी नवप्रकाशित हिंदी विश्वकोश के चतुर्थखंड की प्रथम प्रति की भेंट प्रकाशनमंत्री श्रीसुधाकर पांडेय द्वारा ग्रहण करते हुए।



माननीया महारानी सौ० श्रीमती गायत्री देवी जी सभा के प्रकाशनमंत्री और प्रधानमंत्री के साथ सभा के प्रकाशनों का अवलोकन करती हुई।

उठाया। उक्त अवधि में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के जिन शोधछात्रों एवं छात्राओं ने अनुशीलन और अध्ययन के लिये पुस्तकालय का उपयोग किया उनकी संख्या १०७ थी। इन्होंने पुस्तकालय के मुद्रित, हस्तलिखित ग्रंथों एवं पत्रपत्रिकाओं का अवगाहन किया।

इस अवधि में ३० नए सदस्य हुए और १२ सदस्यों ने अपना नाम कटाया। इस प्रकार आजीवन और साधारण सदस्यों की संख्या २३२ रही।

उक्त अवधि में पुस्तकालय के लिये ५५० रु० ३२ पै० मूल्य के ५६ ग्रंथ खरीदे गए तथा २०३८ रु० ८१ पै० मूल्य के ७५८ ग्रंथ भेंट में प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त 'सन्मार्ग साप्ताहिक' और 'जनसाहित्य' मासिक की जिल्दें प्राप्त हुईं।

सभा के अन्वेषण विभाग से हिंदी, संस्कृत और गुरुमुखी के ३४७ हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त हुए।

उक्त अवधि में पुराने ८२ ग्रंथों की मरम्मत कराके उनकी जिल्दें बँधवाई गईं।

पुस्तकालय उन सभी दयालु साहित्यप्रेमियों का विशेष आभारी है जिन्होंने पुस्तकालय की श्रीवृद्धि में योग दिया है।

हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज

इस वर्ष कार्तिक से चैत्र पर्यंत बाह्याभ्यंतर क्षेत्रों में खोजकार्य किया गया। मध्यप्रदेश से इस वर्ष खोजकार्य का अनुदान न मिलने के कारण कार्यव्यवधायक परिस्थिति बनी रही, अतएव एक वर्ष में समाप्त हो जानेवाला छतरपुर का शेष कार्य पूरा न हो सका। सभा की ओर से संपूर्ण मध्यप्रदेश में एक साथ खोजकार्य करने के लिये भावी बृहद्योजना की रूपरेखा बनाई गई है जो विचारार्थ मध्यप्रदेश की सरकार के पास भेज दी गई है। इस योजना के अनुसार तीन अन्वेषक मध्यप्रदेश में एक साथ कार्यारंभ कर देंगे। परिणामतः इस प्रदेश में खोज का समस्त कार्य आठ वर्षों में समाप्त हो जाने की आशा है। इस अवधि में १२००००) का व्यय संभावित है।

अबतक मध्यप्रदेश से जितने खोजविवरण प्राप्त हुए हैं वे संपादित, असंपादित रूप में संचित हैं। उनके प्रकाशन संबंधी व्यय का ब्यौरा एवं आनुमानिक कार्यविधि मध्य प्रदेश शासन के पास भेज दी गई है। आशा है, वहाँ की सरकार यथोचित अनुदान की व्यवस्था करके खोज के शेष कार्यों की पूर्ति में सहायक होगी।

इस अवधि में सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में संचित हस्तलेखों के विवरण लिए गए। विवृत हस्तलेख नागरी, फारसी, गुरुमुखी आदि विविध लिपियों में लिखित एवं १७वीं से लेकर २०वीं शताब्दी तक में रचित पाए गए हैं। इस अवधि के अंतर्गत ऐसे समस्त १०८ ग्रंथों के विवरण लिए गए। इस वर्ष भी अनेक शोधछात्रों एवं हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने आकर विभागीय शोधसामग्री का लाभ उठाया। पत्राचार द्वारा भी खोज विभाग अनुसंधित्सुओं की सहायता करता रहा।

उत्तर प्रदेश (बिजनौर) में सभा की ओर से खोज कार्य यथावत् होता रहा। परिणामतः १८६ ग्रंथों के विवरण लिए गए और १६० हस्तलेख सभा को प्राप्त हुए। विवरणपत्रों में रचनाकाल १६वीं से २०वीं शताब्दी तक पाया गया।

प्रकाशन

इस अवधि के अंतर्गत जिन नवीन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ, पूर्वप्रकाशित जिन पुस्तकों का पुनर्मुद्रण किया गया और जो पुस्तकें मुद्रण के क्रम में लगी रहीं, उनका विवरण ग्रंथमालाक्रम से निम्नांकित है :—

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला

नवमुद्रित — खालिकबारी

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का सं० विवरण भाग १,२

प्रतिमुद्रित—कीर्तिलता

कबीर ग्रंथावली

सूरसागर, भाग १

यंत्रस्थ— हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग २

" " " भाग १३

भारतेंदु ग्रंथावली, भाग १

कवि तोष और सुधानिधि

मानस अनुशीलन

लालचंद्रिका

नाटक और यथार्थवाद

राजतरंगिणी

ज्ञानदीपक

मनोरंजन पुस्तकमाला —

प्रतिमुद्रित — कबीर वचनावली

शास्त्र-विज्ञान-ग्रंथावली

यंत्रस्थ— लक्षणा और काव्य में उसका प्रसार
हिंदी क्रिया में धातुपद

पाठोपयोगी पुस्तकमाला—

प्रतिमुद्रित—सरसुषमा
त्रिवेणी
संक्षिप्त हिंदी व्याकरण
भाषाविज्ञान सार

कोश ग्रंथमाला

नवमुद्रित— लघु हिंदी शब्दसागर
लघुतर हिंदी शब्दसागर
हिंदी विश्वकोश, खंड ४

यंत्रस्थ— हिंदी विश्वकोश, भाग १
हिंदी विश्वकोश, भाग ५
बृहत हिंदी शब्दसागर, भाग १

राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रंथमाला—

यंत्रस्थ— कागद और लुगदी

आकर ग्रंथमाला—

नवमुद्रित— मतिराम ग्रंथावली
मधुमालती वार्ता

यंत्रस्थ— यशवंतसिंह ग्रंथावली
दादूदयाल ग्रंथावली
नागरीदास ग्रंथावली

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—

यंत्रस्थ— ध्रुवा [अगले मास में प्रकाशित हो जायगी]

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला—

यंत्रस्थ— मुगल दरबार, भाग ५

बालाबक्ष राजपूत चारण पुस्तकमाला—

प्रतिमुद्रित— बीसलदेव रासो

प्रादेशिक ग्रंथमाला—

इस माला में प्रथम पुस्तक प्रभुदेव वचनामृत प्रकाशित हो चुकी है। इस वर्ष इसमें शत ग्रंथों के प्रकाशन की योजना निर्धारित की गई है। प्रांतीय भाषाओं के प्रमुख विद्वानों द्वारा संस्तुत्य ग्रंथों की नामावली सभा के विचाराधीन है।

नवभारत ग्रंथावली, महेंदुलाल गर्ग विज्ञान ग्रंथावली, रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला, रुक्मिणीदेवी ग्रंथमाला तथा देवपुरस्कार ग्रंथावली में इस अवधि में द्रव्याभाव के कारण कोई पुस्तक नहीं प्रकाशित हुई।

हिंदी विश्वकोश

इस अवधि में विश्वकोश के खंड ४ का प्रकाशन पूर्ण हुआ तथा खंड ५ के २६ फार्म मुद्रित हुए। इस वर्ष के पूर्वार्ध की समाप्ति तक खंड ४ के ४१ फार्म मुद्रित हुए थे। इस प्रकार आलोच्य छमाही में खंड ४ के २२ तथा खंड ५ के २६ अर्थात् कुल ४८ फार्मों का मुद्रणकार्य पूरा हुआ।

इस अवधि भर प्रधान संपादक जी छुट्टी पर विदेश में रहे तथा मानवतादि संपादक का पद रिक्त रहा। प्रधान संपादक जी के कर्तव्यों का निर्वाह विज्ञान संपादक श्री फूलदेवसहाय जी वर्मा ने किया।

विश्वकोश-परामर्श-मंडल की एक बैठक इस अवधिमें ३ पौष (१८ दिसंबर (१९६४) को सभाभवन में महामहिम डा० संपूर्णानंद जी की अध्यक्षता में हुई जिसके सामने खंड ४ मुद्रित रूप में प्रस्तुत किया गया। इस बैठक में विश्वकोश का कार्यकाल तीन वर्ष के लिये और बढ़ाए जाने की संस्तुति केंद्रीय शिक्षामंत्रालय से की गई। इसके अतिरिक्त संपादकमंडल के स्थानीय सदस्यों की कई अनौपचारिक बैठकें आवश्यकतानुसार सभाभवन में हुईं।

इस अवधि में एक नई नियुक्ति श्री रमेशचंद्र दुबे की संपादक सहायक (भूगोल) के पद पर की गई।

अवधि के प्रारंभ में विश्वकोश के खाते में १०, २५०-८८ रु० शेष थे। १,०० ०००-०० रु० का एक अनुदान इस अवधि में केंद्रीय शिक्षामंत्रालय से प्राप्त हुआ।

नागरी मुद्रण

नागरी मुद्रण में इस अवधि में सूरसागर भाग १, कीर्तिलता, कबीर ग्रंथावली, कबीर वचनावली तथा सं० हिंदी व्याकरण का पुनर्मुद्रण किया गया।

हिंदी विश्वकोश, खंड ४ का मुद्रण समाप्त किया गया तथा उसके ३६ एकरंगे चित्र तथा चार पाँच रंगोंवाले तीन चित्र ट्रेडिल पर छापकर समाप्त किए गए। हिंदी विश्वकोश, खंड ५ का मुद्रण भी प्रारंभ किया गया।

सं० खोज विवरण खंड १ व २, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६९ अं० १ व २, मुगल दरबार भाग ५, भारतेंदु नाटकावली, मानस अनुशीलन, लालचंद्रिका, मतिराम, नागरी दैनंदिनी, हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास खंड ११, मधुमालती

वार्ता, यशवंतसिंह ग्रंथावली, दादूदयाल ग्रंथावली, हिंदी शब्दसागर भाग १, लुगदी और कागज, ध्रुवा, नाटक और यथार्थवाद, नागरीदास ग्रंथावली खंड १ व २, कवि तोष तथा कलानिधि, लक्षणा तथा उसका हिंदी में विकास, नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६६ अं० ३ का मुद्रण होता रहा।

नागरी-मुद्रण ने इस अवधि में सभा की पुस्तकों के अतिरिक्त रसलीन, आकाश विभाजित है तथा विशिष्ट कहानियाँ इन तीन बाहरी पुस्तकों का भी मुद्रण किया।

गोष्ठी, व्याख्यान आदि

इस अवधि के अंतर्गत सभा के तत्वावधान में निम्नांकित आयोजन हुए :

२५ कार्तिक को श्री रघुनाथ सिंह जी, अध्यक्ष जहाजरानी बोर्ड का स्वागत किया गया।

१० पौष को माननीय श्री लालबहादुर जी शास्त्री के करकमलों द्वारा सभा के नवीन भवन का शिलान्यास हुआ।

१७ माघ को आंध्र विद्वान् श्री बालशौरि रेड्डी का स्वागत हुआ।

१ फाल्गुन को 'प्रसाद' जयंती का आयोजन हुआ।

५ फाल्गुन को नेपाल के सांस्कृतिक शिष्टमंडल का स्वागत किया गया।

६ फाल्गुन को भारतीय गणराज्य की भाषासमस्या के संबंध में गोष्ठी हुई।

१४ चैत्र को जयपुर की महारानी श्रीमती गायत्री देवी महोदया का स्वागत हुआ।

६ फाल्गुन को हुई भाषा विषयक गोष्ठी में पारित प्रस्ताव निम्नांकित है :

'वाराणसी के नागरिकों की यह सभा राष्ट्रभाषा हिंदी के विरोध के नाम पर पिछले दिनों दक्षिण भारत के कुछ अंचलों में की गई हिंसात्मक स्वेच्छाचारिता पर अत्यंत क्षोभ और दुःख प्रकट करती है। ऐसी नाजुक परिस्थिति में भी कतिपय राजनीतिज्ञों ने अपने अवांछित प्रयत्नों द्वारा इस स्थिति को उत्तेजना प्रदान की है। राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये कुछ लोग जान बूझकर परिस्थिति को उत्तरोत्तर बिगाड़ने के लिये यत्नशील हैं। अतएव हमारा सभी वर्गों के राजनेताओं से सविनय आग्रह है कि ऐसे अवसरों पर वे बहुत विचारपूर्वक व्यवहार किया करें और ऐसा कोई कदम न उठाएँ जिससे देश में विशृंखलता या विघटन होने की आशंका हो। हिंदीभाषियों को यह सभा बधाई देती है कि ऐसे अवसर पर उन्होंने शांति और सहिष्णुता का व्यवहार किया, दक्षिण भारत की नकल अथवा बदले की भावना का रंचमात्र प्रदर्शन नहीं होने दिया। भारतीय गणतंत्र और उसका स्वीकृत संविधान प्रत्येक देशवासी के लिये श्रद्धा और आदर का पात्र है,

खोज में उपलब्ध हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण [सन् १९०० से १९५५ ई० तक]
दो खंडों में। प्रत्येक खंड लगभग ६७० पृष्ठ।
पूरे कपड़े की जिल्द, रायल आकार में।

मतिरामग्रंथ ... ी के
कवि म ... एवं
कृतित्व ... गया
है। ग्र ... : पर
पाठांतर ... है।
सुंदर

मधुमालती
है।
संयो
में क
जिल्द

ध्रुवा—राय
से सं
ने मू
में त

कवि तोष
रचना
संपा
हुआ

खोज में उपलब्ध हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण [सन् १६०० से १६५५ ई० तक]
दो खंडों में। प्रत्येक खंड लगभग ६७० पृष्ठ।
पूरे कपड़े की जिल्द, रायल आकार में।

मतिरामग्रंथा...
कवि म...
कृतित्व...
है। अ...
पाठांत...
सुदर...

मधुमालती...
है।
सयो...
में म...
जिल्द...

भूषण—रा...
के सं...
में भू...
में य...

कवि तोष...
रचना...
संपाद...
पृष्ठ...